श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह

प्रथम भाग

लेखक मण्डल

१. श्री इन्द्रचन्द्र शास्त्री, एम.ए., न्यायतीर्थ, शास्त्राचार्य वेदान्तवारिधि।

२. श्री रोशनलाल जैन, बी.ए., एल.एल.बी., न्यायतीर्थ, काव्यतीर्थ, सिद्धान्ततीर्थ, विशारद।

३. श्री श्यामलाल जैन, एम.ए., (हिन्दी/अंग्रेजी) न्यायतीर्थ, विशारद।

४. श्री घेवरचन्द बाँठिया, 'वीरपुत्र', सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ, व्याकरणतीर्थ, संकेत लिपि विशारद।

श्री सेठिया जैन ग्रन्थमाला पुष्प नं. ६४

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह

प्रथम भाग

(प्रथम बोल से पाँचवें बोल तक)

(बोल संख्या १ से ४२३ तक)

संग्रहकर्त्ता

श्री भैरोंदान सेठिया

संस्थापक

श्री अगरचन्द भैरोंदान

सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर

प्रकाशक

श्री अगरचन्द भैरोंदान सेठिया

जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर

मरोठी सेठिया मौहल्ला, बीकानेर-३३४००५ (राज.)

प्रथमा आवृति : 1100 प्रतियां (सन् 1940)
द्वितीय आवृति : 1100 प्रतियां (सन् 1942)
तृतीय आवृति : 1100 प्रतियां (सन् 1998)

प्रकाशक :
श्री अगरचन्द भैरोंदान सेठिया,
जैन पारमार्थिक संस्था,
मरोठी सेठिया मौहल्ला,
बीकानेर–334 005 (राज.)
फोन : 0151-2543516

चतुर्थ संस्करण : मार्च, 2005

प्रतियां : 1100

मूल्य : 60.00

मुद्रक :
कल्याणी प्रिण्टर्स,
अलख सागर रोड, बीकानेर

समर्पण

धर्मभूषण, समाजरत्न, दानवीर, श्रेष्ठिवर्य श्री भैरोंदानजी सेठिया ने अपना सम्पूर्ण जीवन ज्ञानवर्धन हेतु समर्पित कर दिया था। ज्ञान, दर्शन, चारित्र की साधना में आप अप्रमत्तभाव से लगे रहे। सुदीर्घकाल तक प्रतिक्षण पारमार्थिक कार्यों एवं शास्त्र मंथन में संलग्न रहकर अथक परिश्रम पूर्वक आपने श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह (आठ भाग) का प्रकाशन करवाया जो जैन इतिहास में चिरस्मरणीय व कीर्तिमानीय है।

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह प्रथम भाग का यह चतुर्थ संस्करण उनकी १३८ वीं जन्म जयन्ती पर उन्हीं की स्मृति रूप में सादर समर्पित।

होली
संवत् २०६१

शांतिलाल सेठिया
मंत्री
श्री अगरचन्द भैरोंदान सेठिया
जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर

प्रकाशकीय

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह--प्रथम भाग के चतुर्थ संस्करण को पाठकों, स्वाध्यायियों, अनुसंधित्सुओं एवं संत–सती वर्ग के हाथों में प्रस्तुत करते हुए असीम प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है। इसके प्रथम व द्वितीय संस्करण क्रमशः सन् १६४० एवं सन् १६४२ में प्रकाशित हुए थे और विगत दो दशकों से इसकी मांग निरन्तर बढ़ती जा रही थी। चिर प्रतीक्षित नव संस्करण निस्संदेह साहित्यिक/ सामाजिक/ धार्मिक क्षेत्र के लिये सुखद हर्ष का विषय है।

सेवा, अध्यवसाय एवं 'भैरव' दान के प्रतीक दृढ़धर्मी सुश्रावक, चिन्तनशील साधक, सच्चे मार्गदर्शक एवं सम्प्रदायातीत विचारक रूप में सुख्यात धर्मभूषण, समाजगौरव, दानवीर सेठ श्री भैरोंदानजी सेठिया मरूधरा के नर--पुंगव थे, जिन्होंने ज्ञान प्रसार, नैतिक जागरण, संस्कार चेतना के विकास में ही नहीं, जन सेवा, राज्य विधायक, न्यायिक व औद्योगिक/वाणिज्यिक क्षेत्र में भी अप्रतिम योगदान देकर स्वयं को अग्र पंक्ति में खड़ा कर दिया है। यह लिखना अतिशयोक्ति नहीं कि आपने समय की शिला पर सशक्त हस्ताक्षर कर अपना नाम इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों में अंकित कर दिया व कालजयी हो गये।

सेठिया सा. लक्ष्मी के वरद पुत्र थे परन्तु सरस्वती के अनन्त उपासक रहे; ज्ञान–पिपासु व स्वाध्याय रसिक रूप में आप बेजोड़ थे। आपने अपने अध्ययन से यह अनुभव किया कि जैन सिद्धान्त, दर्शन, साहित्य, इतिहास एवं वाङ्मय को संग्रहीत कर एक उपयोगी ग्रन्थ का प्रकाशन किया जाय, जो पीढ़ियों तक ज्ञान रश्मियों से अज्ञान तिमिर को ध्वंस करता रहे। एतदर्थ आपने अपने अग्रज श्रीमान् अगरचन्दजी सेठिया के सहयोग से स्थापित श्री अगरचन्द भैरोंदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर में निम्नानुसार पुस्तक प्रकाशन समिति गठित की:–

अध्यक्ष	:	श्री भैरोंदान सेठिया
मंत्री	:	श्री जेठमल सेठिया
उपमन्त्री	:	श्री माणकचन्द सेठिया, साहित्य भूषण

लेखक मण्डलः-

१.श्री इन्द्रचन्द शास्त्री, एम.ए., शास्त्राचार्य, न्यायतीर्थ, वेदान्तवारिधि।
२.श्री रोशन लाल जैन, बी.ए., एल.एल.बी., न्याय/काव्य/सिद्धान्त तीर्थ, विशारद।
३.श्री श्यामलाल जैन, एम.ए. (हिन्दी/अंग्रेजी) न्यायतीर्थ, विशारद।
४.श्री घेवरचन्द सेठिया, 'वीरपुत्र', सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ, व्याकरण तीर्थ एवं हिन्दी शार्ट हेण्ड विशारद

प्रकाशन समिति के वर्षों तक अथक प्रयासों से ही श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग १ से ७ व अनुक्रमणिका (अष्टम भाग) का प्रकाशन मूर्त रूप ले सका।

स्वयं सेठ सा. (बाबूजी नाम से प्रख्यात्) उनके ज्येष्ठ आत्मज श्री जेठमलजी एवं लेखक मण्डल के मूर्धन्य विद्वानों ने इस चुनौतीपूर्ण कार्य को हाथ में लेकर वर्षों तक अलख जगाई और मराठी साहित्य की संख्यात्मक कोश–प्रणाली आधारित इस प्रकल्प को श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह के सात भागों में एक से ५७ बोल तक १०१२ विषयों (भेद–प्रभेद–प्रकार) में ग्रंथित व संगृहीत किया व अकारादिक्रम से एक अनुक्रमणिका (आठवां भाग) तैयार की जिससे अभीष्ट विषय को सम्बन्धित भाग, बोल, पृष्ठ से ज्ञात किया जा सके। वस्तुतः यह एक भागीरथी कार्य था, जिसका प्रणयन कर बाबूजी ने लाखों जिज्ञासुओं के लिए समस्त सूत्रों/शास्त्रों/आर्ष ग्रन्थों आदि को लगभग चार हजार पृष्ठों में प्रस्तुत कर इसे भी सतत–प्रवाही सुरसरि का रूप दे दिया। यह विशेष उल्लेखनीय है कि इसकी भाषा सरल, शास्त्रसम्मत, बोधपरक व सुगठित है। कहीं से किसी शब्द/शब्दों को निकालने पर अर्थ ही नहीं निकल पाता। अन्य शब्दों में कहें तो न्यूनतम शब्दों में अधिकतम ज्ञान उपलब्ध कराकर आपने 'गागर में सागर' भरने की कहावत को सार्थक कर दिया है और परिवर्तित जीवन मूल्यों, देश–काल में भी इसमें संकलित सिद्धान्त आज भी प्रासंगिक व शाश्वत है।

यहां लिखना अप्रासंगिक नहीं कि जैन विश्व कोष के प्रथम सूत्रधार रूप में साहित्यिक, स्वाध्यायी, शोध–छात्र, जिज्ञासुवर्ग आदि सदैव आपके ऋणी रहेंगे क्योंकि नैतिक/आध्यात्मिक शिक्षा के प्रसार, साहित्य संरक्षण/प्रकाशन क्षेत्र में आपका अवदान चिरस्मरणीय है व रहेगा।

ऐसे कालजयी ग्रन्थ का पुनर्प्रकाशन कर संस्था गौरवान्वित है क्योंकि वर्तमान में स्वाध्याय के प्रति निरन्तर रुचि बढ़ रही है और इस स्थिति में इसकी उपादेयता की कभी भी कमी नहीं होगी। इसके प्रणयन में लगनपूर्वक सतत् श्रमसाध्य कार्य करने वाले लेखक महानुभावों के प्रति हम आभारी हैं और बाबूजी के प्रति श्रद्धावनत भी क्योंकि वे स्वयं ग्रन्थालय में उपस्थित रहते व इसकी गति/प्रगति से भिज्ञ रहकर आवश्यक सुझाव भी देते रहते। सन् १६१३ में संस्थापित सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था ने २०० से अधिक ग्रन्थ/सूत्र/थोकड़े/स्तवन संग्रह प्रकाशित कर अग्रणी व अहम् भूमिका का निर्वहन किया है और बोल संग्रह तो अनुपमेय है ही।

प्रस्तुत आवृत्ति के प्रकाशन से पूर्व इसे हुक्मेश शासन के वर्तमान आचार्य श्री नानेश के भावी पट्टधर युवाचार्य श्री रामलालजी म.सा. ने आद्योपान्त अवलोकन कर आवश्यक सुझाव प्रदान करने की महती कृपा की है, एतदर्थ हम हृदय से आभारी हैं।

निवेदक

मोहनलाल सेठिया
अध्यक्ष

शांतिलाल सेठिया
मंत्री

केशरीचन्द सेठिया
कोषाध्यक्ष एवं संयोजक

चेतन प्रकाश सेठिया
सदस्य

रविन्द्र कुमार सेठिया
सदस्य

साहित्य प्रकाशन समिति
(श्री अगरचन्द भैरोंदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था)

—x—x—x—

विषय सूची



स्व. सेठ भैरोंदानजी सेठिया

जन्म : 19 अक्टूबर, 1866

अवसान : 20 अगस्त, 1961

संक्षिप्त जीवनी : दानवीर सेठ भैरोंदानजी सेठिया

बीकाणा के नरपुंगव, समाज भूषण, अदम्य साहस/अनुपम बुद्धि कौशल एवं औदार्य के प्रतीक श्रावक रत्न सेठ श्रीमान् भैरोंदानजी सेठिया से सेठिया परिवार ही नहीं, बीकानेर, राजस्थान तथा समग्र जैन समाज गौरवान्वित है। मरूधरा में शिक्षा–प्रसार, नैतिक/धार्मिक प्रकाशन एवं बहुआयामी सेवा की त्रिवेणी प्रवाहित कर आपने जहां अनुकरणीय आदर्श स्थापित किया वहीं उद्योग–व्यवसाय, लोकोपकारी कार्यों एवं संस्कार चेतना के क्षेत्रों में ऐतिहासिक कीर्तिमानों का सृजन भी किया। साधारण परिस्थितियों में जन्म लेकर आपने श्रमनिष्ठता, लगन, बुद्धि कौशल से सफलता की बुलन्दियां प्राप्त की, कल्पनातीत अर्थोपार्जन किया और मुक्त हस्त से समाज सेवा में इसका सदुपयोग कर समय की शिला पर सशक्त हस्ताक्षर किये।

कस्तूरिया की कस्तूरी-सौरभ

सेठ श्री भैरोंदानजी का जन्म विक्रम संवत् १९२३ विजयादशमी को बीकानेर जिलान्तर्गत कस्तूरिया ग्राम में श्रीमान् सेठ धर्मचन्दजी के घर हुआ। अपने पितृश्री से धर्म परायणता, स्वधर्मी सहयोग एवं समाज सेवा के संस्कार विरासत में प्राप्त कर आपने इन्हें सदैव वृद्धिगत रखा। जीवन के हर क्षेत्र में सफलता अर्जित कर आपने सेठिया कुल का नाम देश–देशान्तर तक फैलाया तो कस्तूरी की सौरभ वत अपने कार्यों की सुरभि से कालजयी बन गये। आपके दो अग्रज–श्रीमान् प्रतापमलजी व श्रीमान् अगरचन्दजी थे एवं अनुज श्रीमान् हजारीमलजी थे। दो वर्ष की आयु में ही आपके पितृश्री का देहावसान हो जाने से आपकी शिक्षा में व्यवधान उपस्थित हो गया और आप नौ वर्ष की आयु में कलकत्ते पधारे। वहां से लौटकर शिवबाड़ी रहने लगे और तदनन्तर अपने अग्रज श्रीमान् अगरचन्दजी के पास बम्बई में रहकर व्यावसायिक ज्ञान प्राप्त किया। साथ ही अंग्रेजी, गुजराती

आदि भाषाएं भी सीखी।

व्यावसायिक प्रतिभा-प्रस्फुटन

बम्बई में सामान्य नौकरी होते हुए भी आपने मितव्ययी जीवन यापन करके कुछ पूंजी संचित करली। इसमें आपकी धर्मपत्नी का पूर्ण सहयोग रहा, जो आदर्श गृहिणी थी; स्वभाव से मुदुल, धर्म परायण एवं श्रद्धानिष्ठ थी। सेठियाजी महत्त्वाकांक्षी थे और उनमें व्यावसायिक प्रतिभा थी अतः संवत् १९४८ में आप कलकत्ते चले गये और वहां मनिहारी तथा रंग की दुकान खोली एवं गोली सूता का कारखाना प्रारम्भ किया। अपने अध्यवसाय, परिश्रमशीलता, नम्रता, वचन की दृढ़ता, स्वभाव माधुर्य, सूझ–बूझ एवं व्यापारिक ज्ञान की बदौलत आपका व्यापार चमक उठा। क्रमशः आपने प्रयास करके बेल्जियम, स्विट्जरलैंड, बर्लिन आदि के रंग के कारखानों की तथा गॉब्लॉज आस्ट्रिया के मनिहारी कारखानों की सोल एजेंसियां प्राप्त कर लीं। फलतः आपका कार्यक्षेत्र विस्तृत हो गया और आपने 'ए.सी.बी. सेठिया एण्ड कम्पनी' नामक फर्म स्थापित करली। दक्ष तथा योग्य कर्मचारियों एवं अपनी प्रतिभा से व्यवसाय निरन्तर वृद्धिगत रहा।

रंग व रसायन क्षेत्र में

अपने व्यवसाय को नवीन आयाम देने हेतु आपने रंग व रसायन क्षेत्र में प्रवेश किया और हावड़ा में 'दी सेठिया कलर एण्ड केमिकल वर्क्स लिमिटेड' नामक रंग का कारखाना खोला, जो भारतवर्ष में रंग का सर्वप्रथम कारखाना था। आप इसके मैनेजिंग डायरेक्टर थे और कारखाने में निर्मित माल की खपत के लिए आपने भारत के प्रमुख नगरों–कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, करांची, कानपुर, देहली, अमृतसर, अहमदाबाद में अपनी फर्म की शाखाएं खोलीं। साथ ही जापान के औसाका नगर में भी आपने ऑफिस खोला और अनेक ट्रैवलिंग एजेन्ट नियुक्त किये, जिससे अधिकाधिक आर्डर मिल सके।

प्रथम विश्वयुद्ध (सन् १९१४) के दौरान भावों में आशातीत वृद्धि हो जाने से आपको रंग के कारखाने में अप्रत्याशित लाभ हुआ। चूंकि आपने श्रावक व्रतों को धारण कर चल अचल सम्पत्ति की मर्यादा कर रखी थी अतः निर्धारित सीमा से वृद्धि होने पर

आपने व्यवसाय से निवृत्त होना प्रारम्भ कर दिया। इधर आपने बीकानेर में 'बी सेठिया एण्ड सन्स' नामक व्यावसायिक प्रतिष्ठान स्थापित किया और सफलता पूर्वक संचालित कर इसे अपने आत्मज श्री पानमलजी को सौंप दिया।

समाज सेवा एवं जन कल्याणकारी कार्य

प्रभूत अर्थोपार्जन के पश्चात् आपने समाज–सेवा क्षेत्र में प्रवेश किया। आपने बीकानेर में सन् १६१३ में धार्मिक पाठशाला, कन्या पाठशाला, सेठिया प्रिन्टिंग प्रेस, सेठिया जैन ग्रन्थालय आदि खोलकर शिक्षा–प्रसार, नैतिक संस्कार जागरण, समाज सेवा का सूत्रपात किया। संवत् १६७८ में आपके अग्रज श्रीमान् अगरचन्दजी अस्वस्थ हो गये थे। उन्होंने आपको कलकत्ते बुलाया और दोनों भाइयों ने समाज में शिक्षा एवं धर्म प्रचार के लिए "अगरचन्द भैरोंदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था" स्थापित करने का निर्णय लिया। कुछ दिनों के अनन्तर चैत्र कृष्णा ११ संवत् १६७८ को श्रीमान् अगरचन्दजी का स्वर्गवास हो गया। तत्पश्चात् श्रीमान् भैरोंदानजी एवं आपके ज्येष्ठ पुत्र श्री जेठमलजी सेठिया (दत्तक पुत्र श्री अगरचन्दजी) ने संस्थाओं के नाम रजिस्ट्री करवाई। कालान्तर में २१ सितम्बर सन् १६४४ को कलकत्ते में नवीन ट्रस्ट-डीड रजिस्टर्ड कराया। इसी क्रम में बीकानेर में धर्माराधना के स्थान की कमी को दृष्टिगत रखकर सेठिया सा. ने दिनांक २१ मार्च १६४६ को सेठिया कोटड़ी की रजिस्ट्री कराई। साथ ही संस्था के कार्यालय को बीकानेर में २८ मार्च १६४६ के ट्रस्ट-डीड द्वारा रजिस्टर्ड कराया।

सतत् प्रवाही भागीरथी : सेठिया संस्था

सेठिया बन्धुओं की दूरदर्शिता का ही परिणाम है कि उन्होंने संस्था के नाम कलकत्ता में अचल सम्पत्ति दान में दी, जिसके किराये व संचित राशि के ब्याज से संस्था निरन्तर गतिमान है। आपके पुत्रों श्रीमान् जेठमलजी सेठिया, श्रीमान् पानमलजी सेठिया, श्रीमान् लहरचन्दजी सेठिया, श्रीमान् जुगराजजी सेठिया, श्रीमान् ज्ञानपालजी सेठिया ने संस्था की सेवा कर पूर्ण योगदान दिया ही सम्प्रति उनके पौत्र–प्रपौत्र आदि भी संस्था के उन्नयन/संचालन हेतु कार्यरत्त हैं।

संस्था द्वारा अब तक पाठशालाओं, छात्रवास, महिलाश्रम, सेठिया नाईट कॉलेज, ग्रन्थालय आदि द्वारा ज्ञान-प्रसार की अलख जगाई है तो सम्प्रति इसकी प्रवृत्तियों (नैतिक/धार्मिक प्रकाशन, होमियोपैथिक औषधालय, ग्रन्थालय, सिद्धान्त शाला, स्वधर्मी सहयोग आदि) द्वारा सेवा, शिक्षण संस्कार, ज्ञान–प्रसार की भागीरथी सतत् प्रवहमान है।

साहित्य संरक्षक एवं धर्मानुरागी

सेठिया सा. लक्ष्मी के वरद् पुत्र थे फिर भी आपने सरस्वती की सदैव उपासना की। संस्था में योग्य एवं विद्वान कर्मचारियों की नियुक्ति कर आपने शिक्षा–प्रसार का महत्त्वपूर्ण कार्य तो किया ही सेठिया जैन ग्रन्थालय में नैतिक, धार्मिक व जैन साहित्य के दुर्लभ, महत्वपूर्ण ग्रन्थों का संकलन भी किया। यह ग्रन्थालय एक ज्ञान तीर्थ है। आप स्वयं धर्म परायण थे और नियमित रूप से सामायिक, स्वाध्याय व अन्य धर्मानुष्ठानों में संलग्न रहते थे। आपने सैंकड़ों थोकड़े, बोल, स्तवन–सज्झाय को संग्रहीत कर उनका प्रकाशन कराया। आपने ज्ञानोपदेश इकावनी, आत्म हित शिक्षा आदि की रचना भी की थी।

अप्रमत्त साधक

आपकी जैनागमों एवं तात्विक ग्रन्थों में विशेष रूचि थी; पुस्तक प्रकाशन समिति गठित कर अपने निर्देशन में आपने श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह नामक विश्वकोश (आठ भाग) प्रकाशित कराया, जो जैन साधकों, सामान्य पाठकों एवं शोधार्थियों के लिए अनुपम ग्रन्थ है। ऐसे सन्दर्भ ग्रन्थ के लिए जैन समाज ही नहीं, साहित्यिक/साधक जगत भी आपका ऋणी है और रहेगा। आप कभी निष्क्रिय नहीं रहे, सदैव अपने समय को ज्ञानार्जन में व्यतीत करते। एक कर्मवीर, धर्मवीर, दानवीर के समन्वित जीवन से आप गृहस्थ योगी बन गये थे। आपकी करुण भावना अत्यन्त श्लाघनीय थी। समाज का कोई व्यक्ति, अभावग्रस्त छात्र या निर्धन उनके पास अपनी समस्या लेकर पहुंचता तो कभी निराश नहीं होता। सचमुच आपने भैरव व्रत साधना और दान कर अपने नाम को सार्थक किया। मुक्त हस्त से दान देना आपका जीवन पाथेय रहा। अनेक सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक, साहित्यिक संस्थाओं के संचालन हेतु आपने जो कार्य किये, इतिहास के पृष्ठ साक्षी हैं।

कुशल नेतृत्व

आपकी दानवीरता, समाज/धर्म की सेवा आदि का सम्मान कर श्री अखिल भारतवर्षीय श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेन्स के कार्यकत्ताओं ने सन् १९२६ में आपको बम्बई में होने वाले सप्तम अधिवेशन का सभापति चुना। आपके नेतृत्व में सम्पन्न यह अधिवेशन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण व सफल सिद्ध हुआ। अपने अध्यक्षीय अभिभाषण में आपने जैन धर्म को विश्वधर्म रूप में प्रतिष्ठित करने की अपील की, जो समयोचित थी और आज भी प्रासंगिक है। अधिवेशन में लिये गये उल्लेखनीय निर्णयों में प्रमुख थे–श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन समाज के हित के लिए अपना जीवन समर्पण करने वाले सज्जनों का एक 'वीर संघ' स्थापित करना, स्थानकवासी जैन शिक्षा प्रचार विभाग की स्थापना, जैन डायरेक्ट्री बनाना एवं तीनों जैन सम्प्रदायों की एक संयुक्त कान्फ्रेंस बुलाना।

जन कल्याण कार्य एवं जन प्रतिनिधि

सेठिया सा. ने जन कल्याण कार्यों–प्रिन्स विजयसिंह मेमोरियल हॉस्पिटल निर्माण, अकाल सहायता एवं पशुधन बचाने हेतु आर्थिक सहयोग प्रदान किया और अग्रणी भूमिका का निर्वहन किया। समाज और धर्म की सेवा के साथ आपने बीकानेर नगर और राज्य की भी उल्लेखनीय सेवांए कीं। लगभग एक दशक तक बीकानेर म्युनिसिपल बोर्ड के कमिश्नर रहने के अनन्तर सन् १९२९ में आप सर्वप्रथम जनता की ओर से सर्व सम्मति से बोर्ड के वाइस–प्रेसिडेन्ट चुने गये।

सन् १९३१ में राज्य सरकार ने आपको ऑनरेरी मजिस्ट्रेट बनाया और आप लगभग सवा दो वर्ष तक बेंच ऑफ आनरेरी मजिस्ट्रेट्स (Bench of Honorary Magistrates) में कार्य करते रहे। उल्लेखनीय है कि आपके फैसले किये हुए मामलों की प्रायः अपीलें ही नहीं हुई। इससे आपकी नीर–क्षीर विवेकिनी न्यायबुद्धि स्वतः प्रमाणित होती है। सन् १९३८ में आप म्युनिसिपल बोर्ड की ओर से बीकानेर लेजिस्लेटिव एसेम्बली के सदस्य चुने गये और आपने निःस्वार्थ भाव से जनता की सेवा की।

औद्योगिक क्षेत्र को अवदान

संयोग की बात है कि सन् १९३० में सेठिया सा. को पुनः

औद्योगिक क्षेत्र में प्रवेश करना पड़ा। बीकानेर में बिजली की शक्ति से चलने वाला ऊन की गांठें बांधने का एक प्रेस योग्य कार्यकर्त्ताओं के अभाव में बन्द पड़ा था। आपने इसे खरीदकर बीकानेर में ऊन व्यवसाय का सूत्रपात किया। जहां कच्चा माल सीधा विलायत निर्यात होता था, बीकानेर में ही व्यवसाय बढ़ता गया। क्रमशः आपने सन् १९३४ में वूल बरिंग फैक्टरी स्थापित की और यहां का माल अमेरिका और लीवरपूल जाने लगा।

राजकीय सम्मान : सामाजिक अभिनन्दन

तत्कालीन अंग्रेज सरकार व बीकानेर के शासक महाराजा श्री गंगासिंहजी द्वारा आपको विशिष्ट सेवाओं, स्वामिभक्ति, प्रजावत्सलता, जनकल्याण कार्यों हेतु सम्मानित किया गया था। दिनांक ६ अक्टूबर १९२७ को सर गंगासिंह बहादुर द्वारा हस्ताक्षरित व मुहर अंकित कर 'खास रुक्के' का सम्मान, ३० सितम्बर १९४१ को कैफियत का सम्मान व रजन छडी/चपरास का सम्मान इसमें मुख्य है।

सामाजिक संस्थाओं द्वारा इन्हें बीकानेर, ब्यावर, कलकत्ता आदि संघों ने धर्म भूषण, समाज रत्न, समाज भूषण आदि उपधियों से विभूषित किया और अभिनन्दित किया। परन्तु आप लोकैषणा से दूर सादगी पूर्ण जीवन में विश्वास करते हुए स्वयं को समाज का सेवक मानते रहे।

आदर्श श्रावक

आपका जीवन धार्मिक विचारों से ओत–प्रोत रहा और आप सांसारिक वैभव में भी निर्लिप्त रहे। आपने श्रावक व्रत अंगीकृत कर मर्यादा पूर्ण व त्याग–प्रत्याख्यान सहित जीवन यापन किया। आवश्यक वस्तुओं के अतिरिक्त १०० रुपयों से अधिक का त्याग कर आदर्श उपस्थित किया था सच्चे श्रावक का।

सदैव कर्मठ, स्वावलम्बी, साहसी, अध्यवसायी व श्रमनिष्ठ रहकर आपने हर क्षेत्र में सफलता के कीर्तिमान स्थापित किये। ऐसे धर्मनिष्ठ आदर्श श्रावक व अनुपम साधक पर बीकानेर गौरवान्वित है। आपका २० अगस्त १९६१ को देहावसान हो गया। पार्थिव रूप में आप भले ही आज विद्यमान नहीं परन्तु आपका यशः शरीर अमर है जो युगों तक समाज की प्रेरणा देता

रहेगा। मानव देह में देवतुल्य, अप्रमत्त साधक, सादा जीवन उच्च विचार को मानने वाले, विराट व्यक्तित्व को शब्दों में बांधना कठिन है।

इतिहास पुरुष

सेवा, शिक्षा–प्रसार, उद्योग–व्यवसाय, सात्विकता, दानवीरता, कर्मशीलता आदि क्षेत्रों में इतिहास सृजित करने वाले 'इतिहास पुरुष' श्री भैरोंदानजी सा. सेठिया सामाजिक, व्यापारिक, औद्योगिक, धार्मिक, शैक्षणिक इतिहासों के पृष्ठों में अमर हैं। ओसवाल जाति का इतिहास, भारतीय व्यापारियों का इतिहास, भारत के व्यापारी, ओसवाल अमरवेल, साधु सम्मेलन का इतिहास, जैन कान्फ्रेंस का इतिहास, कान्फ्रेंस गौरव ग्रन्थ, बीकानेर राज्य में मारवाड़ी वर्ग की भूमिका, रेवेन्यू डिपार्टमेन्ट बीकानेर सन् १६३२ की रिपोर्ट, कार्यवाही राज्यसभा राज्य श्री बीकानेर आदि में समाविष्ट आपकी-जीवन गाथा प्रेरणास्पद व अनुकरणीय है।

—x—x—x—

श्री अगरचन्द भैरोंदान सेठिया

जैन पारमार्थिक संस्था : संक्षिप्त परिचय

शिक्षण, नैतिक आध्यात्मिक ज्ञान-प्रसार, बहुआयामी सेवा एवं संस्कार-चेतना क्षेत्रों में कीर्तिमानीय व स्तुत्य कार्य करने वाले नर-पुंगव सेठिया-बंधुओं (श्री अगरचन्दजी वं श्री भैरोंदानजी) पर बीकाणा, राजस्थान और सेठिया वंश ही नहीं, सम्पूर्ण भारतवर्ष गौरवान्वित है। इस परिवार में जन्मे सेठ श्री धर्मचन्दजी धन्य हैं, जिनके आत्मज–द्वय ने परिश्रम, लगन, निष्ठा व अध्यवसाय से विपुल अर्थोपार्जन तो किया ही, बीकानेर में–**श्री अगरचन्द भैरोंदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था**–रूपी वटवृक्ष का बीजारोपण कर इसे जीवन्त तीर्थ बना दिया। यह एक सुखद व ज्ञातव्य तथ्य है कि इस आत्मनिर्भर संस्था ने अद्यावधि–९० वर्षीय समय-फलक पर अपनी पृथक् पहचान बनाई है और सातत्य का इतिहास सृजित कर अनेक क्षेत्रों में अनुपम व बेजोड़ कार्य किया है तथा भविष्य में भी इस परम्परा को अक्षुण्ण रख कर दिन–ब–दिन उन्नयन हेतु पथारुढ रहेगी।

पृष्ठ भूमि

सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था की स्थापना महज एक संयोग नहीं वरन् इसके पीछे थी सेठिया बन्धुओं की गहन व दूरदर्शी सोच तथा तत्कालीन बीकानेर की परिस्थितियां। श्रीमान् भैरोंदान जी सेठिया स्वयं तत्त्व ज्ञानी थे और बाल वर्ग में संस्कार चेतना जागृत करना उनका ध्येय था। उस समय बीकानेर में जैन पाठशाला के अतिरिक्त कोई अन्य संस्था/पाठशाला नहीं थी, जहां जैन बालकों को धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, प्राकृत व व्यावहारिक ज्ञान मिल सके। आप उत्तराध्ययन सूत्र की निम्नांकित गाथा का महत्त्व पूर्णरूपेण जानते थे, जिसमें कहा गया है कि जैसे डोरे सहित सूई कहीं गिर जाय तो नष्ट नहीं होती या नहीं खोती उसी प्रकार श्रुत ज्ञान युक्त जीव संसार में दिग्भ्रान्त नहीं होता:—

''जहा सूई सुसुत्ता प-डिया वि न विणस्सई।
तहा जीवो ससुत्तो संसारे वि न विणस्सई।।

अतः सन् १९१३ (वि.सं. १९७०) में आपने जैन बाल पाठशाला (Jain National Seminary) की स्थापना की जिसका उद्देश्य धार्मिक और व्यापारिक शिक्षा देकर धार्मिक भावना से पूर्ण सफल व्यापारी व गृहस्थ बनाना था। लगभग एक दशक तक अनवरत कार्य करने के अनन्तर आपने उच्च शिक्षा, नैतिक साहित्य प्रकाशन, समाज सेवा, जन सेवा आदि क्षेत्रों में नये युग का सूत्रपात किया। आपने **''सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था''** का गठन कर इसकी व्यवस्था, सार–संभाल हेतु ट्रस्ट, मैनेजिंग व जनरल कमेटियां नियत कीं। इसके अन्तर्गत सन् १९१५ में प्रकाशन विभाग, १९२१ में कन्या पाठशाला, १९२२ में ग्रन्थ भण्डार, १९२३ में संस्कृत प्राकृत विद्यालय, सन् १९२३ में समाज–सेवा विभाग तथा सन् १९२५ में श्राविकाश्रम की स्थापना हो चुकी थी। सभी विभाग अपने क्षेत्रों में कार्यरत थे परन्तु विधिवत् संस्था के गठन से उनमें स्थायित्व की स्थिति बनी। प्रकाशन के नाम पर तत्कालीन बीकानेर में संस्था ही प्रथम प्रतिष्ठान था, जिसमें सन् १९२४ में सेठिया सा. ने निजी प्रिन्टिंग प्रेस खोला और उसमें नैतिक, धार्मिक, आध्यात्मिक साहित्य का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इसी क्रम में सन् १९२८ में संस्था में सेठिया जैन छात्रावास भी स्थापित कर दिया गया, जिसमें रहकर छात्र नैतिक व धार्मिक संस्कारों के साथ व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करते।

संस्था की स्थापना व इसके उद्देश्य हेतु सेठिया-बन्धुओं की मूर्तियों के नीचे प्रस्तर पट्ट में निम्नानुसार लिखा गया हैः–

वासी बीकानेर के, अगरचन्द कुलचन्द।
नियम व्रत शुद्ध पालते, सेठ धरमसी नन्द।।१।।
वे श्रावक समुदार चित्त, भ्राता भैरवदान।
दोनों ने मिलकर दिया, ज्ञान हेतु धन दान।।२।।
शुभ–संवत् उगणीस सौ, सत्तर ऊपर जान।
संस्था श्री पारमार्थिक, स्थापित की शुभ जान।।३।।

इसी उद्देश्य को संस्कृत भाषा में रूपायित कर अंकित किया गया हैः–

अज्ञानं तमसां पतिं, विदलयन् सत्यार्थमुक्दासयन्।

भ्रान्तान सत्पथ दर्शनेन सुखदे मार्गे सदा स्थापयन्।।
ज्ञानालोक विकासनेन सततं भूलोक मालोकयन्।
बीकाणे अगरचन्द भैरव कृतः पीठः सदा राजनाम्।।

अर्थात् अज्ञान अन्धकार दूर करने, ज्ञानालोक को विकसित करने और सत्पथ पर पथारूढ़ करने हेतु बीकानेर के अगरचन्द भैरोंदान ने एक ज्ञान पीठ की स्थापना की, जो अनवरत ज्ञान का प्रकाश फैलाती रहेगी।

विगत ८५ वर्षों में संस्था द्वारा समय-समय पर आवश्यकतानुसार प्रवृत्तियों का संचालन किया और समाज, बीकानेर, शिक्षा, समाज सेवा, जन कल्याण, ज्ञान-प्रसार, संस्कार निर्माण में कीर्तिमान स्थापित किये। संस्था के कार्य संचालन में श्रीमान् जेठमल जी सा. सेठिया का उल्लेखनीय योगदान रहा। आपने लगभग पांच दशक तक संस्था के मंत्री रहकर निष्ठा व लगन पूर्वक जो बहुआयामी सेवा की वह संस्था के इतिहास में अविस्मरणीय है। आपका सम्पूर्ण जीवन साधनामय रहा। प्रतिदिन नियमित सामायिक व स्वाध्याय आपका जीवन पाथेय रहा। वर्षों तक आपने पं. श्री पन्नालालजी म.सा. के सान्निध्य में सैंकड़ों थोकड़ों को लिपिबद्ध कर उन्हें प्रकाशित कराया। समग्र जैन समाज, स्वाध्यायी वर्ग व शोधकर्मी संस्था के इस कार्य हेतु ऋणी रहेंगे क्योंकि थोकड़ों की पुरा लोक विधा को प्रकाशित करने में संस्था ने ही अग्रणी भूमिका का निर्वहन किया है।

श्रीमान् जेठमल जी सा. सेठिया ने नैतिक/ आध्यात्मिक साहित्य प्रकाशन प्रवृत्ति को गतिमान रखा। ५ मई १९७४ को आपके संथारा पूर्वक देहावसान के पश्चात् १२ मई १९७४ को श्रीमान् जुगराजजी सेठिया संस्था के मंत्री बने। आपने जनवरी ९४ तक संस्था की सेवा की। आपके कार्यकाल में भी साहित्य–प्रकाशन तथा अन्य प्रवृत्तियों का पूर्ण विकास हुआ। अध्यक्ष एवं मंत्री के रूप में भी आपकी सेवाएं उल्लेखनीय हैं। श्री भंवरलालजी सेठिया (आत्मज श्री पानमलजी सेठिया) भी जुलाई १९९२ तक संस्था के अध्यक्ष रहे।

वर्तमान में संस्था के ट्रस्टी व पदाधिकारियों के नाम निम्नानुसार हैं:–

१. श्री मोहनलालजी सेठिया : अध्यक्ष
२. श्री शान्तिलालजी सेठिया : मंत्री
३. श्री केशरीचन्दजी सेठिया : कोषाध्यक्ष एवं संयोजक साहित्य प्रकाशन समिति
४. श्री चेतनप्रकाशजी सेठिया : ट्रस्टी
५. श्री महेन्द्र कुमारजी सेठिया : ट्रस्टी

ज्ञातव्य है कि संस्था को आत्म निर्भर बनाने हेतु संस्थापकों द्वारा संस्था के नाम से कलकत्ता में मकान दान में किये हैं, जिनके किराये की आय से संस्था का खर्च चलता है। यह उनकी दूर दृष्टि थी, जिससे संस्था निरन्तर कार्यरत रह सकेगी।

संस्थापकों द्वारा सेठिया कोटड़ी का दान भी विशेष महत्वपूर्ण है। ज्ञान-ध्यान, तपाराधना, संत सतियांजी के प्रवचन व अन्य धर्मानुष्ठानों हेतु सेठिया कोटडी का दान सेठिया परिवार द्वारा समाज को लाभान्वित करने की दिशा में 'मील का पत्थर' है।

वर्तमान में कार्यरत विभागों का परिचय निम्नानुसार है:–

१. सेठिया जैन होमियोपैथिक औषधालय

बीकानेर में सर्वप्रथम होमियोपैथिक चिकित्सा को प्रारम्भ करने का श्रेय श्रीमान् भैरोंदान जी सेठिया को ही है। जन कल्याण की इस प्रवृत्ति से अद्यतन लाखों व्यक्ति निःशुल्क लाभान्वित हुए हैं। अर्द्धशताब्दी से अधिक अवधि पूर्व स्थापित इस विभाग द्वारा लोकोपकारी क्षेत्र में कीर्तिमानीय कार्य किया गया है।

औषधालय की सेवा द्वारा संस्था का नाम पूरे राज्य सहित अनेक प्रान्तों में ही नहीं विदेशों में भी रोशन हुआ है। यहां निःशुल्क चिकित्सा की जाती है। साथ ही संस्था द्वारा निर्धन व असहाय रोगियों का पथ्य व दूध आदि के लिए आर्थिक सहयोग का भी प्रावधान है। नगर में आज भी इस औषधालय की पृथक् पहचान है। संस्था, इस विभाग द्वारा की गई जन-कल्याण की सेवा से गौरवान्वित है। यह सुखद संयोग है कि वर्तमान मंत्री श्री शांतिलालजी सेठिया स्वयं औषधालय में उपस्थित रहकर रोगियों को चिकित्सा उपलब्ध कराने हेतु सजगता से संलग्न है।

२. सेठिया जैन ग्रन्थालय

बीकानेर के प्राचीन ग्रन्थालयों में संस्था के ग्रन्थालय का विशिष्ट व गौरवपूर्ण स्थान है। इसमें लगभग १८,००० ग्रन्थ, १२०० पत्र-पत्रिकाओं की फाईलें, १८०० हस्तलिखित ग्रन्थ आदि संग्रहीत हैं। ग्रन्थालय में उच्च कोटि के ज्ञान वर्द्धक दुर्लभ ग्रन्थ हैं, जिन्हें न्याय-दर्शन, काव्य-नाटक, उपन्यास-कहानी, इतिहास—पुरातत्व, मनोविज्ञान, चिकित्सा, हिन्दी-संस्कृत-प्राकृत-गुजराती-राजस्थानी —अंग्रेजी, फ्रेंच, अरबी साहित्य, पत्राकार, सन्दर्भ—कोश, गणित आदि विभागों में वर्गीकृत किया गया है। लगभग दो शताब्दियों पूर्व प्रकाशित अनेक अलभ्य ग्रन्थ भी इस ग्रन्थालय को सुशोभित करते हैं। संस्कृत साहित्य, होमियोपैथिक चिकित्सा, जैनधर्म/दर्शन, संस्कृत साहित्य का तो यहां ऐसा भन्डार है कि विद्वानों व अनुसंधिन्सुओं को एक साथ वांछित ग्रन्थ यहां उपलब्ध हो जाते हैं। वेद, उपनिषद्, रामायण, सेक्रेड बुक्स आफ ईस्ट एन्ड वेस्ट, एन्साक्लोपीडिया ब्रिटानिका, हिस्टोरियन्स हिस्ट्री, हिन्दी विश्वकोष, हिन्दी मानक कोष, संस्कृत—प्राकृत कोष, एन्साइक्लोपीडिया ऑफ यूनिवर्सल नॉलेज आदि विशिष्ट ग्रन्थों के सेट अपने आप में अनुपम व बेजोड़ हैं।

विद्वत्जनों व शोधकर्त्ताओं को ग्रन्थालय में बैठकर अध्ययन की सुविधा उपलब्ध है।

३. सेठिया जैन सिद्धान्त शाला

इस विभाग द्वारा विरक्त/मुमुक्षु वर्ग व सन्त मुनिराजों तथा महासतियांजी के अध्यापन की व्यवस्था की जाती है। संस्था को गौरवानुभूति है कि अब तक इस विभाग से शताधिक सन्त—सतियांजी व मुमुक्षु वर्ग लाभान्वित हुए हैं। दीक्षा अंगीकृत करने से पूर्व ज्ञानाभ्यास करने व तदनन्तर समाज को सच्ची दिशा-निर्देशन कर जैन धर्म की प्रभावना करने से उनका योगदान महत्त्वपूर्ण है। इस विभाग द्वारा समय—समय पर पंडित, विद्वान व शिक्षक उपलब्ध कराये जाते हैं ताकि छात्र/संत-सती वर्ग अपनी प्रतिभा को उजागर कर सके, लेखन में प्रवृत्त हो सके और अपनी वक्तृत्व कला का विकास कर सकें। दीप से दीप जलाने का यह कार्य निस्संदेह ज्ञानालोक फैलाने में महती भूमिका है।

४. नैतिक धार्मिक प्रकाशन

संस्था द्वारा प्रकाशन क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान दिया गया है। अब तक लगभग २०० ग्रन्थों (सूत्रों, थोकड़ों, स्तवन संग्रहों आदि) का प्रकाशन मील के पत्थर वत है। कतिपय पुस्तकों की २५ आवृतियां तक प्रकाशित हो जाना इनकी लोकप्रियता को उजागर करता है। संस्था के प्रकाशनों को निम्नांकित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है:–

जैन विश्वकोश–श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग १ से ८ (जैन धर्म, दर्शन, आचार, सिद्धान्तों का प्रमाणिक कोश जो समग्र जैन समाज, श्रमण-श्रमणी वर्ग, साधकों, स्वाध्यायियों एवं शोधार्थियों द्वारा समान रूप से समादृत है।)

जैन आगम सूत्र--नन्दी सूत्र, दशैवकालिक, प्रश्न व्याकरण सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, आचारांग सूत्र (भावार्थ, अन्वयार्थ, सटिप्पण)

थोकड़ा–जैन ज्ञान थोकड़ा संग्रह भा. १ से ५, भगवती सूत्र के थोकड़े भा. १ से ६, पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भा. १ से ३, पच्चीस बोल का थोकड़ा, तैतीस् बोल का थोकड़ा, रूपी अरूपी का थोकड़ा, ज्ञान लब्धि का थोकड़ा, गति आगति का थोकड़ा, १४ गुणस्थान का थोकड़ा, नय प्रमाण का थोकड़ा, छत्तीस बोल।

काव्य/स्तवन/ढाल-सज्झाय–श्रावक स्तवन संग्रह भा. १ से ३, जैन सुबोध स्तवन संग्रह, मांगलिक स्तवन संग्रह भा. १ से २, ज्ञानोपदेश इकावनी, आत्म हितोपदेश, अंजना सती का रास, मुनि गुण सवैया–इकतीसा, प्रार्थना, विविध ढाल संग्रह, जैन जवाहिर पद्य संग्रह, मेरी भावना, हितशिक्षा दोहावली।

जैन धर्म/दर्शन/स्वाध्याय/आराधना–कर्मप्रकृति, आलोयणा, आलोयणा संग्रह, वृहदालोयणा, सामायिक प्रतिक्रमण सूत्र मूल, सामायिक सूत्र सार्थ, प्रतिक्रमण सूत्र, शील रत्न सार संग्रह, ज्ञानमाला नं. १/२, रत्नाकर पच्चीसी, सामायिक तथा नित्य नियम, धर्म बोध संग्रह, महावीर स्तुति, जैनदर्शन, नमिपव्वजा, श्रावक के बारहव्रत विस्तार व संक्षिप्त टीप, पंच कल्याणक टीप, प्रकरण संग्रह भा. २, सम्यक्त्व पराक्रम, सोलह सती, गणधरवाद भा. १ से ३, विनयचन्द चौबीसी, सम्यक्त्व के ६७ बोल, पांच समिति तीन गुप्ति, शालिभद्रजी री लोवड़ी।

विविध—मयणरेहा सती चौपाई, सच्चा दहेज, नैतिक और धार्मिक शिक्षा (प्राइमर) नीतिशिक्षा प्रथम/द्वितीय भाग, शिक्षा संग्रह भा. १ से ३, कर्त्तव्य कौमुदी प्रथम, द्वितीय ग्रन्थ, प्रस्तार रत्नावली, नीति दीपक शतक, जैन सिद्धान्त कौमुदी (अर्द्धमागधी), सूक्ति संग्रह, शिक्षासार संग्रह, अर्द्धमागधी शब्द रुपावलि, अर्द्धमागधी धातु रुपावलि, कन्या कर्त्तव्य शिक्षा, संक्षिप्त कानून संग्रह, हिन्दी बाल शिक्षा प्राईमर व प्रथम से षष्ठ भाग।

सूक्ष्माक्षरी ग्रन्थ—उत्तराध्ययन सूत्र (ब्लॉक) दशवैकालिक सूत्र (ब्लॉक)।

विशेष—जैन सिद्धान्त बोल संग्रह की नवीन आवृत्ति प्रकाशनाधीन है।

पूर्व में प्रकाशित ग्रन्थों/थोकड़ों की नवीन आवृत्तियां प्रकाशित हो रही हैं, जो स्वाध्यायियों, पाठकों एवं साधकों के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। ग्रन्थालय, चिकित्सालय आदि अन्य संस्थाओं द्वारा भी संचालित हैं परन्तु धार्मिक, नैतिक साहित्य का प्रकाशन विरले लोगों ने ही किया है। ज्ञातव्य है कि संस्था अपने प्रकाशनों का मूल्य लागत एवं उससे भी कम रखती है।

सिंहावलोकन

इस तरह कहा जा सकता है कि संस्था की अनेक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियां रही हैं, जिनसे समाज व शिक्षा जगत को उल्लेखनीय योगदान मिला है। इनमें संस्कृत प्राकृत विद्यालय, बाल पाठशाला, कन्या पाठशाला, विद्वत् समाज, श्राविकाश्रम, वर्धमान स्कूल, किंडर गार्टन स्कूल आदि द्वारा संस्था ने शिक्षा प्रसार, ज्ञान–प्रसार व संस्कार चेतना के क्षेत्र में विशेष कार्य किया है। इनके अतिरिक्त सन् १९२९ में बीकानेर में प्रथम कॉलेज--सेठिया नाईट कॉलेज स्थापित किया गया जो लगभग दो दशक तक कार्यरत रहा। उच्च शिक्षा का मार्ग प्रशस्त करने में सेठिया नाईट कॉलेज का अग्रणी स्थान है। इसके माध्यम से हिन्दी व अन्य विश्वविद्यालयों की परीक्षाएं देकर सैंकड़ों छात्रों ने ज्ञानार्जन किया है। सन् १९२८ में संस्थापित सेठिया जैन छात्रावास सन् १९९३ तक कार्यरत रहा। संस्था गौरवान्वित है कि इन दोनों विभागों में अध्ययन कर सैंकड़ों विद्वान, लेखक, पत्रकार, प्रोफेसर, डाक्टर, इंजीनियर तैयार हुए जिन्होंने समाज सेवा, शिक्षण, चिकित्सा,

इंजीनियरिंग क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया व कर रहे हैं। छात्रवृत्ति प्रदान कर भी संस्था ने अनेक छात्रों के जीवन निर्माण में योगदान दिया है।

पूरा विश्वास है कि संस्था निरन्तर कार्यशील रहकर शिक्षा/ ज्ञान प्रसार, जनोपयोगी कार्यों में प्रवृत्त रहकर अपने उद्देश्यों की पूर्ति करती रहेगी।

निवेदक
शांतिलाल सेठिया
मंत्री

सम्मतियाँ

'जैन प्रकाश' (बम्बई ता. १० अक्टूबर १६४०)

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह (प्रथम भाग)।

संग्रहकर्त्ता—भैरोंदानजी सेठिया,

प्रकाशक—सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर, पृष्ठ ५००।

उपरोक्त बोल संग्रह में प्रथम बोल से पांचवें बोल तक संग्रह किया गया है। इस संग्रह से वर्तमान जैन साहित्य में एक बड़ी क्षति की पूर्ति हुई है। इस संग्रह को हम "जैन विश्व कोष" भी कह सकते हैं। प्रत्येक बोल इस खूबी से संग्रह किया गया है कि उस बोल से सम्बन्ध रखने वाले प्रत्येक विषय को इसमें स्पष्ट कर दिया है। प्रत्येक बोल के साथ जैनशास्त्र स्थल का भी संपूर्ण रूप से उल्लेख किया है। अतः जिज्ञासु और विद्यार्थियों के लिये यह संग्रह बहुत ही उपयोगी है।

पक्की जिल्द, बढ़िया कागज और सुन्दर छपाई से पुस्तक को बहुत ही आकर्षक रूप से तैयार किया गया है। इस दृष्टि से मूल्य बहुत कम है।

सेठियाजी ने इसमें जो प्रयास किया है, उसके लिए हम उनको धन्यवाद देते हैं।

'स्थानकवासी जैन' (अहमदाबाद ता. १२-१-१६४१)

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह (प्रथम भाग)

संग्रहकर्त्ता—भैरोंदानजी सेठिया

प्रकाशक—सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर।

पाकुं सोनेरी पुठ्ठुं, डेमी ८ पेजी साइजना पृष्ठ ५००।

जैन फिलासोफी केटली समृद्ध अने संगीन छे तेनो पुरावो आ ग्रन्थ अति संक्षेप मां आपी दे छे। अभ्यासी ने कया विषय पर जाणवुं छे तेनी माहिती अकारादि थी आपेल अनुक्रमणिका पर थी मली रहे छे। उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराजे विद्वत्ता भरी

भूमिका लखी छे।

आज सुधी मां तत्त्वज्ञान विषय ने स्पर्शतां संख्या बन्ध पुस्तकों आ संस्था तरफ थी बहार पड्या छे। तेमां आ एक नो सुन्दर उमेरो करी संस्थाए जैन समाजनी सुन्दर सेवा बजावी छे।

श्रीमान् सेठ भैरोंदानजी सा. ७२ वर्ष नी वयना वृद्ध होवा छतां तेओनी उदारता अने जैन धर्म प्रत्येनी अभिरुचि अने प्रेम केटलो छे ते तेमना आ संग्रह शोख थी जणाइ आवे छे। जैन समाजना अनेक धनिको पैकी मात्र ५–५० जो जैन साहित्य ना शोखीन निकले तो जैन साहित्य रूप बगीचो नव पल्लवित बनी जाय तेमां सन्देह न थी। श्री सेठियाजी ने तेमना आवा जैन तत्त्व ज्ञान प्रत्येना प्रेम बदल धन्यवाद घटे छे।

आ ग्रन्थ मां आत्मा, समकित, दण्ड, जम्बूद्वीप, प्रदेश परमाणु, त्रस, स्थावर, पांच ज्ञान, श्रुतचारित्र धर्म, इन्द्रियाँ, कर्म, स्थिति, कार्य्य, कारण, जन्म, मरण, प्रत्याख्यान, गुणस्थान, श्रेणी, लोग, वेद, आगम, आराधना, वैराग्य, कथा, शल्य, ऋद्धि, पल्योपम, गति, कषाय, मेघ, वादि, पुरुषार्थ, दर्शन वगेरे संख्या बन्ध विषयों भेद–उपभेदों अने प्रकारो थी सविस्तर वर्णवामां आव्या छे। आ ग्रन्थ पाठशालाओं मां अने अभ्यासियों मां पाठ्यपुस्तक तरीके खूबज उपयोगी नीवड़ी शके तेम छे।

श्री साधुमार्गी जैन पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय का हितेच्छु श्रावक मण्डल रतलाम का निवेदन पत्र (मिति पौष शुक्ला १५, सं. १९९७)

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह (प्रथम भाग)

संग्रहकर्त्ता–भैरोंदानजी सेठिया, बीकानेर

प्रकाशक–सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर।

पुस्तक श्रीमान् सेठ सा. की ज्ञान जिज्ञासा का प्रमाण स्वरूप है। पुस्तक के अन्दर वर्णित सैद्धान्तिक बोलों की संग्रहशैली एवं उनका विवरण बहुत सुन्दर रीति से दिया गया है। भाषा भी सरल एवं आकर्षक है। पुस्तक के पठन–मनन से साधारण मनुष्य भी जैन तत्त्वों का बोध सुगमतापूर्वक कर सकता है। पुस्तक का कद एवं जिल्द की सुन्दरता देखते हुए न्योछावर नाम मात्र है। प्रत्येक जैन

को तात्त्विक बोध करने के लिए उपयोगी है। सेठ सा. की तत्त्वरुचि और तत्त्वप्रचार की भावना प्रशंसनीय है। आपने साहित्य प्रचार में अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग बहुत किया व कर रहे हैं।

Dr. Banarsi Das Jain M.A. (Punjab) Ph.D. (London)

Lecturer, Oriental College, Lahore, 7-2-41

It has given me much pleasure to go through the, book 'Shri Jain Siddhanta Bol-Sangarah' Part-I compiled by Sri Bhairodan Sethia of Bikaner. Sethia Ji is a veteran student of Jainism being a practical follower of the teachings of Lord Mahavira. He is, thus, fully competent for the task he has undertaken. The book which is a mine of information about Jain doctrines is planned on the model of the 'Thananga Sutra' where in the fundamental categories are grouped together according to the number of their sub-divisions. Consequently the Thananga Sutra is the chief source for the greater part of the book. The present part covers categories and principles comprising one to five sub-divisions. It consists of 423 Bols or formulas.

The Bol-vichar or exposition of these formulas forms the bed rock of the Jain Siddhanta on which alone a sure structure of Jain studies can be built. For this reason the book will prove highly useful to students of Jain philosophy. Sethia Ji has rendered great service to the cause of Jainism by writing this book and has thereby put Jain scholars under a deep debt of gratitude.

The subject-index attached to the volume has greatly enhanced its value.

I am eagerly awaiting the other parts of the work.

बनारसीदास जैन एम.ए., पी.एच.डी.

युनिवर्सिटी लेक्चरर, ओरिएण्टल कॉलेज, लाहोर

बीकानेर निवासी श्री भैरोंदानजी सेठिया द्वारा संकलित

'श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह' का प्रथम भाग पढ़कर मुझे बड़ा हर्ष हुआ। सेठियाजी भगवान् महावीर के सच्चे अनुयायी और जैन दर्शन के पुराने अभ्यासी हैं। इसलिए अपने हाथ में लिए हुए काम के वे पूर्ण अधिकारी हैं। पुस्तक जैन सिद्धान्त विषयक सूचनाओं की खान है इसकी विषय व्यवस्था ठाणांग सूत्र के अनुसार की गई है, जहाँ सभी विषय उनके उपभेदों की संख्या के अनुसार इकट्ठे किए गये हैं। इसके फलस्वरूप पुस्तक का अधिक भाग ठाणांग सूत्र से लिया गया है। इस भाग में एक से लेकर पाँच भेदों वाले पदार्थ एवं सिद्धान्त तथा ४२३ बोल सन्निहित हैं।

बोलों का विचार या इन सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण जैन दर्शन का आधार स्तम्भ है। जैन साहित्य का विशाल प्रासाद इन्हीं पर खड़ा किया जा सकता है। इस कारण से यह पुस्तक जैन दर्शन के अभ्यासियों के लिए बहुत लाभदायक सिद्ध होगी। यह पुस्तक लिखकर सेठियाजी ने जैन साहित्य की बहुत बड़ी सेवा की है और जैन विद्वानों को सदा के लिए अपना ऋणी बना लिया है।

पुस्तक के साथ लगी हुई विषय सूची ने इसकी उपयोगिता को बहुत बढ़ा दिया है।

मैं इसके दूसरे भागों की उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा हूँ।

भारतभूषण, शतावधानी पण्डित रत्न मुनि श्री १००८ श्री रत्नचन्द्रजी महाराज

श्रावक वर्ग में साहित्य प्रचार करने के क्षेत्र में जितनी लगन सेठियाजी 'श्री अगरचंदजी भैरोंदानजी' सा. में दिखाई देती है, उतनी लगन अन्य किसी में क्वचित् ही दिखाई देती होगी।

अभी उन्होंने एक–एक बोल का क्रम लेकर शास्त्रीय वस्तुओं का स्वरूप बताने वाली एक पुस्तक तैयार करने के पीछे अपनी देखरेख के अन्दर अपने पण्डितों द्वारा "श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह" के प्रथम भाग को तय्यार करवाने में जो अथाह परिश्रम उठाया है, वह अति प्रशंसनीय है। एक बोल से पाँच बोल तक का विभाग बिल्कुल तैयार हो गया है। उस विभाग का अवलोकन तथा सुधार करने के लिए पं. पूर्णचन्द्रजी दक अजमेर

तथा पालनपुर आकर उसे आद्योपान्त सुना गए हैं।

संक्षेप से पुस्तक जैनदृष्टि से बहुत ही उपयोगी है। जैन शैली तथा जैन तत्त्वों को समझने के लिए जैन तथा जैनेतर दोनों को लाभप्रद होगी।

ता. ३–७–४० पं. वसन्ती लाल जैन
घाटकोपर CèO उत्तमलाल कीरचन्द
(बम्बई) लाल बंगला, घाटकोपर।

जैन धर्म दिवाकर, जैनागम रत्नाकर, साहित्य रत्न, जैन मुनि श्री १००८ उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज (पंजाबी)

श्रीमान् पं. श्यामलालजी बी.ए. प्रस्तुत ग्रन्थ को दिखाने यहाँ आये थे। मैंने तथा मेरे प्रिय शिष्य पं. हेमचन्द्रजी ने ग्रन्थ का भली भाँति पर्यवेक्षण किया।

यह ग्रन्थ अतीव सुन्दर पद्धति से तैयार किया है। आगमों से तथा अन्य ग्रन्थों से बहुत ही सरस एवं प्रभावशाली बोलों का संग्रह हृदय में आनन्द पैदा करता है। साधारण जिज्ञासु जनता को इस ग्रन्थ से बहुत अच्छा ज्ञान का लाभ होगा। प्रत्येक जैन विद्यालय में यह ग्रन्थ पाठ्यपुस्तक के रूप में रखने योग्य है। इससे जैन दर्शन सम्बन्धी अधिकांश ज्ञातव्य बातों का सहज ही में ज्ञान हो जाता है।

श्रीमान् सेठियाजी का तत्त्वज्ञान सम्बन्धी प्रेम प्रशंसनीय है। लक्ष्मी के द्वारा सरस्वती की उपासना करने में सेठियाजी सदा ही अग्रसर रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन करके सेठजी ने इस दिशा में सराहनीय उद्योग किया है।

ता. २७–६–१६४० जैन मुनि उपाध्याय आत्माराम
(पञ्जाबी)
लुधियाना (पञ्जाब) लुधियाना।

'स्थानकवासी जैन' अहमदाबाद ता. ४-१-१६४१

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह द्वितीय भाग छट्ठा और

सातवाँ बोल। संग्रहकर्त्ता–शेठ भैरोंदानजी शेठिया, जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर। पाकुं पुठुं, मोटी साईज, पृष्ठ संख्या ४७५।

जैन आगमो माँ (१) द्रव्यानुयोग (२) गणितानुयोग (३) कथानुयोग अने (४) चरणकरणानुयोग एवा चार विभागो पाडवा मां आव्या छे तेमां सौथी प्रथम द्रव्यानुयोग छे जेनुं जाणपणुं श्रावक साधु वर्गे सौथी प्रथम करवानुं होय छे। अे जाणपणा पछीज बीजा विषय मां दाखल थतां ज्ञान विकास थाय छे। द्रव्यानुयोगएटले जैन धर्म नुं तत्त्वज्ञान। तत्त्वज्ञान ना फेलावा माटे शक्य प्रयत्नो करवा जोईए।

श्रीमान् शेठ भैरोदानजी जैन तत्त्वज्ञान जाणवा अने जनता ने जणाववा केटला उत्सुक छे ते आ प्रकाशन पर थी जणाय छे। तेओए प्रथम भाग प्रसिद्ध करी अेक थी पांच बोल सुधीनुं वृतान्त अगाउ आप्युं हतुं।

आजे छठा अने सातवां बोल नुं वृत्तान्त आ ग्रन्थ द्वारा अपाय छे। आ पुस्तक ने पांच भाग मां पूर्ण करवा इच्छा राखेल, पण जैन ज्ञान भंडार समृद्ध होवा थी जेम जेम वधारे अवलोकन थतुं जाय छे तेम तेम वधारे रत्नो सांपडता जता होई हवे धारवा मां आवे छे के कदाच पूर्ण करतां दश भाग पण थाय।

ठाणांग सूत्र मां १–२–३–४–५ अेवा बोलो नजरे पड़े छे पण ते संपूर्ण न होई शेठियाजी अे महा परिश्रम द्वारा अनेक विद्वान् साधुओं अने अनेक सूत्रो, भाष्यो, टीका अने चूर्णीवाला आगमो नो आश्रय लई बने तेटला वधु बोलो संग्रहवानो श्रम सेव्यो होइ आ ग्रन्थ मात्र ६ अने ७ अेम बे ज बोल मां ४५० पृष्ठ मां पूरो कर्यो छे।

जैन धर्मनी माहीति मेलववा इच्छनार आ ग्रन्थ नुं बारीकाइ थी अवलोकन करे तो ते मोटी ज्ञान सम्पत्ति मेलवी शके।

बोल ने टुंकाववा न इच्छतां स्वरूप पण दर्शाव्युं होइ ओछा जिज्ञासु ने पण वांचवानी प्रेरणा थाय छे। परदेशी राजा ना छ प्रश्नो, छ आरा, बौद्ध, चार्वाक, सांख्यादि छ दर्शनो नुं स्वरूप, मल्लिनाथादि सात जणे साथे दीक्षा लीधेल तेनुं वृत्तान्त, सात निन्हव, सप्तभंगी वगेरे अेक पछी अेक अेवी अनेक रसिक अने तात्त्विक बाबतो जाणवानी सहज उत्कंठा थई आवे छे।

आवा प्रयास नी अनिवार्य आवश्यकता छे अने तेथी ज

तेनुं गुर्जर भाषा मां अनुवाद करवा मां आवे तो अति जरूर नुं छे। साथे साथे दरेक धार्मिक पाठशाला मां आ ग्रन्थ पाठ्य पुस्तक तरीके चलाववा जेवुं छे। एटलुं ज नहीं पण अमे मानीए छीये के कोलेज मां भणातां जैन विद्यार्थियों माटे पण युनीवरसीटी तरफ थी मान्य थाय अे इच्छवा योग्य छे।

श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय भट्टारक श्रीमज्जैनाचार्य व्याख्यान वाचस्पति विजययतीन्द्र सूरीश्वरजी महाराज साहेब (ता. २-१-४२)

सर्वज्ञप्ररूपित जैनागम सूत्र सागर में आत्म हितकारक बोल–रत्नों का संग्रह अगाध है, उनका पार पाना शक्ति से परे हैं। सेठियाजी ने उन में से चुन कर कुछ उपयुक्त बोलों का संग्रह 'श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह' नाम से खण्डशः प्रकाशित करना आरम्भ किया है। उसका तीसरा भाग हमारे सामने हैं, जो प्रथम, द्वितीय भाग से कुछ अधिक बड़ा है। इसमें आठ, नव और दस बोलों का संग्रह है। यह विशेष रुचिकर है। सरलता एवं अपनी सज धज में यह अद्वितीय है। सेठ़ियाजी का यह प्रयत्न सराहनीय है। भविष्य में साहित्यिक दृष्टि से सर्व साधारण को विशेष लाभकारक होगा।

अनेकान्त, सरसावा, अक्टूबर १६४२

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह–प्रथम भाग, द्वितीय भाग,
संग्रहकर्त्ता–भैरोंदानजी सेठिया, बीकानेर।
प्रकाशक–सेठिया पारमार्थिक संस्था, बीकानेर।
पृष्ठ संख्या प्रथम भाग ५१२, द्वितीय भाग ४७५

इस ग्रन्थ में आगमादि ग्रन्थों पर से सुन्दर वाक्यों का संग्रह हिन्दी भाषा में किया हुआ है। दोनों भागों के बोलों (वाक्यों) का संग्रह ५६८ है। ये बोल संग्रह श्वेताम्बर साहित्य के अभ्यासियों तथा विद्यार्थियों के लिए बड़े काम की चीज है। ग्रन्थ उपयोगी और संग्रह करने योग्य है।

सेठिया भैरोंदानजी, बीकानेर ने अपनी स्थावर सम्पत्ति का ट्रस्ट बालपाठशाला, विद्यालय, नाइट कॉलेज, कन्या पाठशाला,

ग्रन्थालय और मुद्रणालय, इन छः संस्थाओं के नाम कर दिया है। उसी फंड से प्रस्तुत दोनों भागों का प्रकाशन हुआ है आपकी यह उदार वृत्ति और लोकोपयोगी कामों में दान की आम रुचि सराहनीय तथा अन्य धनिक श्रीमानों के लिए अनुकरणीय है।

परमानन्द जैन शास्त्री

जैन प्रकाश बम्बई, तारीख १७ जनवरी १६४२ शनिवार

जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग १, २, ३ प्रथम भाग पृ. सं. ५३०, द्वितीय भाग पृ. सं. ४७५, तृतीय भाग पृ. सं. ४८८,

संग्रहकर्त्ता–श्री भैरोंदानजी सेठिया

प्रकाशक–अगरचंद भैरोंदान सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर

जैन समाज श्रीयुत् सेठियाजी के नाम से भलीभांति परिचित है। इस समय वे वयोवृद्ध है। घर का भार पुत्रों को सौंप कर वे सदा धर्मकार्यों में रत रहते हैं। यह ग्रन्थ उनके लम्बे समय के साधु समागम और शास्त्राभ्यास का परिणाम है। प्राचीन काल में ग्रन्थ रचना की एक विशिष्ट पद्धति थी जिसके अनुसार संख्याक्रम से तत्त्वों का संग्रह किया जाता था। ठाणांग सूत्र आदि इसके नमूने हैं। बोल संग्रह की रचना भी इसी पद्धति पर हुई है। पहिले भाग में पांच संख्या तक के ४२३ तत्त्वों का, दूसरे भाग में ६ और ७ संख्या वाले १४० तत्त्वों का और तीसरे भाग में २०६। कुल मिलाकर तीनों भागों में ७६६ तत्त्वों का समावेश है। ग्रन्थ की सामग्री आगमों से ली गई है मगर श्री सेठिया जी ने तत्त्वों की विशद् व्याख्याएं की है। इस प्रकार ये ग्रन्थ तत्त्वों की Directory के रूप में बन जाने से जिज्ञासुओं के लिए बड़े सहायक सिद्ध होंगे। अन्य भाग भी शीघ्र प्रकाशित होने वाले हैं।

इन ग्रन्थों के कद और उपयोगिता को देखते हुए मूल्य बहुत ही कम रक्खा गया है। यह प्रशंसनीय वस्तु है, इसका कारण सेठियाजी की धर्मवृत्ति के अतिरिक्त और क्या हो सकता है। वे तत्त्वाभिलाषी और जिज्ञासु हैं उसी प्रकार अन्य जिज्ञासु बन्धुओं की जिज्ञासा तृप्ति के भी उत्सुक हैं। यही कारण है कि उनकी आर्थिक सहायता से बीकानेर में कई पारमार्थिक संस्थाएं वर्षों से

चल रही हैं। उसी के द्वारा यह प्रकाशन कार्य भी हो रहा है। इन सभी धर्म प्रवृत्तियों के लिए जैन समाज श्री सेठियाजी का ऋणी है और रहेगा। सभी लायब्रेरियों, संस्थाओं और तत्त्वचिन्तकों के पास ऐसे उपयोगी ग्रन्थों का होना अनिवार्य है।

स्थानकवासी जैन, अहमदाबाद ता. २२-१-४२

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, तृतीय भाग।

संग्रहकर्त्ता–भैरोंदानजी शेठिया।

प्रकाशक–श्री शेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर।

पाकुं पुंठु, पृष्ठ संख्या ४६०।

शेठिया जैन ग्रंथमाला नुं आ १०० मुं पुष्प छे तेथी जणाय छे के श्री शेठियजीअे जैन साहित्यनी वृद्धि मां पोतानो अमर फालो आप्यो छे अने हजु आ पता रहे अेम आपणे ईच्छीअे। तेओनुं अेक अेक पुष्प जैन साहित्य बगीचा मां सुवास रेड़े छे अेक कहवुं जोइअ।

श्री ठाणांग सूत्रना बोल संग्रह नुं बीजुं पुस्तक आप्या बाद टुंक समय मां ज आ त्रीजुं पुस्तक जैन समाज ने जोवा मले छे अे आनंदनो विषय छे। आजनीमोंघवारीअे पुस्तकमां जणाव्या प्रमाणे पड़तर करतां ओछी कीमत राखी छे अे तेनी विशिष्टता छे।

प्रथम ना बे भाग मां १ थी ७ बोलो नुं विवरण आपवामां आव्युं हतुं। आ ग्रंथ मां ८–६ अने १० अेम त्रण वधु बोलोनुं विवरण आप्युं छे। आमां साधु समाचारी साथे संबंध धरावती संख्या बंध बाबतो आवेली छे। साथे–साथे मनुष्य भवना दशा दृष्टांतो, विस्तृत आठ कर्मावली (शंका समाधान साथे), दश श्रावको नुं व़र्णन वगेरे मुमुक्षु माटे वैराग्य प्रेरक छे। अे उपरान्त रत्नावली आदि विविध तपो कोठाओ द्वारा समजाववा मा आव्या छे। छपाई काम, कागल अने गेटअप स्वच्छ अने आकर्षक छे। प्रयास अति आवकारपात्र छे। बीजा भागो शीघ्र प्रगटे एम इच्छीए।

श्री सौधर्म बृहत्तपागच्छीय भट्टारक श्री मज्जैनाचार्य व्याख्यान वाचस्पति विजयतीन्द्र सूरीश्वरजी महाराज साहेब, बागरा (मारवाड़)

बीकानेर निवासी सेठ भैरोंदानजी सेठिया का संगृहीत 'श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह' का प्रथम और द्वितीय भाग हमारे सन्मुख है। प्रथम भाग में नम्बर १ से ५ और द्वितीय भाग में ६ और ७ बोलों का संग्रह है। प्रत्येक बोल का संक्षेप में इतनी सुगमता से स्पष्टीकरण किया है कि जिसको आबाल वृद्ध सभी आसानी से समझ सकते हैं। जैन वाङ्मय के तात्विक विषय में प्रविष्ट होने और उसके स्थूल रूप को समझने के लिए सेठियाजी का संग्रह बड़ा उपयोगी है। विशेष प्रशंसास्पद बात यह है कि बोलों की सत्यता के लिए ग्रन्थों के स्थान निर्देश कर देने से इस संग्रह का सन्मान और भी अधिक बढ़ गया है। सम्पूर्ण संग्रह प्रकाशित हो जाने पर यह जैन संसार में ही नहीं, सारे भारतवासियों के लिये समादरणीय और शिक्षणीय बनने की शोभा को प्राप्त करेगा। अस्तु। हिन्दी संसार में एतद्विषयक संग्रह की आवश्यकता इसने पूरी की है। तारीख १५–६–१६४१।

सिंध (हैदराबाद) सनातन धर्म सभा के प्रेसीडेन्ट, न्याय संस्कृत के प्रखर विद्वान् तथा अंग्रेजी, जर्मन, लैटिन, फ्रेंच आदि बीस भाषाओं के ज्ञाता श्री सेठ किशनचन्दजी, प्रो. पुहुमल ब्रदर्स

'श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह' के दोनों भाग पढ़कर मुझे अपार आनन्द हुआ। जैन दर्शन के पाठकों के लिए ये पुस्तकें अत्यन्त उपयोगी हैं। पुस्तक के संग्रहकर्त्ता दानवीर श्री भैरोंदानजी सेठिया तथा उनके परिवार का परिश्रम अत्यन्त सराहनीय है। इस रचना से सेठियाजी ने जैन साहित्य की काफी सेवा की है। श्रावण शुक्ला १० संवत १६६८।

सेठ दामोदरदास जगजीवन, दामनगर (काठियावाड़)

आपकी दोनों पुस्तकें मैं आद्यन्त देख गया। आपने बहुत प्रशंसा पात्र काम उठाया है। ये ग्रन्थ ठाणांग समवायांग के माफिक खुलासा (Reference) के लिए एक बड़ा साधन पाठक और पंडित दोनों के लिए होगा।

बहुत दिन से मैं इच्छा कर रहा था कि पारिभाषिक शब्दों का एक कोष हो। अब मेरे को दीखता है कि उस कोष की जरूरत इस ग्रन्थ से पूर्ण होगी।

साथ–साथ टीका में से जो अर्थ का अवतरण किया है उसमें पंडितों ने दोनों भाषाओं और भावों पर अच्छी प्रभुता होने का परिचय कराया है। ता. १७–६–४१

श्री पूनमचन्दजी खींवसरा सन्मानित प्रबन्धक श्री जैन वीराश्रम ब्यावर और आविष्कारक एल.पी.जैन संकेतलिपि (शार्टहैण्ड)

बोल संग्रह नामक दोनों पुस्तकें देखकर अति प्रसन्नता हुई। शास्त्र के भिन्न–भिन्न स्थलों में रहे हुए बोलों का संग्रह करके सर्व साधारण जनता तक जिनवचन रूप अमृत को पहुंचाने का जो प्रयत्न आपने किया है वह बहुत प्रशंसनीय है। हरेक आदमी शास्त्रों का पठन–पाठन नहीं कर सकता लेकिन इन पुस्तकों के सहारे अवश्य लाभ उठा सकता है।

बोर्डिंग व पाठशाला आदि से विद्यार्थियों को योग्य बनाने के सिवाय सर्व साधारण जनता को जिन प्ररूपित तत्व ज्ञान रूप अमृत पिलाने का जो प्रयत्न आपने किया है यह भी जैन धर्म के प्रचार के लिए आपकी अपूर्व सेवा है। १८–१०–४१

डाक्टर बनारसीदास M.A., Ph.D. प्रोफेसर ओरियन्टल कॉलेज, लाहोर

पुस्तक प्रथम भाग की शैली पर हैं। छः दर्शन तथा सात नय का स्वरूप सुन्दर रीति से वर्णन किया गया है। बोल संग्रह एक प्रकार की फिलोसोफिकल डिक्सनरी है। जब सब भाग समाप्त हो जांय तो उनका एक जनरल इन्डेक्स पृथक् छपना चाहिये जिससे संग्रह को उपयोग में लाने की सुविधा हो जाय। ता. २५–८–४१।

पं. शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, न्यायतीर्थ, मुख्याध्यापक श्री जैन गुरुकुल, ब्यावर।

'श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह' द्वितीय भाग प्राप्त हुआ। इस कृपा के लिए अतीव आभारी हूँ। इस अपूर्व संग्रह को तैयार करने में आप जो परिश्रम उठा रहे हैं वह सराहनीय तो है ही, साथ ही जैन सिद्धान्त के जिज्ञासुओं के लिए आशीर्वाद रूप भी है। जिस में जैन सिद्धान्तशास्त्रों के सार का सम्पूर्ण रूप से समावेश हो सके ऐसे संग्रह की अत्यन्त आवश्यकता थी और उसकी पूर्ति आप श्रीमान् द्वारा हो रही है। आपके साहित्य प्रेम से तो मैं खूब परिचित हूँ, पर ज्यों–ज्यों आपकी अवस्था बढ़ती जाती है त्यों–त्यों साहित्य प्रेम भी बढ़ रहा है, यह जान कर मेरे प्रमोद का पार नहीं रहता।

मेरा विश्वास है, बोल संग्रह के सब भाग मिल कर एक अनुपम और उपयोगी चीज़ तैयार होगी।

श्री आत्मानन्द प्रकाश, भावनगर।

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह प्रथम भाग,
संग्रहकर्त्ता–भैरोंदानजी सेठिया।
प्रकाशक–सेठिया जैन पारमार्थिक संस्था, बीकानेर।

आ ग्रन्थ मां ४२३ विषयों के जे चारे अनुयोग मां बहेंचायेला छे ते प्रायः आगमग्रन्थों ना आधार पर लखायेला छे अने सूत्रोनी सादतो आपी प्रामाणिक बनावेल छे। पछी अकारादि अनुक्रमणिका पण शुरुआत मां आपी जिज्ञासुओना पठन–पाठन मां सरल वनावेल छे। आवा ग्रन्थों थी वाचको विविध विषय नुं ज्ञान मेलवी शके छे। आवो संग्रह उपयोगी मानीए छीए अने मननपूर्वक वाँचवानी भलामण करीए छीए जे सुन्दर टाइप अने पाका बाईडींग थी तैयार करवा मां आवेल छे।

पुस्तक ३८ मुं, अंक ८ मो, मार्च। विक्रम सं. १९९७ फाल्गुण।

–x–x–x–

आभार

सर्वप्रथम मैं भारत भूषण, पण्डित रत्न, शतावधानी मुनि श्री रत्नचन्द्रजी महाराज, जैनधर्म दिवाकर, साहित्य रत्न उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज तथा परम प्रतापी पूज्य श्री हुक्मीचन्द्रजी महाराज की सम्प्रदाय के आचार्य्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के सुशिष्य पं. मुनि श्री पन्नालालजी महाराज (ऊंटाला वाले) इन धर्म गुरुओं का आभारी हूँ, जिन्होंने कृपापूर्वक अपना अमूल्य समय देकर इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति का अवलोकन करके उचित और उपयोगी परामर्श प्रदान किए हैं। इन पूज्य मुनिवरों के इस हस्तलिखित प्रति को पढ़ जाने के बाद मुझे इस ग्रन्थ के विषय में विशेष बल प्रतीत होने लगा है और मैं इतना साहस संचित कर सका हूँ कि अपने इस प्रयास को निस्संकोच भाव से पाठकों के सामने रख सकूँ। अतएव यदि पाठकों की ओर से भी उक्त मुनिराजों के प्रति आभार प्रदर्शन करूँ तो सर्वथा उचित ही होगा।

इस ग्रन्थ के प्रणयन में मैं तो उपलक्ष्य मात्र हूँ। इसके लेखन, संपादन, संकलन, अनुवाद, अवलोकन, विवेचन और व्याख्यान आदि का अधिकांश प्रत्यक्ष कार्य तो उदयपुर निवासी श्रावक श्रीयुत् पं. रोशनलालजी चपलोत, बी.ए., न्यायतीर्थ, काव्य तीर्थ, सिद्धान्त तीर्थ, विशारद का किया हुआ है। इनके इस कार्य में मेरा भाग मार्ग प्रदर्शन भर का रहा है। इस अमूल्य और साङ्गोपाङ्ग सहायता के लिए यदि मैं उन्हें धन्यवाद देने की प्रथा का अनुसरण करूँ तो वह उनके सहयोग का उचित पुरस्कार न होगा। इसलिए यहाँ मैं केवल उनके नाम का उल्लेख करके ही अग्रसर होता हूँ। इसी प्रकार इस ग्रन्थ के प्रथम और द्वितीय बोल के सम्पादन में कानोड़ (मेवाड़) निवासी सुश्रावक पं. श्रीयुत् पूर्णचन्द्रजी दक, न्यायतीर्थ का सहयोग मुझे सुलभ रहा है। उनके विस्तृत शास्त्रीय ज्ञान और उनकी अनुशीलन–प्रिय विद्वत्ता का लाभ उठाने से ग्रन्थ की उपयोगिता बढ़ गई है। अतः श्री पूर्णचन्द्रजी को उनके अमूल्य

सहयोग के लिए धन्यवाद देना मेरा कर्त्तव्य है।

पंजाब प्रान्त के कोट--इसा--खां निवासी श्रावक पं. श्यामलालजी जैन, बी.ए., न्यायतीर्थ, विशारद का भी समुचित सहयोग रहा है। श्रीयुत् भीखमचन्दजी सुराणा, बी.ए. ने भी इस कार्य में सहयोग दिया है। अतः दोनों महाशयों को मेरा धन्यवाद है।

श्रीमान् पं. इन्द्रचन्द्रजी शास्त्री, शास्त्राचार्य, वेदान्त वारिधि, न्यायतीर्थ, एम.ए., ने इस ग्रंथ की पाण्डुलिपि का परिश्रमपूर्वक संशोधन किया है। उनका अल्पकालीन सहयोग ग्रन्थ को उपयोगी, विशद और सामयिक बनाने में विशेष सहायक है।

उपरोक्त सज्जन सेठिया विद्यालय के स्नातक हैं। उन से इस तरह का सहयोग पाकर मुझे अपार हर्ष हो रहा है। अपने लगाये हुए पौधे के फूलों की सुगन्ध से किस माली को हर्ष नहीं होता ?

पुस्तक तय्यार होने के कुछ दिन पहले "श्री जैन वीराश्रम ब्यावर" के स्नातक श्रीयुत् पं. घेवरचन्द्रजी बाँठिया 'वीरपुत्र' जैन न्यायतीर्थ, व्याकरण तीर्थ, जैन सिद्धान्त शास्त्री का सहयोग प्राप्त हुआ। उनके प्रयत्न से इस ग्रन्थ का शीघ्र प्रकाशन सुलभ हो गया। अतः उन्हें मेरा धन्यवाद है।

श्रीमान् पं. सच्चिदानन्दजी शर्मा, साहित्य शास्त्री, ज्योतिर्विद का भी मैं अनुगृहीत हूँ। जिन्होंने इस ग्रन्थ में आए हुए ज्योतिष सम्बन्धी बोलों का अवलोकन और उपयोगी परामर्श प्रदान किया है।

चिरञ्जीव जेठमल सेठिया ने भी इस ग्रन्थ की हस्त--लिखित प्रति का आद्योपान्त अवलोकन करके जहां--तहां आवश्यक संशोधन किये।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ के प्रणयन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मुझे जिन--जिन विद्वानों की सम्मतियों और ग्रन्थ कर्त्ताओं के ग्रन्थों से लाभ हुआ है उनके प्रति मैं विनम्र भाव से कृतज्ञ हूँ।



जैन धर्म दिवाकर पंडितप्रवर उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज ने पुस्तक का आद्योपान्त अवलोकन करके आवश्यक संशोधन किया है। परम प्रतापी पूज्य श्री हुक्मीचन्दजी महाराज के षष्ठ पट्टधर पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज के सुशिष्य मुनि श्री

पन्नालालजी महाराज ने भी देशनोक चातुर्मास में तथा बीकानेर में पूरा समय देकर परिश्रमपूर्वक पुस्तक का ध्यान से निरीक्षण किया है। बहुत से नए बोल तथा कई बोलों के लिए सूत्रों के प्रमाण भी उपरोक्त मुनिवरों की कृपा से प्राप्त हुए हैं। इसके लिए उपरोक्त मुनिवरों ने जो परिश्रम उठाया है, अपना अमूल्य समय तथा सत्परामर्श दिया है उसको कभी भुलाया नहीं जा सकता। उनके उपकार के लिए हम सदा ऋणी रहेंगे।

जिस समय पुस्तक का दूसरा भाग छप रहा था, हमारे परम सौभाग्य से परम प्रतापी आचार्यप्रवर श्री श्री १००८ पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज साहेब तथा युवाचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज साहेब का अपनी विद्वान् शिष्य मण्डली के साथ बीकानेर में पधारना हुआ। पूज्य महाराज साहेब, युवाचार्य जी म.सा. तथा दूसरे विद्वान् मुनियों द्वारा दूसरे भाग के संशोधन में भी पूर्ण सहायता मिली थी। तीसरे भाग में भी पूज्य श्री तथा दूसरे विद्वान् मुनियों द्वारा पूरी सहायता मिली है। पुस्तक के छपते-छपते या पहले जहां भी संदेह खड़ा हुआ या कोई उलझन उपस्थित हुई तो उसके लिए आपकी सेवा में जाकर पूछने पर आपने सन्तोषजनक समाधान किया।

उपरोक्त गुरुवरों का पूर्ण उपकार मानते हुए इतना ही लिखना पर्याप्त समझते हैं कि आपके लगाए हुए धर्मवृक्ष का यह फल आप ही के चरणों में समर्पित है।

इनके सिवाय जिन सज्जनों ने पुस्तक को उपयोगी और रोचक बनाने के लिए समय-समय पर अपनी शुभ सम्मतियां और सत्परामर्श प्रदान किये हैं अथवा पुस्तक के संकलन, प्रूफ-संशोधन या कापी आदि करने में सहायता दी है उन सब का हम आभार मानते हैं।



द्वितीयावृत्ति के सम्बन्ध में

श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री १००८ श्री हस्तीमलजी महाराज साहेब की सम्प्रदाय के वयोवृद्ध मुनि श्री सुजानमलजी महाराज साहेब के सुशिष्य पंडित मुनि श्री लक्ष्मीचन्द्रजी महाराज साहेब ने इसकी प्रथमावृत्ति की छपी हुई पुस्तक का आद्योपान्त उपयोगपूर्वक

अवलोकन करके कितने ही शंकास्थलों के लिए श्रीमान् छीतरमलजी कोठारी, अजमेर द्वारा हमें सूचित करवाया है। इस पर उन स्थलों का शास्त्रों के साथ मिलान कर इस द्वितीयावृत्ति में यथास्थान संशोधन कर दिया गया है। अतः हम उपरोक्त मुनिश्री के आभारी हैं।



इस भाग के निर्माण एवं प्रकाशन काल में दिवंगत परम प्रतापी जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज एवं वर्तमान पूज्य श्री गणेशीलालजी महाराज साहब अपने विद्वान् शिष्यों के साथ भीनासर एवं बीकानेर विराजते थे। समय--समय पर पुस्तक का मेटर आप श्रीमानों को दिखाया गया है। आप श्रीमानों की अमूल्य सूचना एवं सम्मति से पुस्तक की प्रामाणिकता बहुत बढ़ गई है। इसलिये यह समिति आप श्रीमानों की चिरकृतज्ञ रहेगी। श्रीमान् मुनि बड़े चाँदमलजी महाराज साहेब, पण्डित मुनि श्री सिरेमलजी एवं जवरीमलजी महाराज साहेब ने भी पुस्तक के कतिपय विषय देखे हैं इसलिये यह समिति उक्त मुनियों के प्रति भी अपनी कृतज्ञता प्रकट करती है। इस पुस्तक के प्रारम्भिक कुछ बोल श्रीमान् पन्नालालजी महाराज साहेब को दिखाने के लिए रतलाम भेजे थे। वहाँ उक्त मुनि श्री एवं श्रीमान् बालचन्दजी सा. ने उन्हें देखकर अमूल्य सूचनाएँ देने की कृपा की है अतः हम आपके भी पूर्ण आभारी हैं।



द्वितीयावृत्ति के सम्बन्ध में

शास्त्रमर्मज्ञ पंडित मुनि श्री पन्नालालजी म.सा. ने इस भाग का दुबारा सूक्ष्मनिरीक्षण करके संशोधन योग्य स्थलों के लिये उचित परामर्श दिया है। अतः हम आपके आभारी हैं।

वयोवृद्ध मुनि श्री सुजानमलजी म.सा. के सुशिष्य पं. मुनि श्री लक्ष्मीचन्दजी म.सा. ने इसकी प्रथमावृत्ति की छपी हुई पुस्तक का आद्योपान्त उपयोगपूर्वक अवलोकन करके कितने ही शंका स्थलों के लिये सूचना की थी। उनका यथास्थान संशोधन कर दिया गया है। अतः हम उक्त मुनि श्री के आभारी है।



श्रीमान् जैनाचार्य पूज्य श्री १००७ श्री गणेशीलालजी महाराज साहब ने महती कृपा फरमाकर, हमारी प्रार्थना से इस भाग के कतिपय बोल सुनने की कृपा की है। आपकी अमूल्य सूचनाओं से हमें विशेष ज्ञान लाभ हुआ है। अतएव हम पूज्य श्री का परम उपकार मानते हैं। श्रीमान् मुनि श्री १००७ श्री बड़े चाँदमलजी महाराज साहब श्री घासीलालजी महाराज साहब तथा अन्य मुनिवरों ने भी कई एक बोल सुनने की कृपा की है। बोलों के सम्बन्ध में आप श्रीमानों ने भी हमें अमूल्य सूचनाएं देकर अनुगृहीत किया है। अतएव श्रीमानों के प्रति भी यह समिति कृतज्ञता प्रकाश करती है। आप मुनिवरों की कृपा का यह फल है कि हम पुस्तक को विशेष उपयोगी एवं प्रामाणिक बना सके हैं।



जैनधर्म दिवाकर पण्डितप्रवर उपाध्याय श्री आत्मारामजी महाराज तथा शास्त्रज्ञ मुनि श्री पन्नालालजी महाराज ने यथासम्भव बोलों का निरीक्षण करके अपनी अमूल्य सम्मतियाँ दी हैं। यथास्थान संशोधन या सूचना करके पुस्तक को उपयोगी बनाने में पूरा परिश्रम उठाया है। इसके लिए हम और पुस्तक से लाभ उठाने वाले सभी सज्जन उनके सदा आभारी रहेंगे।

परम प्रतापी जैनाचार्य पूज्य श्री जवाहरलालजी महाराज तथा युवाचार्य मुनि श्री गणेशीलालजी महाराज के अपनी विद्वान् शिष्य मंडली के साथ बीकानेर या भीनासर विराजने से भी हमें बहुत लाभ प्राप्त हुआ है। मुनि श्री सिरेमलजी महाराज तथा मुनि श्री जंवरीमलजी महाराज ने भी बोलों को शुद्ध, प्रामाणिक और अधिक उपयोगी बनाने में पूरा सहयोग दिया है। इसके लिए हम उनके सदा ऋणी रहेंगे।



द्वितीयावृत्ति के सम्बन्ध में

हम श्रीमान् दुर्लभजी रूपचन्दजी गांधी के अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने सं. २००४ में सिन्ध हैदराबाद और बम्बई में रहते हुए भागों के सुधारने में उचित सम्मतियाँ प्रदान की हैं।

श्रीमज्जैनाचार्य पूज्य श्री हस्तीमलजी म.सा. के सुशिष्य बड़े लक्ष्मीचन्दजी म.सा. ने अजमेर चातुर्मास में बड़े परिश्रम से

आवश्यक संशोधन कराया, अतः हम उन्हें धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकते।

शास्त्रज्ञ पं. मुनि श्री पन्नालालजी महाराज ने सं. २००५ में बीकानेर के चातुर्मास में सब भागों का दुबारा बड़े परिश्रम से संशोधन कर के सूक्ष्म निरीक्षण के साथ उचित परामर्श दिया, अतः हम आपके आभारी हैं।

चिरंजीव जेठमल सेठिया ने भी इस ग्रन्थ को दुबारा देखकर आवश्यक संशोधन किया है।

इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ के प्रणयन में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मुझे जिन-जिन विद्वानों की सम्मतियाँ और ग्रन्थ कर्त्ताओं की पुस्तकों से लाभ हुआ है उनके प्रति मैं विनम्र भाव से कृतज्ञ हूँ।

वूलन प्रेस बिल्डिंग्स
बीकानेर

निवेदक
भैरोंदान सेठिया

—x—x—x—

दो शब्द

"श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह" नामक ग्रन्थ का प्रथम भाग पाठकों के सामने रखते हुए मुझे विशेष हर्ष हो रहा है। इसे तय्यार करने में मेरा मुख्य उद्देश्य था आत्म संशोधन। वृद्धावस्था में यह कार्य मुझे चित्त शुद्धि, आत्मसन्तोष और धर्म ध्यान की ओर प्रवृत्त करने के लिए विशेष सहायक हो रहा है। इसी के श्रवण, मनन और परिशीलन में लगे रहना जीवन की विशेष अभिलाषा है। इसकी यह आंशिक पूर्ति मुझे असीम आनन्द दे रही है। ज्ञान प्रसार और पारमार्थिक उपयोग इसके आनुषंगिक फल हैं। यदि पाठकों को इससे कुछ भी लाभ हुआ तो मैं अपने प्रयास को विशेष सफल समझूँगा। प्रस्तुत पुस्तक मेरे उद्दिष्ट प्रयास का केवल प्रारम्भिक अंश है। इस प्रथम भाग में भी एक साल का समय लग गया है। दूसरा भाग भी शीघ्र ही प्रकाशित करने की अभिलाषा है। पाठकों की शुभ कामना का बहुत बड़ा बल अपने साथ लेकर ही मैं इस कार्य भार को वहन कर रहा हूँ। बीकानेर वूलन प्रेस के सामायिक भवन में इस सद्विचार का श्रीगणेश हुआ था और वहीं इसे यह रूप प्राप्त हुआ है। उद्देश्य, विषय और वातावरण की पवित्र छाप पाठकों पर पड़े बिना न रहेगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

संवत् १९७२ तथा १९७६ में 'छत्तीस बोल संग्रह' नामक ग्रंथ के प्रथम भाग और द्वितीय भाग क्रमशः प्रकाशित हुए थे। पाठकों ने उन संग्रहों का यथोचित आदर किया। अब भी उनके प्रति लोगों की रुचि बनी हुई है। वे संग्रह ग्रंथ भी वर्षों के परिश्रम का फल थे और अनेक सन्त मुनिराजों से सुन कर एवं धार्मिक ग्रंथो के अनुशीलन के पश्चात् संग्रहीत हुए थे और विशेषतः उनका आधार प्रसिद्ध स्थानाङ्ग सूत्र और समवायाङ्ग सूत्र थे। उक्त सूत्र एवं अन्य ग्रंथों की शैली पर रचित होने पर भी हम उस संग्रह को सर्वाङ्ग पूर्ण नहीं कह सकते। वे हमारे प्रथम प्रयास थे और उनमें

अनुभव की इतनी गहराई न थी। परन्तु उस समय के समाज को देखते हुए वे समय से पूर्व की कहे जायँ तो कोई अत्युक्ति न होगी। आज समाज के ज्ञान का स्तर उस समय की अपेक्षा ऊँचा हो गया है। इसीलिए प्रस्तुत ग्रंथ शैली आदि की दृष्टि से, 'छत्तीस बोल संग्रह' का अनुगामी होते हुए भी कुछ विशेषताओं से सम्बद्ध है। यह अन्तर कुछ तो बढ़े हुए अनुभव के आधार पर है, कुछ वर्तमान समाज की बढ़ती हुई ज्ञान पिपासा को तदनुरूप तृप्त करने के लिए और कुछ साधनों की सुविधा पर है जो इस बार सौभाग्यवश पहले से अधिक प्राप्त हो सकी है।

इस बार जितने भी बोल संग्रहीत हुए हैं। प्रायः सभी आगम एवं सिद्धान्त ग्रंथों के आधार पर लिखे गए हैं।

बोलों के आधारभूत ग्रंथों का नामोल्लेख भी यथास्थान कर दिया गया है। ताकि, अन्वेषण प्रिय पाठकों को संदर्भ के लिए इधर उधर खोजने में विशेष परिश्रम न करना पड़े। बोलों के साथ ही आवश्यक व्याख्या और विवेचन भी जोड़ दिया गया है। इस विस्तार को हमने इसलिए उपयोगी और महत्वपूर्ण समझा है कि पुस्तक सार्वजनिक और विशेष उपयोगी हो सके। बोलों के संग्रह, व्याख्यान और विवेचन में मध्यस्थ दृष्टि से काम लिया गया है। साम्प्रदायिकता को छोड़कर शास्त्रीय प्रमाणों पर ही निर्भर रहने की भरसक कोशिश की गई है। इसीलिये ऐसे बोलों और विवेचनों को स्थान नहीं दिया है जो साम्प्रदायिक और एक देशीय हैं। आशा है प्रस्तुत ग्रंथ का दृष्टिकोण और विवेचन शैली उदार पाठकों को समयोपयोगी और उचित प्रतीत होंगे।

प्रत्येक विषय पर दिए गए प्राचीन शास्त्रों के प्रमाण जैनदर्शन का अनुसन्धान करने वाले तथा दूसरे उच्च कक्षा के विद्यार्थियों के लिए भी विशेष उपयोगी सिद्ध होंगे। बोलों का वृहत् संग्रह उनके लिए 'जैन विश्वकोष' का काम देगा। साधारण स्कूल तथा पाठशालाओं के अध्यापक भी विद्यार्थियों के लिए उपयोगी तथा प्रामाणिक विषय चुनने में पर्याप्त लाभ उठा सकेंगे। उनके लिए यह ग्रंथ एक मार्गदर्शक और रत्नों के भण्डार का काम

देगा। साधारण जिज्ञासुओं के लिए तो इसकी उपयोगिता स्पष्ट ही है।

ग्रन्थ में आए हुए विषयों की सूची बोलों के नम्बर देकर अकाराद्यनुक्रमणिका के अनुसार प्रारम्भ में दे दी गई है। इस से पाठकों को इच्छित विषय ढूँढने में सुविधा होगी।

चूँकि इस पुस्तक की शैली में संख्यानुक्रम का अनुसरण किया गया है। इसलिए पाठकों को एक ही स्थान पर सरल एवं सूक्ष्म भाव तथा विचार के बोलों का संकलन मिलेगा, परन्तु इस दशा में यह होना स्वाभाविक ही था। इस कठिनाई को हल करने के लिए कठिन बोलों पर विशेष रूप से सरल एवं विस्तृत व्याख्याएँ दी गई हैं। कठिन और दुर्बोध विषयों को सरल एवं सुबोध करने के प्रयत्न में संभव है भावों में कहीं पुनरुक्ति प्रतीत हो, परन्तु यह तो जान बूझ कर पाठकों की सुविधा के लिए ही किया गया है।

ये शब्द इसलिये लिखे जा रहे हैं कि प्रेमी पाठकों को मेरे प्रयास के मूल में रही हुई भावना का पता लग जाय और वे जान लें कि जहां इसमें आत्मोन्नति की प्रेरणा है वहीं लोकोपकारी प्रवृत्ति भी है। ग्रंथ के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह पाठकों को अपने परिश्रम का आभास करा कर प्रभावित करने के लिए नहीं अपितु इस धार्मिक अनुष्ठान का समुचित आदर करने के लिए है। यदि वे मेरे इस कार्य से किंचिन्मात्र भी आध्यात्मिक स्फूर्ति का अनुभव करेंगे तो लोक कल्याण की भावना को इससे भी सुन्दर और आध्यात्मिक साहित्य मिल सकेगा।

"श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह" में 'बोल' शब्द साधारण पाठकों को एक देशीय प्रतीत होगा, किन्तु शास्त्रों में जहाँ स्थान शब्द है, खड़ी बोली और संस्कृत में जहाँ अंक या संख्या शब्द दिए जाते हैं, वहीं जैन परम्परा में "बोल" शब्द प्रचलित है। प्राकृत और संस्कृत न जानने वाले पाठक भी इससे हमारा उद्दिष्ट अभिप्राय सरलता से समझ सकेंगे। इसी लिए और शब्दों की अपेक्षा इसको विशेषता दी गई है और इस ग्रन्थ में "बोल" शब्द का ही प्रयोग किया गया है।

इस ग्रंथ को शुद्ध और प्रामाणिक बनाने के लिए भरसक कोशिश की गई है। फिर भी मान्व सुलभ त्रुटियों का रह जाना सम्भव है। यदि सहृदय पाठक उन्हें सूचित करने की कृपा करेंगे तो आगामी संस्करण में सुधार ली जाएँगी। इसके लिए मैं उनका विशेष अनुगृहीत रहूँगा।

वूलन प्रेस, बीकानेर
आषाढ़ शुक्ला ३, संवत १९९७
ता. ८ जुलाई १९४० ई.

निवेदक
भैरोंदान सेठिया

—x—x—x—

भूमिका

इस अनादि संसार चक्र में प्रत्येक आत्मा—अपने अपने कर्मों के अनुसार सुख और दुःख का अनुभव कर रहा है। किन्तु जो आत्मिक आनन्द है, उससे वञ्चित ही है। कारण कि आत्मिक आनन्द क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव पर ही निर्भर है सो जब तक आत्मा उक्त भावों की ओर लक्ष्य नहीं करता अर्थात् सम्यक्तया उक्त भावों में प्रविष्ट नहीं होता तब तक आत्मा को आत्मिक आनन्द की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। इसलिये आगमों में विधान किया गया है कि जब तक आत्मा को चार अंगों की प्राप्ति नहीं होती तब तक आत्मा मोक्ष की भी प्राप्ति नहीं कर सकता। जैसे कि:—

चत्तारी परमंगाणि, दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियम्।।१।।

(उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३ गाथा १)

इस गाथा का यह भाव है कि प्रत्येक आत्मा को चार अंगों की प्राप्ति होना दुर्लभ है। वे चार अंग ये हैं:—मनुष्यत्व, श्रुति, श्रद्धा, और संयम में पुरुषार्थ। जब ये सम्यक्तया प्राप्त हो जाय तब निस्सन्देह उस जीव की मुक्ति हो जाती है। उक्त गाथा में मनुष्यत्व के अनन्तर ही श्रुति शब्द दिया गया है। इस में प्रायः आत्मविकास का कारण श्रुत ज्ञान ही मुख्य कारण प्रतिपादन किया है।

श्रुत ज्ञान के विषय

शास्त्रों में पांच ज्ञानों में से परोपकारी सिर्फ श्रुत ज्ञान को ही प्रतिपादन किया है। इस के नन्दी सूत्र में चतुर्दश भेद कथन किए गए हैं। वे भेद जिज्ञासुओं के अवश्य ही द्रष्टव्य हैं। उपयोगपूर्वक कथन करता हुआ श्रुत केवली भगवान् की शक्ति के तुल्य हो जाता है तथा श्रुत ज्ञान के अध्ययन करने से आत्मा स्व—विकास और परोपकार करने की शक्ति उत्पन्न कर लेता है, इतना ही नहीं किन्तु सम्यग्श्रुत के अध्ययन से सम्यग् दर्शन को

भी उत्पन्न कर सकता है। जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्र के २८ वें अध्ययन की २१ वीं व २३ वीं गाथा में वर्णन किया है:–

जो सुत्तमहिज्जन्तो, सुण्ण ओगाहई उ संमत्तं।
अंगेण वाहिरेण वा, सो मुत्तरुइ त्ति नायव्वो ।।२१।।
सो होइ अभिगम रुई, सुय नांण जेण अत्थओ दिट्ठं।
इक्कारस अंगाइं, पइण्णगं दिट्ठिवाओ य ।।२३।।

इन गाथाओं का यह भाव है कि अंग सूत्र वा अंगबाह्य सूत्र तथा दृष्टिवाद अथवा प्रकीर्णक ग्रन्थों के अध्ययन से सूत्र रुचि और अभिगम रुचि उत्पन्न हो जाती है। जो सम्यग् दर्शन के ही उपभेद हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ विषय

सम्यग् दर्शन की प्राप्ति के लिये ही "श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह" अर्थात् प्रस्तुत ग्रन्थ निर्माण किया गया है।

कारण कि शास्त्रों में चार अनुयोगों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है जो कि मुमुक्षु आत्माओं के लिये अवश्यमेव पठनीय है। जैसे कि:–चरण करणानुयोग, धर्म कथानुयोग, गणितानुयोग, द्रव्यानुयोग। इस ग्रन्थ में चार अनुयोगों का यथा स्थान बड़ी सुन्दर रीति से संग्रह किया है तथा प्रत्येक स्थान अपनी अनुपम उपमा रखता है। जैसे एक स्थान में ऐसे बोलों का संग्रह किया गया है जो सामान्य रूप से एक ही संख्या वाले हैं। जैसे–सामान्य रूप से आत्मा एक है क्योंकि उपयोग लक्षण आत्मा का निज गुण है। वह सामान्य रूप से प्रत्येक जीव में रहता है। जिस द्रव्य में उपयोग लक्षण नहीं है उसी द्रव्य को अनात्मा वा अजीव द्रव्य कहते हैं। कारण कि प्रत्येक पदार्थ की सिद्धि उसके द्रव्य गुण और पर्याय से की जाती है। प्रथम स्थान में बड़ी सुन्दर शैली से आगमों से वा आगमों के अविरुद्ध ग्रंथों से एक–एक बोल का संग्रह किया गया है।

द्वितीय अंक में दो–दो बोलों का संग्रह है। उसमें सामान्य और विशेष वा पक्ष, प्रतिपक्ष बोलों का संग्रह है। जैसे–जीव और अजीव, पुण्य और पाप, बन्ध और मोक्ष इत्यादि। इसी प्रकार हेय, ज्ञेय और उपादेय से सम्बन्ध रखने वाले अनेक बोल संग्रह किये गये हैं। स्थानाङ्ग सूत्र के द्वितीय स्थान में उपादेय का वर्णन करते

हुए कथन किया है कि दो स्थानों से युक्त आत्मा आदि संसार चक्र से पार हो जाता है जैसे कि:—

दोहिं ठाणेहिं अणगारे सम्पन्ने अणदिणं अणवयग्गं दीहमद्धं चाउरंत संसार कंतारं वीतिवतेज्जा, तं जहा विज्जाए चेव चरणेण वा।

(द्वितीय स्थान उद्देश प्रथम सूत्र ६३)

इस सूत्र का यह भाव है कि दो स्थानों से युक्त अनगार अनादि संसार चक्र से पार हो जाता है। जैसे कि विद्या से और चारित्र से। यह सूत्र प्रत्येक मुमुक्षु के मनन करने योग्य है क्योंकि इस सूत्र से जातिवाद और कुल—वाद का खण्डन स्वयमेव हो जाता है अर्थात् जाति और कुल से कोई भी संसार चक्र से पार नहीं हो सकता। जब होगा विद्या और चारित्र से होगा। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में शिक्षाप्रद वा ज्ञातव्य आगमों से उद्धृत कर संग्रह किया गया है जो अवश्य पठनीय है।

तीन—तीन के बोल संग्रहों में बड़े ही विचित्र और शिक्षाप्रद बोलों का संग्रह है। इसलिए ज्ञान संपादन के लिए प्रस्तुत ग्रंथ का अवश्य ही स्वाध्याय करना चाहिए। स्थानाङ्ग सूत्र के तृतीय स्थान के चतुर्थ उद्देशे के २१७ वें सूत्र में लिखा है कि:—

तिविहे भगवया धम्मे पण्णते तंजहा:—सुअधिज्झिते सुज्झातिते सुतवस्सिते। जया सुअधिज्झितं भवति तदा सुज्झातियं भवति जया सुज्झातियं भवति तदा सुतवस्सियं भवति। से सुअधिज्झिते सुज्झातिते सुतवसिते सुतक्खातेणं भगवया धम्मे पण्णत्ते।

(सूत्र २१७)

इस सूत्र का यह भाव है कि श्री भगवान् ने धर्म तीन प्रकार से वर्णन किया है। जैसे कि भली प्रकार से पठन करना, फिर उसका ध्यान करना, फिर तप करना अर्थात् आचरण करना। क्योंकि जब भली प्रकार से गुरु आदि के समीप पठन किया होता है तब ही सुध्यान हो सकता है। सुध्यान होने पर ही फिर भली प्रकार से आचरण किया जा सकता है। अतः पहले पठन करना फिर मनन करना और फिर आचरण करना। यही तीन प्रकार से श्री भगवान् ने धर्म वर्णन किया है। इससे भली भाँति सिद्ध हो जाता है कि श्री भगवान् का प्रथम धर्म अध्ययन करना ही है। सो सम्यग् सूत्रों का अध्ययन किया हुआ आत्मविकास का मुख्य हेतु

होता है।

यह प्रस्तुत ग्रन्थ विद्यार्थियों के लिये उपयोगी होने पर भी विद्वानों के लिये भी परमोपयोगी है और इसमें बहुत से बोल उपादेय रूप में भी संग्रहीत किये गए हैं। जैसे कि श्रावक की तीन अनुप्रेक्षाएं। स्थानाङ्ग सूत्र तृतीय स्थान के चतुर्थ उद्देशे के २१० वें सूत्र में वर्णित की गई हैं। जैसे कि:—

तिहिं ठाणेहिं समणोवासते महानिज्जरे महापज्जवसाणे भवति। तंजहाः—(१) कयाणमहमप्पं वा बहुयं वा परिग्गहं परिचइस्सामि (२) कया णं अहं मुंडे भवित्ता आगारातो अणगारितं पव्वइस्सामि (३) कया णं अहं अपच्छिम मारणंतियं संलेहणा झूसणा झूसिते भत्तपाण पडियातिक्खते पाओवगते कालं अणवकंखमाणे विहरिस्सामि। एव स मणसा स वयसा स कायसा पागड़माणे (जागरमाणे) समणोवासते महाणिज्जरे महापज्जवसाणे भवति

(सूत्र २१०)

इस पाठ का भावार्थ यह है कि श्रावक तीन अनुप्रेक्षाओं द्वारा कर्मों की निर्जरा करके संसार चक्र से पार हो जाता है। जैसे कि:—

श्रावक मन, वचन और काया द्वारा निम्नलिखित तीन अनुप्रेक्षाएं सदैव करता रहे अर्थात् तीन मनोरथों की सदैव काल शुद्ध अन्तःकरण से भावना भाता रहे। जैसे कि:—

(१) कब मैं अल्प वा बहुत परिग्रह का परित्याग करूँगा अर्थात् दान दूँगा।

(२) कब मैं मुण्डित होकर घर से निकल अनगार वृत्ति ग्रहण करूँगा।

(३) कब मैं अशनादि का त्याग कर पादोपगमन अनशन द्वारा समाधि मृत्यु की प्राप्ति करूँगा।

ये तीन मनोरथ श्रमणोपासक के लिये सदैव काल उपादेय हैं।

प्रथम मनोरथ में अल्प वा बहुत परिग्रह का त्याग विषय कथन किया है। किन्तु मूल सूत्र में आरम्भ का उल्लेख नहीं है इससे दान ही सिद्ध होता है क्योंकि हेम कोश के द्वितीय देव काण्ड के पचास और इक्कावन श्लोक में दान शब्द के १३ नाम

दिये गये हैं। जैसे कि:—

दानमुत्सर्जनं त्यागः, प्रदेशनविसर्जने।
विहायितं वितरणं, स्पर्शनं प्रतिपादनम् ।।५०।।
विश्राणनं निर्वपणमपवर्जनमंहतिः।

दान धर्म श्री भगवान् ने सर्व धर्मों से मुख्य वर्णन किया है। अतः तृतीय बोल संग्रह में जिज्ञासुओं के लिये अत्यन्त उपयोगी संग्रह किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के चतुर्थ बोल संग्रह में विस्तारपूर्वक चतुर्भङ्गियों का संग्रह है जो अनेक दृष्टियों से बड़े ही महत्व का है। जैसे— स्थानाङ्ग सूत्र के चतुर्थ स्थान के प्रथम उद्देशे में लिखा है कि वस्त्र चार प्रकार के होते हैं। जैसे कि:—

चत्तारि वत्था पण्णते तंजहा, (१) सुद्धे णामं एगे सुद्धे (२) सुद्धे णामं एगे असुद्धे (३) असुद्धे णामं एगे सुद्धे (४) असुद्धे णामं एगे असुद्धे (५) एवामेव चत्तारि पुरिस जाता पण्णते तंजहाः— सुद्धे णामं एगे सुद्धे चउ भङ्गो ४। एवं परिणतरूवे वत्था सपडिवक्खा। चत्तारि पुरिस जाता पण्णते तंजहाः—सुद्धे णामं एगे सुद्धमणे चउ भङ्गो ४। एवं संकप्पे जाव परक्कमे।

(सूत्र २३६)

इस पाठ का यह भाव है कि वस्त्र चार प्रकार के होते हैं। (१) शुद्ध नाम वाले एक शुद्ध वस्त्र हैं। (२) शुद्ध—अशुद्ध (३) अशुद्ध—शुद्ध (४) अशुद्ध—अशुद्ध। इसी प्रकार पुरुषों के विषय में भी जानना चाहिये। जिसका ताना—बाना शुद्ध हो और क्षोममय वस्त्र हो, वह पहले भी शुद्ध है अर्थात् उसकी उत्पत्ति भी शुद्ध और वस्त्र भी शुद्ध है। इसी प्रकार अन्य भङ्गों के विषय में भी जानना चाहिये। इस चतुर्भङ्गी में वस्त्रों द्वारा पुरुषों के विषय में अत्यन्त सुन्दर शैली से वर्णन किया है। अहिंसक पुरुषों के लिए वस्त्र का प्रथम भङ्ग उपादेय है। दार्ष्टान्तिक में प्रथम भङ्ग वाला पुरुष जगत् में परोपकारी हो सकता है अर्थात् जो जाति कुलादि से सुसंस्कृत है और फिर ज्ञानादि से भी अलंकृत हो रहा है, वही पुरुष संसार में परोपकार करता हुआ मोक्षाधिकारी हो जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में बड़ी ही योग्यता के साथ महती पठनीय चतुर्भङ्गीयों का संग्रह किया गया है। वे चतुर्भङ्गियाँ अनेक दृष्टिकोण

से महत्ता रखती हैं। जो मुमुक्षु जनों के लिए अत्यन्त उपादेय है और आत्म विकास के लिये एक कुञ्जी के समान हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के पाँचवें बोल संग्रह में पांच–पांच बोलों का संग्रह किया गया है। यदि उनको अनुप्रेक्षापूर्वक पढ़ा जाय तो जिज्ञासुओं को अत्यन्त लाभ हो सकता है क्योंकि उपयोगपूर्वक अध्ययन किया हुआ श्रुत आत्म विकास का मुख्य कारण होता है। जैसे कि स्थानाङ्ग सूत्र के पांचवें स्थान के तृतीय उद्देशे में लिखा है। जैसे कि:–

धम्मं चरमाणस्स पंच णिस्सा ठाणा पण्णते तंजहाः–
छक्काए, गणे, राया, गिहवती, सरीरं। (सूत्र ४४७)
पञ्च णिही पण्णते तंजहाः–
पुत्तनिही मित्तनिही सिप्पनिही धणणिही धन्नणिही।
(सूत्र ४४८)
सोए पञ्च विहे पण्णते तजहाः–
पुढवि सीते, आउ सोते, तेउ सोते, मंत सोते, बंभ सोते।
(सूत्र ४४६)

इस सूत्र में यह वर्णन किया है कि जिस आत्मा ने धर्म ग्रहण किया है उसके पांच आलम्बन स्थान होते हैं। जैसे–छः काया, गण, राजा, गृहपति, और शरीर। जब ये पांचों ही ठीक होंगे तब ही निर्विघ्नतापूर्वक धर्म हो सकेगा।

पांच निधि (कोष) गृहस्थों की होती हैं। (१) पुत्र निधि (२) मित्र निधि (३) शिल्प निधि (४) धन निधि (५) धान्य निधि।

पांच प्रकार का शौच होता है। जैसेः–पृथ्वी शौच, जल शौच, तेजः शौच, मन्त्र शौच और ब्रह्म शौच। जिस में प्रथम के चार शौच बाह्य हैं और ब्रह्मशौच अन्तरङ्ग है। इन सूत्रों की व्याख्या वृत्तिकार ने बड़े विस्तार से की है जो जिज्ञासुओं के लिये दृष्टव्य है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के संग्रह में पांच–पांच बोलों का संग्रह बड़ी ऊहापोह द्वारा किया गया है। प्रत्येक बोल बड़े महत्व का है और अनेक दृष्टिकोण से विचारने योग्य है। अतः यह संग्रह अत्यन्त परिश्रम द्वारा किया गया है। इससे अत्यन्त ही लाभ होने की संभावना की जा सकती है। मेरे विचार में यह ग्रन्थ प्रत्येक व्यक्ति

के लिये उपयोगी है। यदि पाठशालाओं में इसको स्थान मिल जाय तो विद्यार्थियों को अत्यन्त लाभ होगा।

श्रीमान् सेठ भैरोंदानजी को अत्यन्त धन्यवाद है कि वे इतनी वृद्धावस्था होने पर भी श्रुत ज्ञान के प्रचार में लगे हुए है।

श्रुत ज्ञान का प्रचार ही आत्म विकास का मुख्य हेतु है। इसी से आत्मा अपना कल्याण कर सकता है क्योंकि उत्तराध्ययन सूत्र के २६ वें अध्ययन के २४ वें सूत्र में लिखा है कि:–

सुयस्स आराहणयाए णं भन्ते जीवे किं जणयइ?।

सुयस्स आराहणयाए अन्नाणं खवेइ ण य संकिलिस्सइ ।।२४।।

इस पाठ का यह भाव है कि भगवान् श्री गौतम जी महाराज श्रमण भगवान् श्री महावीर स्वामी से पूछते हैं कि हे भगवन्! विधि– पूर्वक श्रुत की आराधना करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है? इस प्रश्न के उत्तर में श्री भगवान् फरमाते हैं, कि हे गौतम सम्यक्तया श्रुत की आराधना करने से अज्ञान और क्लेश का नाश हो जाता है कारण कि क्लेश अज्ञानपूर्वक ही होता है। जब अज्ञानता का नाश हुआ तब क्लेश साथ ही नष्ट हो जाता है। अतः सिद्ध हुआ श्रुत आराधना के लिए स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए क्योंकि स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्म क्षय हो जाता है। फिर आत्मा ज्ञान स्वरूप में लीन हो जाता है। जैसे कि आगम में कथन किया है कि:–

सज्झाएणं भन्ते जीवे किं जणेइ?

नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ।।१८।।

अतः स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। स्वाध्याय करने से ही फिर आत्मा को प्रायः चारित्र गुण की प्राप्ति हो जाती है चाहे वह देश चारित्र हो या सर्व चारित्र। सूयगडांग सूत्र प्रथम श्रुतस्कन्ध के द्वितीय अध्याय के तृतीय उद्देशे की १३ वीं गाथा में लिखा है:–

गांर पिअ आवसे नरे, अणुपुव्वं पाणेहिं संजए।

समता सव्वत्थ सुव्वते, देवाणं गच्छे स लोगयं ।।१६।।

भावार्थः–जो पुरुष गृहवास में निवास करता हुआ भी क्रमशः श्रावक धर्म को प्राप्त करके प्राणियों की हिंसा से निवृत्त होता है तथा सार्वत्र समभाव रखता है वह सुव्रत पुरुष देवताओं के लोक में जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ से अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों को इससे अत्यन्त लाभ हो सकता है। क्योंकि यह ग्रन्थ बड़ी उत्तम शैली से निर्माण किया गया है। अतः प्रत्येक मुमुक्षु आत्मा को इसका स्वाध्याय करना चाहिए जिससे वह क्रमशः निर्वाण पद की प्राप्ति कर सके।

संवत् १९६७ आषाढ़ (पञ्जाबी)
शुक्ला ४ चन्द्रवार

उपाध्याय जैन मुनि आत्माराम
लुधियाना

—x—x—x—

श्री अगरचंद भैरोंदान सेठिया जैन ग्रंथमाला, बीकानेर द्वारा प्रकाशित श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह के आठ भागों का संक्षिप्त विषय विवरण

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह (द्वितीयावृत्ति) भाग १ से ८ तक।

ये भाग सरल हिन्दी में ठाणांग और समवायांग के ढंग पर तैयार किये गये हैं। इनका प्रथम संस्करण सम्पूर्ण भारतवर्ष में पहुँचा और इनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की गई है। जैन सिद्धान्त के प्रायः प्रत्येक विषय को इन में सरल विधि से समझाया गया है। इन्हें जैन सिद्धान्तों का इन्साइक्लोपीडिया (विश्वकोष) कहा जाय तो अनुचित न होगा। यह संग्रह आगम शास्त्रों और प्रामाणिक धर्म शास्त्रों के आधार से तैयार किया गया है। उनके नीचे प्रमाण का उल्लेख भी किया गया है।

८ भागों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:-

१. प्रथम भागः-इस में विविध प्रकार के बोल संग्रह १ से ५ तक। बोल संख्या १ से ४२३ हैं। इस में एक–एक के, दो–दो के, तीन–तीन के, चार–चार के, पांच–पांच के, बोल आगम शास्त्रों से लेकर दिये गये हैं।

२. द्वितीय भागः-इस में बोल संग्रह ६ और ७ का वर्णन है। बोल संख्या ४२४ से ५६३। इसमें षड्द्रव्य के भेद, अवसर्पिणी उत्सर्पिणी के ६–६ आरे, प्रतिलेखना के भेद, छः लेश्या, परदेशी राजा के ६ प्रश्न, षड्दर्शन तथा ६–६ के कई बोल। प्राणायाम सात, सात नरकों का वर्णन, ७ निह्नवों का वर्णन, ७ नय, सप्तभंगी आदि कई बोल बड़े ही सरल ढंग से लिखे गये हैं।

३. तृतीय भागः-इस में ८ से १० तक के बोल हैं। बोल संख्या ५६४ सं ७६९ तक है। इसमें ७ आचार, ८ प्रमाद, प्रतिक्रमण के भेद व दृष्टान्त, आठ कर्म विस्तार सहित, आठ आत्मा, अहिंसा भगवती की ८ उपमा, भगवान् महावीर के शासन में तीर्थंकर गोत्र बांधने वाले जीव ९, नवतत्त्व, स्वप्न के ९ निमित्त, नव नियाणे, भगवान् महावीर के १० स्वप्न, एषणा के १० दोष, समाचारी १०,

प्रव्रज्या १०, आलोचना के १० दोष, चित्त समाधि के १० स्थान, संसार की समुद्र के साथ १० उपमा, मनुष्य भव की दुर्लभता के १० दृष्टान्त, दस अछेरे, श्रावक के १० लक्षण, दस श्रावक, श्रेणिक राजा की १० राणियां, पइण्णा दस, असज्झाय आंतरिक्ष १० और औदारिक १०, सम्यक्त्व प्राप्ति के १० बोल, मिथ्यात्व १०, सत्य वचन के १० प्रकार, ब्रह्मचर्य के समाधिस्थान १०, पच्चखाण १०, वैयावच्च १०, संज्ञा १०, संवर १०, असंवर १०, वाद के १० दोष, १० प्रकार के सब जीव, अजीव परिणाम १०, अरूपी जीव के १० भेद, १० प्रकार के कल्पवृक्ष महानदियां १०, मन के १० दोष, वचन के १० दोष, कुलकर १०, दान १० और सुख १० आदि बहुत से बोल हैं।

४. चतुर्थ भागः-बोल संग्रह ११ से १३ तक। बोल संख्या ७७० से ८२१ तक। भगवान् महावीर के ११ नाम, दशवैकालिक सूत्र दूसरा सामण्ण पुव्वयं नाम के अध्ययन की ११ गाथाएँ, संसार में ११ बातों की प्राप्ति होना बहुत दुर्लभ है, आरम्भ परिग्रह को छोड़े बिना ११ बातों की प्राप्ति नहीं हो सकती, गणधर ११, अंग सूत्र ११, उपांग सूत्र १२ का वर्णन, सूत्र के १२ भेद, अननुयोग के १२ दृष्टान्त, उत्तराध्ययन २१ वें अध्ययन की जैन साधु के लिये मार्ग प्रदर्शक १२ गाथाएँ, अरिहन्त के १२ गुण, चक्रवर्ती १२, उपयोग १२, कम्मिया बुद्धि के १२ दृष्टान्त, निश्चय और व्यवहार से श्रावक के भावव्रत १२, श्रावक के बाहर व्रत लेने की संक्षिप्त टीप, भिक्खु पडिमा १२, सम्भोग १२, १२ महीनों में पोरिसी का परिमाण, धर्म के १२ विशेषण, कर्म प्रकृतियों के १२ द्वार, भावना १२, विनय के १३ भेद, क्रियास्थान १३, आहारक और अनाहारक के १३ द्वार, क्रोध आदि की शान्ति के १३ उपाय, उत्तराध्ययन के चौथे असंस्कृत नामक अध्ययन की १३ गाथाएँ, भगवान् ऋषभ देव के १३ भव, सम्यक्त्व के लिए १३ दृष्टान्त।

५. पांचवां भागः-इसमें बोल संग्रह १४ से १६ तक। बोल संख्या ८२२ से ९०० तक है। श्रुतज्ञान के १४ भेद, पूर्व १४, ज्ञान के अतिचार १४, भूतग्राम के १४ भेद, संमुर्च्छिम मनुष्यों के उत्पत्ति स्थान १४, स्वप्न १४, महास्वप्न १४, श्रावक के १४ नियम, १४ प्रकार का दान, साधु के लिये अकल्पनीय १४ बातें, अविनीत के १४

लक्षण, सप्रदेशी अप्रदेशी के १४ द्वार, पढमापढम के १४ द्वार, चरमाचरम के १४ द्वार, १४ राजूप्रमाण लोक, मार्गणा स्थान १४, गुणस्थान १४ का विवरण, सिद्धों के १५ भेद, मोक्ष के १५ अंग, दीक्षा देने वाले गुरु के १५ गुण, विनीत के १५ लक्षण, वैनयिकी बुद्धि के १५ दृष्टान्त, पूज्यता को बतलाने वाली १५ गाथाएँ, अनाथता की १५ गाथाएँ, कर्म भूमि १५, परमाधार्मिक १५, कर्मादान १५, दशवैकालिक सूत्र द्वितीय चूलिका की १६ गाथाएँ, उत्तराध्ययन पन्द्रहवें अध्ययन सभिक्खु की १६ गाथाएँ, बहुश्रुत साधु की १६ उपमाएँ, दीक्षार्थी के १६ गुण, गवेषणा के १६ दोष, साधु को कल्प नीय ग्रामादि १६ स्थान, आश्रव आदि के १६ भाँगे, चन्द्रगुप्त राजा के १६ स्वप्न, महावीर की वसति विषयक १६ गाथाएं, सोलह सत्तियों की कथा, दशवैकालिक विनय समाधि ६वें अध्ययन की १७ गाथाएँ, भगवान महावीर की तपश्चर्या विषयक १७ गाथाएँ, मरण १७ प्रकार का, पन्नवणा सूत्र के २१ वें पद के शरीर के १७ द्वार, भाव श्रावक के १७ लक्षण, संयम के १७ भेद, अरिहन्त भगवान् में नहीं पाये जाने वाले १८ दोष, गतागत के १८ द्वार, साधु के १८ कल्प, दीक्षा के अयोग्य १८, पौषध के १८ दोष, १८ पापस्थानक, चोर की प्रसूति १८, उत्तराध्ययन के छट्ठे क्षुल्लक निर्ग्रन्थीय अध्ययन की १८ गाथाएं, दशवैकालिक प्रथम चूलिका की १८ गाथाएं, कायोत्सर्ग के १६ दोष, ज्ञाता धर्म कथाङ्ग की १६ कथाएं आदि।

६. छठा भागः-बोल संग्रह २० से ३०। बोल संख्या ६०१ से ६६० तक। आनुपूर्वी, आनुपूर्वी कण्ठस्थ गुणने की सरल विधि, श्रुत ज्ञान के २० भेद, तीर्थंकर नाम कर्म बांधने के २० बोल, विहरमान २०, २० कल्प साधु के, परिहार विशुद्धि चारित्र के २० द्वार, असमाधि के २० द्वार, आश्रव के २० भेद, संवर के २० भेद, उत्तराध्ययन चतुरंगीय तीसरे अध्ययन की २० गाथाएं, विपाक सूत्र की २० कथाएं, श्रावक के २१ गुण, धोवण पानी २१ प्रकार का, २१ शबल दोष, विद्यमान पदार्थ की अनुपलब्धि के २१ कारण, पारिणामिकी बुद्धि के २१ दृष्टान्त, दशवैकालिक सभिक्खु दसवें अध्ययन की २१ गाथाएं, उत्तराध्ययन सूत्र के चरणविहि नामक ३१ वें अध्ययन की २१ गाथाएं, प्रश्नोत्तर २१, साधु धर्म के विशेषण २२, निग्रहस्थान

२२, भगवान् महावीर की चर्या विषयक आचारांग ६ वां अ.उ. १ की २३ गाथाएं, साधु के उतरने योग्य तथा अयोग्य स्थान २३, क्षेत्र परिमाण के २३ भेद, ५ इन्द्रिय के विषय २३, गत उत्सर्पिणी के २४ तीर्थंकर, ऐरवत क्षेत्र में वर्तमान अवसर्पिणी के २४ तीर्थंकर, वर्तमान अवसर्पिणी के २४ तीर्थंकर, चौबीस तीर्थंकरों का लेखा, भरत क्षेत्र के आगामी २४ तीर्थंकर, ऐरवत क्षेत्र के आगामी २४ तीर्थंकर, विनय समाधि दशवैकालिक अध्ययन ६ की २४ गाथाएं, दण्डक २४, उपाध्याय के २५ गुण, ५ महाव्रत की २५ भावनाएं, प्रतिलेखना के २५ भेद, क्रिया २५, सूयगडांग सूत्र के ५ वें अध्ययन की २५ गाथाएं, आर्य क्षेत्र साढ़े पच्चीस, २६ बोलों की मर्यादा, वैमानिक देवों के २६ भेद, साधु के २७ गुण, सूयगडांग सूत्र के १४ वें अध्ययन की २७ गाथाएं, सूयगडांग सूत्र के ५ वें अध्ययन की २७ गाथाएं, आकाश के २७ नाम, औत्पातिकी बुद्धि के २७ दृष्टान्त, मतिज्ञान के २८ भेद, मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियां, अनुयोग देने वाले के २८ गुण, नक्षत्र २८, लब्धियाँ २८, सूयगडांग सूत्र के महावीर स्तुति नामक छट्ठे अध्ययन की २९ गाथाएँ, पाप श्रुत के २९ भेद, अकर्म भूमि के ३० भेद, परिग्रह के ३० भेद, भिक्षाचर्या के ३० भेद, महामोहनीय कर्म के ३० स्थान।

७. सातवाँ भागः-बोल ३१ से ५७ तक। बोल संख्या ९६१ से १०१२ तक। सिद्ध भगवान् के ३१ गुण, साधु की ३१ उपमाएं, सूत्र कृतांग सूत्र चौथे अध्ययन की ३१ गाथाएं, ब्रह्मचर्य–शील की ३२ उपमाएं, ३२ योग संग्रह, ३२ सूत्र, ३२ सूत्रों के नाम, ३२ अस्वाध्याय, वंदना के ३२ दोष, सामायिक के ३२ दोष, विजय ३२, उत्तराध्ययन सूत्र के ५ वें अकाममरणीय अ. की ३२ गाथाएं, उत्तराध्ययन सूत्र के ११ वें बहुश्रुत पूजा अध्ययन की ३२ गाथाएं, सूयगडांग सूत्र द्वितीय अध्ययन के द्वितीय उ. की ३२ गाथाएं, आशातना ३३, अनन्तरागत सिद्धों के अल्पबहुत्व के ३३ बोल, तीर्थंकर देव के ३४ अतिशय, गृहस्थ धर्म के ३५ गुण, सूयगडांग सूत्र के नवें अध्ययन की ३६ गाथाएं, आचार्य के ३६ गुण, प्रश्नोत्तर ३६, उत्तराध्ययन सूत्र के १० वें द्रुमपत्रक अध्ययन की ३७ गाथाएं, सूयगडांग सूत्र के ग्यारहवें मार्गाध्ययन की ३८ गाथाएं, समय क्षेत्र के ३९ कुल पर्वत, खर बादर पृथ्वीकाय के ४० भेद, आहार के

दायक दोष से दूषित चालीस दाता, उदीरणा बिना उदय में आने वाली ४१ प्रकृतियां, आहारादि के ४२ दोष, नाम कर्म की ४२ प्रकृतियां, आश्रव के ४२ भेद, पुण्य प्रकृतियां ४२, प्रवचन विषय संग्रह ४३, स्थावर जीवों की अवगाहना के अल्प बहुत्व के ४४ बोल, उत्तराध्ययन सूत्र के २५वें अध्ययन की ४५ गाथाएं, आगम ४५, गणित योग्य काल प्रमाण के ४६ भेद, आहार के ४७ दोष, तिर्यञ्च के ४८ भेद, ध्यान के ४८ भेद, श्रावक के प्रत्याख्यान के ४६ भंग, प्रायश्चित्त के ५० भेद, आचारांग प्रथम श्रुतस्कंध के ५१ उद्देशे, विनय के ५२ भेद, साधु के ५२ अनाचीर्ण, मोहनीय कर्म के ५३ नाम, उत्तम पुरुष ५४, दर्शन विनय के ५५ भेद, ५६ अन्तर द्वीप, संवर के ५७ भेद।

८. आठवाँ भागः-(सात भागों का विस्तृत विषय कोष)

इसमें सातों भागों के बोल अनुक्रम से दिये गये हैं। कौनसा विषय और कौनसा बोल सात भागों में से किस-किस स्थान पर है। इस आठवें भाग से स्पष्ट ज्ञात हो जायगा। बोलों के विषय में सूत्रों द्वारा प्रमाण दिये गये हैं। यदि कोई भाग मौजूद न हो तो भी दिये गये प्रमाणों के द्वारा ही बोलों का ज्ञान आसानी से हो सकता है। आवश्यकतानुसार सभी बोलों पर अनेक प्रमाण दिये गये हैं। बोल जिज्ञासु प्रेमियों के लिये यह भाग बहुत उत्तम रहेगा। अतः इसी आवश्यकता को लेकर यह ग्रन्थ बहुत परिश्रम से बनाया गया है।

—x—x—x—

अकाराद्यनुक्रमणिका

❀ श्री वर्द्धमान स्वामिने नमः ❀

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह

मंगलाचरण

जयइ जग जीव जोणी वियाणओ, जग गुरु जगाणंदो।
जगणाहो जगबन्धू जयइ जगप्पियामहो भयवं।।१।।
जयइ सुआणं पभवो, तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ।
जयइ गुरु लोगाणं जयइ महप्पा महावीरो।।२।।

(श्री नन्दी सूत्र)

भावार्थ :– सम्पूर्ण संसार और जीवों के उत्पत्ति के स्थान को जानने वाले तीर्थंकर सदा विजयवन्त रहें। तीर्थंकर भगवान् जगत् के गुरु, जगत् को आध्यात्मिक आनन्द देने वाले, जगत् के नाथ, जगत् के बन्धु तथा जगत् के पितामह हैं।।१।।

द्वादशांग रूप वाणी के प्रकट करने वाले, तीर्थंकरों में अन्तिम तीर्थंकर, त्रिलोक के गुरु तथा महात्मा भगवान् महावीर स्वामी सदा विजयवन्त रहें।

पहला बोल

(बोल नम्बर १ से ६ तक)

१-आत्मा:-

जो निरन्तर ज्ञानादि पर्यायों को प्राप्त होता है, वह आत्मा है। सब जीवों का उपयोग या चैतन्य रूप लक्षण एक है। अतः एक ही आत्मा कहा गया है। (ठाणांग १, सूत्र २)

२-समकित:-

सर्वज्ञ द्वारा प्ररूपित पारमार्थिक जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना समकित है। समकित के कई प्रकार से भेद किये गये हैं। जैसे–

एगविह दुविह तिविहं, चउहा पंचविह दसविहं सम्मं।
दव्वाई कारगाई, उवसम भेएहिं वा सम्मं ।।१।।

(प्रवचन सारोद्धार, ६४२ वीं गाथा)

अर्थात्–समकित के द्रव्य, भाव, उपशम आदि के भेद से एक, दो, तीन, चार, पांच तथा दस भेद होते हैं। (इनका विस्तार आगे के बोलों में किया जायेगा)

(तत्त्वार्थ सूत्र, प्रथम अध्याय) (पंचाशक, अधिकार १)

३-दण्ड:-

जिससे जीवों की हिंसा होती है, उसे दण्ड कहते हैं। (दण्ड दो प्रकार के हैं–द्रव्य और भाव। लकड़ी, शस्त्र आदि द्रव्य दण्ड हैं और दुष्प्रयुक्त मन आदि भाव दण्ड हैं।)

(ठाणांग १, सूत्र ३)

४-जम्बूद्वीप:-

तिर्यक् लोक के असंख्यात द्वीप और समुद्रों के मध्य में स्थित और सबसे छोटा, जम्बूवृक्ष से उपलक्षित और मध्य में मेरु पर्वत से सुशोभित जम्बू द्वीप है। इसमें भरत, ऐरावत और महाविदेह–ये तीन कर्म भूमि और हैमवत, हैरण्यवत, हरिवर्ष, रम्यकवर्ष, देवकुरु, उत्तर कुरु, ये छः अकर्म भूमि क्षेत्र हैं। इसकी परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोस, एक सौ अट्ठाईस धनुष तथा साढ़े तेरह अंगुल से कुछ अधिक है।

(ठाणांग १, सूत्र ५२)

(सभाष्य तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय ३)

५-प्रदेशः-

स्कन्ध या देश में मिले हुए द्रव्य के अति सूक्ष्म (जिसका दूसरा हिस्सा न हो सके) विभाग को प्रदेश कहते हैं।

(ठाणांग १, सूत्र ४५)

६-परमाणुः-

स्कन्ध या देश से अलग हुए पुद्गल के अतिसूक्ष्म निरंश भाग को परमाणु कहते हैं।

(ठाणांग १, सूत्र ४५)



दूसरा बोल

(बोल नम्बर ७ से ६२ तक)

७-(क) राशि की व्याख्याः-

राशिः—वस्तु के समूह को राशि कहते हैं।

राशि के दो भेदः—

(१) जीव राशि (२) अजीव राशि

(समवायांग १४६)

७-(ख) जीवः-

जो चेतनायुक्त हो तथा द्रव्य और भाव प्राण वाला हो, उसे जीव कहते हैं। जीव के दो भेद हैं:—

(१) संसारी (२) सिद्ध

संसारी—कर्मों के चक्र में फंस कर जो जीव चौबीस दण्डक और चार गतियों में परिभ्रमण करता है, उसे संसारी कहते हैं।

सिद्ध—सर्व कर्मों का क्षय करके, जो जन्म—मरण रूप संसार से मुक्त हो चुके हैं, उन्हें सिद्ध कहते हैं।

(ठाणांग २, सूत्र १०१)

(तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय २, सूत्र १०)

८-नव प्रकार से संसारी जीव के दो-दो भेदः-

१ त्रस	२ स्थावर
१ सूक्ष्म	२ बादर
१ पर्याप्त	२ अपर्याप्त
१ संज्ञी	२ असंज्ञी
१ परित्त (अल्प) संसारी	२ अनन्त संसारी
१ सुलभ बोधि	२ दुर्लभ बोधि
१ कृष्णपक्षी	२ शुक्लपक्षी
१ भवसिद्धिक	२ अभवसिद्धिक
१ आहारक	२ अनाहारक

त्रसः—त्रस नाम कर्म के उदय से चलने—फिरने वाले जीव को त्रस कहते हैं। अग्नि और वायु, गति की अपेक्षा त्रस माने गये हैं।

स्थावरः— स्थावर नाम कर्म के उदय से जो जीव पृथ्वी, पानी आदि एकेन्द्रिय में जन्म लेते हैं, उन्हें स्थावर कहते हैं।

(ठाणांग २, सूत्र १०१)

सूक्ष्मः—सूक्ष्म नाम कर्म के उदय से जिन जीवों का शरीर अत्यन्त सूक्ष्म अर्थात् चर्मचक्षु का अविषय हो, उन्हें सूक्ष्म कहते हैं।

बादरः—बादर नाम कर्म के उदय से बादर अर्थात् स्थूल शरीर वाले जीव बादर कहलाते हैं।

(ठाणांग २, सूत्र ७३)

पर्याप्तकः—जिस जीव में जितनी पर्याप्तियाँ सम्भव हैं, वह जब उतनी पर्याप्तियाँ पूरी कर लेता है, तब उसे पर्याप्तक कहते हैं। एकेन्द्रिय जीव स्वयोग्य चारों पर्याप्तियाँ (आहार, शरीर, इन्द्रिय, और श्वासोच्छ्वास) पूरी करने पर द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय, उपर्युक्त चार और पांचवी भाषा पर्याप्ति पूरी करने पर तथा संज्ञी पंचेन्द्रिय उपर्युक्त पांच और छठी मनः पर्याप्ति पूरी करने पर पर्याप्तक कहे जाते हैं।

अपर्याप्तकः—जिस जीव की पर्याप्तियाँ पूरी न हों, वह अपर्याप्तक कहा जाता है।

जीव तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण करके ही मरते हैं, पहले नहीं, क्योंकि आगामी भव की आयु बांध कर ही मृत्यु प्राप्त करते हैं और आयु का बन्ध उन्हीं जीवों को होता है जिन्होंने आहार, शरीर और इन्द्रिय—ये तीन पर्याप्तियाँ पूर्ण करली हैं।

(ठाणांग २, सूत्र ७६)

संज्ञीः—जिन जीवों के मन हो, वे संज्ञी हैं।

असंज्ञीः—जिन जीवों के मन नहीं हो, वे असंज्ञी हैं।

(ठाणांग २, सूत्र ७६)

परित्त संसारीः—जिन जीवों के भव परिमित हो गये हैं, वे परित्त संसारी हैं। अर्थात् अधिक से अधिक अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल के अन्दर जो अवश्य मोक्ष में जावेंगे, वे परित्त (अल्प) संसारी हैं।

अनन्त संसारीः— जो जीव अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करते रहेंगे अर्थात् जिन जीवों के भवों की संख्या सीमित नहीं हुई है, वे अनन्त संसारी हैं। यथाः—

जे पुण गुरुपडिणीया बहुमोहा, ससबला कुसीलाय।
असमाहिणा मरंति उ, ते हुंति अणंत संसारी।।१।।

(आतुर प्रत्याख्यान पयन्ना)

भावार्थः—गुरु के अवर्णवाद आदि कह कर प्रतिकूल आचरण

करने वाले, बहुत मोह वाले, शबल दोष वाले, कुशीलिये और असमाधि मरण से मरने वाले जीव अनन्त संसारी होते हैं।

(ठाणांग २, सूत्र ७६)

सुलभ बोधिः—परभव में जिन जीवों को जिन धर्म की प्राप्ति सुलभ हो, उन्हें सुलभ बोधि कहते हैं।

दुर्लभ बोधिः—जिन जीवों को जिनधर्म दुष्प्राप्य हो, उन्हें दुर्लभ बोधि कहते हैं।

(ठाणांग २, सूत्र ७६)

कृष्ण पाक्षिकः—जिन जीवों के अर्द्ध पुद्‌गल परावर्तन काल से अधिक काल तक संसार में परिभ्रमण करना बाकी है, वे कृष्ण पाक्षिक कहे जाते हैं।

शुक्ल पाक्षिकः—जिन जीवों का संसार परिभ्रमण काल अर्द्धपुद्‌गल परावर्तन या उससे कम बाकी रह गया है, वे शुक्ल पाक्षिक कहे जाते हैं।

(भगवती शतक १३, उद्देशा १ की टीका)

भवसिद्धिकः—जिन जीवों में मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता होती है, वे भवसिद्धिक कहलाते हैं।

अभव सिद्धिकः—जिन जीवों में मोक्ष प्राप्ति की योग्यता नहीं है, वे अभव सिद्धिक (अभव्य) कहलाते हैं।

(ठाणांग २, सूत्र ७६) (श्रावक धर्म प्रज्ञप्ति ६६–६७)

आहारकः—जो जीव सचित्त, अचित्त और मिश्र अथवा ओज, लोम और प्रक्षेप आहार में से किसी भी प्रकार का आहार करता है, वह आहारक जीव है।

अनाहारकः—जो जीव किसी भी प्रकार का आहार नहीं करता, वह अनाहारक है।

विग्रह गति में रहा हुआ, केवली समुद्घात करने वाला, चौदहवें गुणस्थानवर्ती और सिद्ध—ये चारों अनाहारक हैं। केवली समुद्घात के आठ समयों में से तीसरे, चौथे और पांचवें समय में जीव अनाहारक रहता है।

(ठाणांग २, सूत्र ७६)

६-निगोदः-

साधारण नाम कर्म के उदय से एक ही शरीर को आश्रित करके, जो अनन्त जीव रहते हैं, वे निगोद कहलाते हैं। निगोद के

जीव एक ही साथ आहार ग्रहण करते हैं। एक साथ श्वासोच्छवास लेते हैं और साथ ही आयु बांधते हैं और एक ही साथ शरीर छोड़ते हैं।

निगोद के दो भेद हैं–(१) व्यवहार राशि (२) अव्यवहार राशि।

व्यवहार राशिः–जिन जीवों ने एक बार भी निगोद अवस्था छोड़कर दूसरी जगह जन्म लिया है, वे व्यवहार राशि हैं।

अव्यवहार राशिः–जिन जीवों ने कभी भी निगोद अवस्था नहीं छोड़ी है, जो अनन्त काल से निगोद में ही पड़े हुए हैं, वे अव्यवहार राशि हैं।

(सैन प्रश्न, उल्लास २–४)

१०-सम्यक्त्व के चार प्रकार से दो-दो भेदः-

१ द्रव्य सम्यक्त्व	२ भाव सम्यक्त्व
१ निश्चय सम्यक्त्व	२ व्यवहार सम्यक्त्व
१ नैसर्गिक सम्यक्त्व	२ आधिगमिक सम्यक्त्व
१ पौद्गलिक सम्यक्त्व	२ अपौद्गलिक सम्यक्त्व

द्रव्य सम्यक्त्वः–विशुद्ध किये हुए मिथ्यात्व के पुद्गलों को द्रव्य सम्यक्त्व कहते हैं।

भाव सम्यक्त्वः–जैसे उपनेत्र (चश्मे) द्वारा आंखें पदार्थों को स्पष्ट रूप से देख लेती हैं, उसी तरह विशुद्ध किये हुए पुद्गलों के द्वारा आत्मा की केवली प्ररूपित तत्त्वों में जो रुचि (श्रद्धा) होती है, वह भाव सम्यक्त्व है।

(प्रवचन सारोद्धार, गाथा १४२)

निश्चय सम्यक्त्वः–आत्मा का वह परिणाम, जिसके होने से ज्ञान विशुद्ध होता है, उसे निश्चय सम्यक्त्व कहते हैं। अथवा अपनी आत्मा को ही देव, गुरु और धर्म समझना निश्चय सम्यक्त्व है।

व्यवहार सम्यक्त्वः–सुदेव, सुगुरु और सुधर्म पर विश्वास करना व्यवहार सम्यक्त्व है।

प्रवचन सारोद्धार, गाथा ६४३ की टीका में निश्चय सम्यक्त्व और व्यवहार सम्यक्त्व की व्याख्या यों दी हैः–

१–देश, काल और संहनन के अनुसार यथाशक्ति शास्त्रोक्त संयम पालन रूप मुनिभाव निश्चय सम्यक्त्व है।

२–उपशमादि लिंग से पहिचाना जाने वाला शुभ आत्मपरिणाम

व्यवहार सम्यक्त्व है। इसी प्रकार सम्यक्त्व के कारण भी व्यवहार सम्यक्त्व ही है।

(कर्मग्रन्थ पहला, गाथा १५ वीं)

नैसर्गिक सम्यक्त्वः—पूर्व क्षयोपशम के कारण, बिना गुरु उपदेश के, स्वभाव से ही जिनदृष्ट (केवली भगवान् के देखे हुए) भावों को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और नाम आदि निक्षेपों की अपेक्षा से जान लेना, श्रद्धा करना निसर्ग समकित है। जैसे माता की समकित।

आधिगमिक सम्यक्त्वः—गुरु आदि के उपदेश से अथवा अंग—उपांग आदि के अध्ययन से जीवादि तत्त्वों पर रुचि—श्रद्धा होना आधिगमिक (अभिगम) सम्यक्त्व है।

(ठाणांग २, सूत्र ७०) (पन्नवणा, पहला पद) (तत्त्वार्थ सूत्र, प्रथम अध्याय)

पौद्गलिक सम्यक्त्वः—क्षायोपशमिक सम्यक्त्व को पौद्गलिक सम्यक्त्व कहते हैं क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में समकित मोहनीय के पुद्गलों का वेदन होता है।

अपौद्गलिक सम्यक्त्वः—क्षायिक और औपशमिक समकित को अपौद्गलिक सम्यक्त्व कहते हैं। क्योंकि इनमें समकित मोहनीय का सर्वथा नाश अथवा उपशम हो जाता है, वेदन नहीं होता है।

(प्रवचन सारोद्धार, गाथा ६४२ टीका)

११-उपयोगः-

सामान्य या विशेष रूप से वस्तु को जानना उपयोग है। उपयोग के दो भेद हैंः— (१) ज्ञान (२) दर्शन

ज्ञानः—जो उपयोग पदार्थों के विशेष धर्मों के जाति, गुण, क्रिया आदि का ग्राहक है, वह ज्ञान कहा जाता है। ज्ञान को साकार उपयोग कहते हैं।

दर्शनः—जो उपयोग पदार्थों के सामान्य धर्म का अर्थात् सत्ता का ग्राहक है, उसे दर्शन कहते हैं। दर्शन को निराकार उपयोग कहते हैं। (पन्नवणा, पद २८)

१२-ज्ञान के दो भेदः-

(१) प्रत्यक्ष (२) परोक्ष

प्रत्यक्षः—इन्द्रिय और मन की सहायता के विना साक्षात् आत्मा से जो ज्ञान हो, वह प्रत्यक्ष ज्ञान है। जैसे अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान और केवल ज्ञान। (श्री नन्दीसूत्र)

यह व्याख्या निश्चय दृष्टि से है। व्यावहारिक दृष्टि से तो इन्द्रिय और मन से होने वाले ज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहते हैं।

परोक्ष ज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान हो, वह परोक्ष ज्ञान है। जैसे—मतिज्ञान और श्रुतज्ञान।

अथवा

जो ज्ञान अस्पष्ट हो (विशद न हो), उसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं। जैसे—स्मरण, प्रत्यभिज्ञान आदि।

(ठाणांग २, उद्देशा १, सूत्र ७१)

१३-अवधिज्ञान की व्याख्या और भेदः-

इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादापूर्वक जो ज्ञान रूपी पदार्थों को जानता है, उसे अवधिज्ञान कहते हैं।

अवधिज्ञान के दो भेदः—(१) भव प्रत्यय (२) क्षयोपशम प्रत्यय

भव प्रत्यय अवधिज्ञानः—जिस अवधिज्ञान के होने में भव ही कारण हो, उसे भव प्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं। जैसे—नारकी और देवताओं को जन्म से ही अवधिज्ञान होता है।

क्षयोपशम प्रत्यय अवधिज्ञानः—ज्ञान, तप आदि कारणों से मनुष्य और तिर्यञ्चों को जो अवधिज्ञान होता है, उसे क्षयोपशम प्रत्यय अवधिज्ञान कहते हैं। यही ज्ञान गुण प्रत्यय या लब्धि प्रत्यय भी कहा जाता है।

(ठाणांग २, उद्देशा १, सूत्र ७१)

१४-मनःपर्यय ज्ञानः-

इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादापूर्वक जो ज्ञान संज्ञी जीवों के मन में रहे हुए भावों को जानता है, उसे मनःपर्यय ज्ञान कहते हैं।

मनःपर्यय ज्ञान के दो भेदः—(१) ऋजुमति (२) विपुलमति

ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञानः—दूसरे के मन में सोचे हुए भावों को सामान्य रूप से जानना ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान है। जैसे—अमुक व्यक्ति ने घड़ा लाने का विचार किया है।

विपुलमति मनःपर्यय ज्ञानः—दूसरे के मन में सोचे हुए पदार्थ के विषय में विशेष रूप से जानना विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान है। जैसे—अमुक ने जिस घड़े को लाने का विचार किया है, वह घड़ा

मुख्यतया ग्रहण करे, उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

(प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार, परिच्छेद ७)

१८-धर्म की व्याख्या और उसके भेदः-

(१) जो दुर्गति में गिरते हुए प्राणी को धारण करे और सुगति में पहुंचावे, उसे धर्म कहते हैं।

(दशवैकालिक, अध्ययन १, गाथा १ की टीका)

अथवा

(२) आगम के अनुसार इस लोक और परलोक के सुख के लिए हेय़ को छोड़ने और उपादेय को ग्रहण करने की जीव की प्रवृत्ति को धर्म कहते हैं।

(धर्मसंग्रह)

अथवा

(३) वत्थु सहावो धम्मो, खन्ती पमुहो दसविहो धम्मो।
जीवाणं रक्खणं धम्मो, रयणतयं च धम्मो।।

(१) वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। (२) क्षमा, निर्लोभता आदि दस लक्षण रूप धर्म है। (३) जीवों की रक्षा करना—बचाना, यह भी धर्म है। (४) सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र रूप रत्नत्रय को भी धर्म कहते हैं।

सारांश—जिस अनुष्ठान या कार्य्य से निःश्रेयस्—कल्याण की प्राप्ति हो वही धर्म है।

धर्म के दो भेद हैं:— (१) श्रुतधर्म (२) चारित्र धर्म

श्रुतधर्म—अंग और उपांग रूप वाणी को श्रुतधर्म कहते हैं। वाचना, पृच्छना, आदि स्वाध्याय के भेद भी श्रुतधर्म कहलाते हैं।

चारित्र धर्मः—कर्मों के नाश करने की चेष्टा चारित्र धर्म है।

अथवा

मूल गुण और उत्तर गुणों के समूह को चारित्र धर्म कहते हैं। अर्थात् क्रिया रूप धर्म ही चारित्र धर्म है।

(ठाणांग २, उद्देशा १, सूत्र ७२)

१६-श्रुतधर्म के दो भेदः-

(१) सूत्रश्रुतधर्म (२) अर्थश्रुतधर्म

सूत्रश्रुतधर्म—(शब्द रूप श्रुतधर्म) द्वादशांगी और उपांग आदि के मूलपाठ को सूत्रश्रुतधर्म कहते हैं।

अमुक रंग का, अमुक आकार वाला, और अमुक समय में बना है इत्यादि विशेष पर्यायों–अवस्थाओं को जानना।

(ठाणांग २, उद्देशा १, सूत्र ७१)

१५-परोक्ष ज्ञान के दो भेदः-

(१) आभिनिबोधिक ज्ञान (मतिज्ञान) (२) श्रुतज्ञान

आभिनिबोधिक ज्ञानः–पांचों इन्द्रियों और मन के द्वारा योग्य देश में रहे हुए पदार्थ का जो ज्ञान होता है, वह आभिनिबोधिक ज्ञान या मतिज्ञान कहलाता है।

(पन्नवणा, पद २६) (ठाणांग २, उद्देशा १, सूत्र ७१)

श्रुतज्ञानः–शास्त्रों को सुनने और पढ़ने से इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान हो, वह श्रुतज्ञान है।

(भगवती शतक ८, उद्देशा २)

अथवा

मतिज्ञान के बाद में होने वाले एवं शब्द तथा अर्थ का विचार करने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। जैसे–"घट" शब्द सुनने पर उसके बनाने वाले का, उसके रंग और आकार आदि का विचार करना।

(नन्दी सूत्र) (ठाणांग २, उद्देशा १, सूत्र ७१) (कर्म ग्रन्थ, प्रथम भाग)

१६-श्रुतज्ञान के दो भेदः-

(१) अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञान। (२) अङ्गबाह्य श्रुतज्ञान

अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञान–जिन आगमों में गणधरों ने तीर्थंकर भगवान् के उपदेश को ग्रंथित किया है, उन आगमों को अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञान कहते हैं। आचाराङ्ग आदि बारह अङ्गों का ज्ञान अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञान है।

अङ्गबाह्य श्रुतज्ञानः–द्वादशांगी के बाहर का शास्त्रज्ञान अङ्गबाह्य श्रुतज्ञान कहलाता है। जैसे–दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि।

(नन्दी सूत्र ४४) (ठाणांग २, उद्देशा १, सूत्र ७१)

१७-नय के दो भेदः-

(१) द्रव्यार्थिक नय (२) पर्यायार्थिक नय

द्रव्यार्थिक नयः–जो पर्यायों को गौण मान कर द्रव्य को ही मुख्यतया ग्रहण करे, उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं।

पर्यायार्थिक नयः–जो द्रव्य को गौण मान कर पर्यायों को ही

अमुक रंग का, अमुक आकार वाला, और अमुक समय में बना है इत्यादि विशेष पर्यायों–अवस्थाओं को जानना।

(ठाणांग २, उद्देशा १, सूत्र ७१)

१५-परोक्ष ज्ञान के दो भेदः-

(१) आभिनिबोधिक ज्ञान (मतिज्ञान) (२) श्रुतज्ञान

आभिनिबोधिक ज्ञानः–पांचों इन्द्रियों और मन के द्वारा योग्य देश में रहे हुए पदार्थ का जो ज्ञान होता है, वह आभिनिबोधिक ज्ञान या मतिज्ञान कहलाता है।

(पन्नवणा, पद २६) (ठाणांग २, उद्देशा १, सूत्र ७१)

श्रुतज्ञानः–शास्त्रों को सुनने और पढ़ने से इन्द्रिय और मन के द्वारा जो ज्ञान हो, वह श्रुतज्ञान है।

(भगवती शतक ८, उद्देशा २)

अथवा

मतिज्ञान के बाद में होने वाले एवं शब्द तथा अर्थ का विचार करने वाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। जैसे–"घट" शब्द सुनने पर उसके बनाने वाले का, उसके रंग और आकार आदि का विचार करना।

(नन्दी सूत्र) (ठाणांग २, उद्देशा १, सूत्र ७१) (कर्म ग्रन्थ, प्रथम भाग)

१६-श्रुतज्ञान के दो भेदः-

(१) अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञान। (२) अङ्गबाह्य श्रुतज्ञान

अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञान–जिन आगमों में गणधरों ने तीर्थंकर भगवान् के उपदेश को ग्रंथित किया है, उन आगमों को अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञान कहते हैं। आचाराङ्ग आदि बारह अङ्गों का ज्ञान अङ्गप्रविष्ट श्रुतज्ञान है।

अङ्गबाह्य श्रुतज्ञानः–द्वादशांगी के बाहर का शास्त्रज्ञान अङ्गबाह्य श्रुतज्ञान कहलाता है। जैसे–दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि।

(नन्दी सूत्र ४४) (ठाणांग २, उद्देशा १, सूत्र ७१)

१७-नय के दो भेदः-

(१) द्रव्यार्थिक नय (२) पर्यायार्थिक नय

द्रव्यार्थिक नयः–जो पर्यायों को गौण मान कर द्रव्य को ही मुख्यतया ग्रहण करे, उसे द्रव्यार्थिक नय कहते हैं।

पर्यायार्थिक नयः–जो द्रव्य को गौण मान कर पर्यायों को ही

मुख्यतया ग्रहण करे, उसे पर्यायार्थिक नय कहते हैं।

(प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार, परिच्छेद ७)

१८-धर्म की व्याख्या और उसके भेदः-

(१) जो दुर्गति में गिरते हुए प्राणी को धारण करे और सुगति में पहुंचावे, उसे धर्म कहते हैं।

(दशवैकालिक, अध्ययन १, गाथा १ की टीका)

अथवा

(२) आगम के अनुसार इस लोक और परलोक के सुख के लिए हेय को छोड़ने और उपादेय को ग्रहण करने की जीव की प्रवृत्ति को धर्म कहते हैं।

(धर्मसंग्रह)

अथवा

(३) वत्थु सहावो धम्मो, खन्ती पमुहो दसविहो धम्मो।
जीवाणं रक्खणं धम्मो, रयणतयं च धम्मो।।

(१) वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। (२) क्षमा, निर्लोभता आदि दस लक्षण रूप धर्म है। (३) जीवों की रक्षा करना—बचाना, यह भी धर्म है। (४) सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र रूप रत्नत्रय को भी धर्म कहते हैं।

सारांश—जिस अनुष्ठान या कार्य्य से निःश्रेयस्—कल्याण की प्राप्ति हो वही धर्म है।

धर्म के दो भेद हैं:— (१) श्रुतधर्म (२) चारित्र धर्म

श्रुतधर्म—अंग और उपांग रूप वाणी को श्रुतधर्म कहते हैं। वाचना, पृच्छना, आदि स्वाध्याय के भेद भी श्रुतधर्म कहलाते हैं।

चारित्र धर्मः—कर्मों के नाश करने की चेष्टा चारित्र धर्म है।

अथवा

मूल गुण और उत्तर गुणों के समूह को चारित्र धर्म कहते हैं। अर्थात् क्रिया रूप धर्म ही चारित्र धर्म है।

(ठाणांग २, उद्देशा १, सूत्र ७२)

१९-श्रुतधर्म के दो भेदः-

(१) सूत्रश्रुतधर्म (२) अर्थश्रुतधर्म

सूत्रश्रुतधर्म—(शब्द रूप श्रुतधर्म) द्वादशांगी और उपांग आदि के मूलपाठ को सूत्रश्रुतधर्म कहते हैं।

अर्थश्रुतधर्म–द्वादशांगी और उपांग आदि के अर्थ को अर्थश्रुत–धर्म कहते हैं।

(ठाणांग २, उद्देशा १, सूत्र ७२)

२०-चारित्र धर्म के दो भेदः-

(१) अगार चारित्र धर्म (२) अनगार चारित्र धर्म

अगार चारित्र धर्मः–अगारी (श्रावक) के देश विरति धर्म को अगार चारित्र धर्म कहते हैं।

अनगार चारित्र धर्मः–अनगार (साधु) के सर्व विरति धर्म को अनगार चारित्र धर्म कहते हैं। सर्व विरति रूप धर्म में–तीन करण तीन योग से त्याग होता है।

(ठाणांग २, उद्देशा १, सूत्र ७२)

२१-ऊनोदरी की व्याख्या और भेदः-

भोजन आदि के परिमाण और क्रोध आदि के आवेग को कम करना ऊनोदरी है।

ऊनोदरी के दो भेद–(१) द्रव्य ऊनोदरी (२) भाव ऊनोदरी

द्रव्य ऊनोदरीः–भंड उपकरण और आहार पानी का शास्त्र में जो परिमाण बतलाया गया है, उसमें कमी करना द्रव्य ऊनोदरी है। अतिसरस और पौष्टिक आहार ऊनोदरी में वर्जनीय है।

(भगवती शतक ७, उद्देशा १)

भाव ऊनोदरीः–क्रोध, मान, माया और लोभ में कमी करना, अल्प शब्द बोलना, क्रोध के वश होकर भाषण न करना तथा हृदय में रहे हुए क्रोध को शान्त करना आदि भाव ऊनोदरी है।

(भगवती शतक २५, उद्देशा ७)

२२-प्रवचन माताः-

पांच समिति, तीन गुप्ति को प्रवचन माता कहते हैं। द्वादशांग रूप वाणी (प्रवचन) शास्त्र की जन्मदात्री होने से माता के समान यह माता है। इन्हीं आठ प्रवचन माता के अन्दर सारे शास्त्र समा जाते हैं।

प्रवचन माता के दो भेद–(१) समिति (२) गुप्ति

समितिः–प्राणातिपात से निवृत्त होने के लिए यत्नपूर्वक मन, वचन, काया की प्रवृत्ति को समिति कहते हैं।

गुप्तिः–मन, वचन, काया के शुभ और अशुभ व्यापार को

रोकना या आते हुए नवीन कर्मों को रोकना गुप्ति है।

(उत्तराध्ययन, अध्ययन २४)

२३-इन्द्रिय की व्याख्या और भेदः-

इन्द्र अर्थात् आत्मा, जिससे पहचाना जाय उसे इन्द्रिय कहते हैं। जैसे–एकेन्द्रिय जीव स्पर्शनेन्द्रिय से पहचाना जाता है।

इन्द्रिय के दो भेदः–(१) द्रव्येन्द्रिय (२) भावेन्द्रिय

द्रव्येन्द्रियः–चक्षु आदि इन्द्रियों के बाह्य और आभ्यन्तर पौद्गलिक आकार (रचना) को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

भावेन्द्रियः–आत्मा ही भावेन्द्रिय है। भावेन्द्रिय लब्धि और उपयोग रूप होती है।

(तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय २) (पन्नवणा, पद १५)

२४-द्रव्येन्द्रिय के दो भेदः-

(१) निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय (२) उपकरण द्रव्येन्द्रिय

निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रियः–इन्द्रियों के आकार विशेष को निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय कहते हैं।

उपकरण द्रव्येन्द्रियः–दर्पण के समान अत्यन्त स्वच्छ पुद्गलों की रचना विशेष को उपकरण द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। उपकरण द्रव्येन्द्रिय के नष्ट हो जाने पर आत्मा विषय को नहीं जान सकता।

(तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय २)

२५-भावेन्द्रिय के दो भेदः-

(१) लब्धि (२) उपयोग

लब्धि भावेन्द्रियः–ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्षयोपशम होने पर पदार्थों के (विषय के) जानने की शक्ति को लब्धि भावेन्द्रिय कहते हैं।

उपयोग भावेन्द्रियः–ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के क्षयोपशम होने पर पदार्थों के जानने रूप, आत्मा के व्यापार को उपयोग भावेन्द्रिय कहते हैं।

जैसे–कोई साधु मुनिराज द्रव्यानुयोग, चरितानुयोग, गणितानुयोग, धर्म कथानुयोग रूप चारों अनुयोगों के ज्ञाता हैं पर वे जिस समय द्रव्यानुयोग का व्याख्यान कर रहे हैं, उस समय उनमें द्रव्यानुयोग उपयोग रूप से विद्यमान है एवं शेष अनुयोग लब्धि रूप से

विद्यमान हैं।

(तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय २)

२६-बंधन की व्याख्या और भेदः-

जिसके द्वारा कर्म और आत्मा क्षीर–नीर की तरह एकरूप हो जाते हैं, उसे बंधन कहते हैं।

बंधन के दो भेदः–(१) राग बंधन (२) द्वेष बंधन

राग बंधनः–जिससे जीव अनुरक्त–आसक्त होता है, उसे राग बंधन कहते हैं। राग से होने वाले बंधन को राग बंधन कहते हैं।

द्वेष बंधनः–द्वेष से होने वाला बंधन द्वेष बंधन कहलाता है।

(ठाणांग २, उद्देशा ४, सूत्र ६४)

२७-कर्म की व्याख्या और भेदः-

जीव के द्वारा मिथ्यात्व, कषाय आदि हेतु से जो कार्मण वर्गणा ग्रहण की जाती है, उसे कर्म कहते हैं। यह कार्मण वर्गणा एक प्रकार की अत्यन्त सूक्ष्म रज यानि पुद्‌गल स्कन्ध होती है। जिसे इन्द्रियाँ सूक्ष्मदर्शक यंत्र (माइक्रोस्कोप) के द्वारा भी नहीं जान सकती हैं। सर्वज्ञ या परम अवधिज्ञानी ही उसे जान सकते हैं।

कर्म के दो भेदः–(१) घाती कर्म (२) अघाती कर्म
(१) सोपक्रम कर्म (२) निरुपक्रम कर्म

घाती कर्मः–जो कर्म आत्मा के स्वाभाविक गुणों का घात करे, वह घाती कर्म है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय ये चार घाती कर्म हैं। इनके नाश हुए बिना केवलज्ञान नहीं हो सकता।

(हरिभद्रीयाष्टक ३०)

अघाती कर्मः–जो कर्म आत्मा के स्वाभाविक गुणों का घात नहीं करते वे अघाती कर्म हैं। अघाती कर्मों का असर आत्मा की वैभाविक प्रकृति, शरीर, इन्द्रिय, आयु आदि पर होता है। अघाती कर्म केवलज्ञान में बाधक नहीं होते। जब तक शरीर है, तब तक अघाती कर्म भी जीव के साथ ही रहते हैं। वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र–ये चारों अघाती कर्म हैं।

(कम्मपयड़ि, पृष्ठ ६ टीका)

सोपक्रम कर्मः–जिस कर्म का फल, उपदेश आदि से शान्त हो जाय, वह सोपक्रम कर्म है।

निरुपक्रम कर्मः–जो कर्म बंध के अनुसार ही फल देता है, वह निरुपक्रम कर्म है। जैसे–निकाचित कर्म।

(विपाक सूत्र, अध्ययन ३)

२८-मोहनीय कर्म की व्याख्या और भेदः-

जो कर्म आत्मा की हित और अहित पहचानने और तद्नुसार आचरण करने की बुद्धि को मोहित (नष्ट) कर देता है, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। जैसे–मदिरा मनुष्य के सद्–असद् विवेक को नष्ट कर देती है।

मोहनीय कर्म के दो भेदः–

(१) दर्शन मोहनीय (२) चारित्र मोहनीय

दर्शन मोहनीयः–जो पदार्थ जैसा है, उसे उसी रूप में समझना, यह दर्शन है अर्थात् तत्त्वार्थ श्रद्धान को दर्शन कहते हैं। यह आत्मा का गुण है। इस गुण के मोहित (घात) करने वाले कर्म को दर्शन मोहनीय कहते हैं। सामान्य उपयोग रूप दर्शन से यह दर्शन भिन्न है।

चारित्र मोहनीयः–जिसके द्वारा आत्मा अपने असली स्वरूप को पाता है, उसे चारित्र कहते हैं। यह भी आत्मा का गुण है। इसको मोहित (घात) करने वाले कर्म को चारित्र मोहनीय कहते हैं।

(कर्मग्रन्थ पहला १३, १४ गाथा) (ठाणांग २, उद्देशा ४, सूत्र १०५)

२९-चारित्र मोहनीय के दो भेदः-

(१) कषाय मोहनीय (२) नोकषाय मोहनीय

कषाय मोहनीयः–कष अर्थात् जन्म–मरण रूप संसार की प्राप्ति जिसके द्वारा हो, वह कषाय है। (कर्मग्रन्थ पहला)

अथवा

आत्मा के शुद्ध स्वभाव को जो मलिन करता है, उसे कषाय कहते हैं। कषाय ही कषाय मोहनीय है।

(पन्नवणा पद १४ टीका)

नोकषाय मोहनीयः–कषायों के उदय के साथ जिनका उदय होता है, वे नोकषाय हैं। अथवा–कषायों को उभाड़ने वाले (उत्तेजित करने वाले) हास्यादि नवक को नोकषाय मोहनीय कहते हैं।

(कर्मग्रन्थ पहला, गाथा १७)

३०-आयु की व्याख्या और भेदः-

जिसके कारण जीव भव विशेष में, नियत शरीर में, नियत

काल तक रुका रहे, उसे आयु कहते हैं।

आयु के दो भेदः—(१) सोपक्रम आयु (२) निरुपक्रम आयु

सोपक्रम आयुः—जो आयु पूरी भोगे बिना कारण विशेष (सात कारण) से अकाल में टूट जाय, वह सोपक्रम आयु है।

निरुपक्रम आयुः—जो आयु बंध के अनुसार पूरी भोगी जाती है, बीच में नहीं टूटती, वह निरुपक्रम आयु है। जैसे—तीर्थंकर, देव, नारक आदि की आयु।

(भगवती शतक २०, उद्देशा १०)

(सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम अध्याय २)

३१-स्थिति की व्याख्या और भेदः-

काल मर्यादा को स्थिति कहते हैं।

स्थिति के दो भेदः—(१) कायस्थिति (२) भवस्थिति

कायस्थितिः—किसी एक ही काय (निकाय) में मर कर पुनः उसी में जन्म ग्रहण करने की स्थिति को कायस्थिति कहते हैं। जैसे—पृथ्वी आदि के जीवों का पृथ्वी काय से चव कर पुनः असंख्यात काल तक पृथ्वी ही में उत्पन्न होना।

भवस्थितिः—जिस भव में जीव उत्पन्न होता है, उसके उसी भव की स्थिति को भवस्थिति कहते हैं।

(ठाणांग २, उद्देशा ३, सूत्र ८५)

३२-काल के भेद और व्याख्याः-

पदार्थों के बदलने में जो निमित्त हो, उसे काल कहते हैं। अथवाः—समय के समूह को काल कहते हैं।

काल की दो उपमायेंः—(१) पल्योपम (२) सागरोपम

पल्योपमः—पल्य अर्थात् कूप की उपमा से गिना जाने वाला काल पल्योपम कहलाता है।

सागरोपमः—दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम को सागरोपम कहते हैं।

(ठाणांग २, उद्देशा ४, सूत्र ९९)

३३-काल चक्र के दो भेदः-

(१) उत्सर्पिणी (२) अवसर्पिणी

उत्सर्पिणीः—जिस काल में आयु, शरीर, बल आदि की उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाय, वह उत्सर्पिणी है। यह दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है।

अवसर्पिणीः–जिस काल में आयु, बल, शरीर आदि भाव उत्तरोत्तर घटते जायं, वह अवसर्पिणी है। यह भी दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है।

(ठाणांग २, उद्देशा १, सूत्र ७४)

३४-आकाशः-

जो जीव और पुद्गलों को रहने के लिए स्थान दे, वह आकाश है।

आकाश के दो भेदः–(१) लोकाकाश (२) अलोकाकाश

लोकाकाशः–जहां धर्मास्तिकाय आदि छः द्रव्य हों, वह लोकाकाश है।

अलोकाकाशः–जहां आकाश के सिवा और कोई द्रव्य न हो, वह अलोकाकाश है।

(ठाणांग २, उद्देशा १, सूत्र ७४)

३५-कारण के दो भेदः-

(१) उपादान कारण (२) निमित्त कारण

उपादान कारणः–(समवायी) जो कारण स्वयं कार्य्य रूप में परिणत होता है, उसे उपादान कारण कहते हैं। जैसे–मिट्टी, घड़े का उपादान कारण है। अथवा दूध, दही का उपादान कारण है। निमित्त कारणः–जो कारण कार्य्य के होने में सहायक हो और कार्य के हो जाने पर अलग हो जाय, उसे निमित्त कारण कहते हैं। जैसे–घड़े के निमित्त कारण चक्र (चाक), दण्ड आदि हैं।

(विशेषावश्यक भाष्य, गाथा २०९६)

३६-दंड के दो भेदः-

(१) अर्थदण्ड (२) अनर्थदण्ड

१. अर्थदण्डः–अपने और दूसरे के लिए त्रस और स्थावर जीवों की जो हिंसा होती है, उसे अर्थदण्ड कहते हैं। २. अनर्थदण्डः–बिना किसी प्रयोजन के, जीव हिंसा रूप कार्य्य करना अनर्थदण्ड है।

(ठाणांग २, उद्देशा १, सूत्र ६९)

३७-प्रमाणः-

अपना और दूसरे का निश्चय करने वाले सच्चे ज्ञान को प्रमाण कहते हैं। प्रमाण ज्ञान वस्तु को सब दृष्टि–बिन्दुओं से जानता है अर्थात् वस्तु के सब अंशों को जानने वाले ज्ञान को प्रमाण ज्ञान कहते हैं।

(प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार, परिच्छेद १)

नयः--प्रमाण के द्वारा जानी हुई अनन्त--धर्मात्मक वस्तु के किसी एक अंश या गुण को मुख्य करके जानने वाले ज्ञान को नय कहते हैं। नयज्ञान में वस्तु के अन्य अंश या गुणों की ओर उपेक्षा या गौणता रहती है।

(प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार, परिच्छेद ७)

३८-मुख्यः-

पदार्थ के अनेक धर्मों में से, जिस समय, जिस धर्म की विवक्षा होती है, उस समय वही धर्म प्रधान माना जाता है। इसी तरह अनेक वस्तुओं में विवक्षित वस्तु प्रधान होती है। प्रधान को ही मुख्य कहते हैं।

गौणः--मुख्य धर्म के सिवाय सभी अविवक्षित धर्म गौण कहलाते हैं। इसी तरह अनेक वस्तुओं में से अविवक्षित वस्तु भी गौण कहलाती है। जैसेः--आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि अनन्त धर्म हैं। उनमें से, जिस समय ज्ञान की विवक्षा होती है, उस समय ज्ञान मुख्य है और बाकी धर्म गौण हो जाते हैं।

अथवा

"समयं गोयम! मा पमायए"

अर्थात्:--हे गौतम ! समय मात्र भी प्रमाद न करो। यह उपदेश भगवान् महावीर स्वामी ने गौतम स्वामी को सम्बोधित करते हुए फरमाया है। यह उपदेश मुख्य रूप से गौतम स्वामी को है किन्तु गौण रूप से चतुर्विध श्रीसंघ को है। इसलिए यहां गौतम स्वामी मुख्य हैं और चतुर्विध श्रीसंघ गौण है।

(तत्वार्थ सूत्र, ५ वां अध्याय, सूत्र ३१)

३६-निश्चयः-

वस्तु के शुद्ध, मूल और वास्तविक स्वरूप को निश्चय कहते हैं। अर्थात् वस्तु का निज स्वभाव, जो सदा रहता है, वह निश्चय है। जैसे--निश्चय में कोयल का शरीर पाँचों वर्ण वाला है क्योंकि पांच वर्णों के पुद्गलों से बना हुआ है। आत्मा सिद्ध स्वरूप है।

व्यवहारः--वस्तु का लोकसम्मत स्वरूप व्यवहार है। जैसे--कोयल काली है। आत्मा मनुष्य, तिर्यञ्च रूप है। निश्चय में ज्ञान प्रधान रहता है और व्यवहार में क्रियाओं की प्रधानता रहती है।

निश्चय और व्यवहार परस्पर एक दूसरे के सहायक (पूरक) हैं।

(द्रव्यानुयोग तर्कणा, अध्याय ८ वां) (विशेषावश्यक गाथा ३५८६)

४०-उत्सर्गः-

सामान्य नियम को उत्सर्ग कहते हैं। जैसे–साधु को तीन कारण और तीन योग से प्राणियों की हिंसा नहीं करनी चाहिए।

(वृहत् कल्प वृत्ति सभाष्य)

अपवादः–मूल नियम की रक्षा के हेतु आपत्ति आने पर अन्य मार्ग ग्रहण करना अपवाद है। जैसे–साधु का नदी पार करना आदि।

(अभिधान राजेन्द्र कोष, दूसरा भाग, पृष्ठ ११६६–६७)

४१-सामान्यः-

वस्तु के जिस धर्म के कारण बहुत से पदार्थ एक सरीखे मालूम पड़ें तथा एक ही शब्द से कहे जायं, उसे सामान्य कहते हैं।

विशेषः–सजातीय और विजातीय पदार्थों से भिन्नता का बोध कराने वाला धर्म विशेष कहा जाता है।

जैसेः–मनुष्य, नरक, तिर्यञ्च आदि सभी जीव रूप से एक–से हैं और एक ही जीव शब्द से कहे जा सकते हैं। इसलिए जीवत्व सामान्य है। यही जीवत्व, जीव द्रव्य को दूसरे द्रव्यों से भिन्न करता है, इसलिए विशेष भी है। घटत्व सभी घटों में और गोत्व सभी गौओं में एकता का बोध कराता है। इसलिए ये दोनों सामान्य हैं। "यह घट" इसमें एतद् घटत्व सजातीय दूसरे घटों से और विजातीय पटादि पदार्थों से भेद कराता है। इसलिए यह विशेष है। इसी तरह "चितकबरी" गाय में चितकबरापन सजातीय दूसरी लाल, पीली आदि गौओं से और विजातीय अश्वादि से भेद कराता है, इसलिए यह विशेष है।

वास्तव में सभी धर्म सामान्य और विशेष दोनों कहे जा सकते हैं। अपने से अधिक पदार्थों में रहने वाले धर्म की अपेक्षा प्रत्येक धर्म विशेष है। न्यून वस्तुओं में रहने वाले की अपेक्षा सामान्य है। घटत्व पुद्गलत्व की अपेक्षा विशेष है और कृष्ण घटत्व की अपेक्षा सामान्य है।

(स्याद्वादमञ्जरी, कारिका ४) (प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार, परिच्छेद ५)

४२-हेतुः-

जो साध्य के बिना न रहे, उसे हेतु कहते हैं। जैसे–अग्नि का

हेतु धूम। धूम, बिना अग्नि के कभी नहीं रहता।

साध्यः–जो सिद्ध किया जाय, वह साध्य है। साध्य वादी को इष्ट, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अबाधित और असिद्ध होना चाहिए। जैसे–पर्वत में अग्नि है क्योंकि वहाँ धुआँ है। यहां अग्नि साध्य है। अग्नि वादी को अभिमत है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अबाधित है और पर्वत में अभी तक सिद्ध नहीं की गई है, अतः असिद्ध भी है।

(रत्नाकरावतारिका, परिच्छेद ३)

४३-कार्यः-

सम्पूर्ण कारणों का संयोग होने पर उनके व्यापार (क्रिया) के अनन्तर जो अवश्य होता है, उसे कार्य कहते हैं।

कारण–जो नियत रूप से कार्य्य के पहले रहता हो और कार्य्य में साधक हो। अथवाः–जिसके न होने पर कार्य्य न हो, उसे कारण कहते हैं। जैसे–कुम्भकार, दण्ड, चक्र, चीवर और मिट्टी आदि घट के कारण हैं।

(न्यायकोष)

४४-आविर्भावः-

पदार्थ का अभिव्यक्त (प्रकट) होना आविर्भाव है।

तिरोभावः–पदार्थ का अप्रकट रूप में रहना या होना तिरोभाव है। जैसे–घास में घृत तिरोभाव रूप से विद्यमान है, किन्तु मक्खन के अन्दर घृत का आविर्भाव है। अथवा सम्यग्दृष्टि में केवल ज्ञान का तिरोभाव है। किन्तु तीर्थंकर भगवान् में केवलज्ञान का आविर्भाव है।

(न्यायकोष)

४५-प्रवृत्तिः-

मन, वचन, काया को शुभाशुभ कार्य्य (व्यापार) में लगाना प्रवृत्ति है।

निवृत्तिः–मन, वचन, काया को कार्य्य से हटा लेना निवृत्ति है।

४६-द्रव्यः-

जिसमें गुण और पर्याय हों, वह द्रव्य है।

गुणः–जो द्रव्य के आश्रित रहता है, वह गुण है। गुण सदैव द्रव्य के अन्दर ही रहता है। इसका स्वतन्त्र कोई स्थान नहीं है।

(तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय ५) (उत्तराध्ययन, अध्ययन २८)

४७-पर्यायः-

द्रव्य और गुणों में रहने वाली अवस्थाओं को पर्याय कहते हैं। जैसे--सोने के हार को तुड़वा कर कड़े बनवाये गये। सोना द्रव्य इन दोनों अवस्थाओं में कायम रहा किन्तु उसकी हालत बदल गई। हालत को ही पर्याय कहते हैं। पर्याय, गुण और द्रव्य दोनों में रहती है।

(उत्तराध्ययन, अध्ययन २८)

४८-आधारः-

जो वस्तु को आश्रय देवे, वह आधार है। जैसे--घड़ा घी का आधार है।

आधेयः--आधार के आश्रय में जो वस्तु रहती है, वह आधेय है। जैसे--घड़े में घृत है। यहां घड़ा आधार है और घृत (घी) आधेय।

(विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १४०६)

४९-आरम्भः-

हिंसादिक सावद्य कार्य्य आरम्भ है।

परिग्रहः--मूर्छा (ममता) को परिग्रह कहते हैं। धर्म साधन के लिए रक्खे हुए उपकरण को छोड़कर, सभी धन--धान्य आदि ममता के कारण होने से परिग्रह हैं।

(ठाणांग २)

यही कारण है कि धन--धान्यादि बाह्य परिग्रह माने गये हैं और मूर्छा (ममत्व--वृद्धि भाव) आभ्यन्तर परिग्रह मानी गई है।

(ठाणांग २, उद्देशा १, सूत्र ६४)

इन आरम्भ परिग्रह को ज्ञपरिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्याग न करने से जीव केवली प्ररूपित धर्म[1] सुनने एवं बोधि[2] प्राप्त करने में, गृहस्थावास छोड़कर साधु[3] होने में, ब्रह्मचर्य्य[4] पालन करने में, विशुद्ध संयम[5] तथा संवर[6] प्राप्त करने में, शुद्ध मति[7], श्रुति[8], अवधि[9], मनः पर्यव[10] और केवलज्ञान[11] प्राप्त करने में असमर्थ होता है। किन्तु आरम्भ परिग्रह को ज्ञपरिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा से त्यागने वाला जीव उपर्युक्त ११ बोल प्राप्त करने में समर्थ होता है।

५०-अधिकरण की व्याख्या और उसके भेदः-

कर्म बन्ध के साधन, उपकरण या शस्त्र को अधिकरण कहते हैं।

अधिकरण के दो भेदः–

(१) जीवाधिकरण (२) अजीवाधिकरण

जीवाधिकरणः–कर्म बन्ध के साधन जीव या जीवगत कषायादि जीवाधिकरण हैं।

अजीवाधिकरणः–कर्म बन्ध में निमित्त जड़ पुद्गल अजीवाधिकरण हैं। जैसे–शस्त्र आदि।

(तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय ६)

५१-वेदनीय कर्म के दो भेदः-

(१) साता वेदनीय (२) असाता वेदनीय

साता वेदनीयः–जिस कर्म के उदय से आत्मा को अनुकूल विषयों की प्राप्ति हो तथा शारीरिक और मानसिक सुख का अनुभव हो, उसे साता वेदनीय कहते हैं।

असाता वेदनीयः–जिस कर्म के उदय से आत्मा को अनुकूल विषयों की अप्राप्ति से और प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति से दुःख का अनुभव होता है, उसे असाता वेदनीय कहते हैं।

(कर्मग्रन्थ, पहला भाग) (पन्नवणा, पद २३)

५२-बन्ध के दो भेदः-

(१) सर्वबन्ध (२) देशबन्ध

सर्वबन्ध–जो शरीर नये उत्पन्न होते हैं, उनके आरम्भ काल में आत्मा को सर्वबन्ध होता है अर्थात् नये शरीर का आत्मा के साथ बन्ध होने को सर्वबन्ध कहते हैं। औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर का उत्पत्ति के समय सर्वबन्ध होता है।

देशबन्धः–उत्पत्ति के बाद में, जब तक शरीर स्थिर रहते हैं तब तक होने वाला बन्ध देशबन्ध है। तैजस और कार्मण शरीर की नवीन उत्पत्ति नहीं होती। अतः उनमें सदा देशबन्ध ही होता है। औदारिक, वैक्रियक और आहारक शरीर में दोनों प्रकार का बन्ध होता है।

(कर्मग्रन्थ पहला, गाथा ३५)

५३-मरण के दो भेदः-

(१) सकाम मरण (२) अकाम मरण

सकाम मरणः–विषय–भोगों से निवृत्त होकर चारित्र में अनुरक्त रहने वाली आत्मा की आकुलता रहित एवं संलेखना करने से,

प्राणियों की हिंसा रहित जो मृत्यु होती है वह सकाम मरण है। उक्त जीवों के लिए मृत्यु भयप्रद न होकर उत्सवरूप होती है। सकाम मरण को पण्डितमरण भी कहते हैं।

अकाम मरणः—विषय—भोगों में गृद्ध रहने वाले अज्ञानी जीवों की न चाहते हुए भी अनिच्छापूर्वक जो मृत्यु होती है वह अकाम मरण है। इसी को बालमरण भी कहते हैं।

(उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन ५)

५४-प्रत्याख्यान के दो भेदः-

(१) दुष्प्रत्याख्यान (२) सुप्रत्याख्यान

दुष्प्रत्याख्यानः—प्रत्याख्यान और उसके विषय का पूरा स्परूप जाने बिना किया जाने वाला प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है। जैसे—कोई कहे कि मैंने प्राण (विकलेन्द्रिय) भूत (वनस्पति) जीव (पंचेन्द्रिय) सत्त्व (पृथ्वीकायादि चार स्थावर) की हिंसा का प्रत्याख्यान किया है, पर उसे जीव, अजीव, त्रस, स्थावर आदि का ज्ञान नहीं है तो उसके प्रत्याख्यान की बात कहना असत्य है एवं वह उक्त जीव हिंसा से निवृत्त नहीं है। अतएव उसका प्रत्याख्यान दुष्प्रत्याख्यान है।

सुप्रत्याख्यानः—प्रत्याख्यान और उसके विषय का पूरा स्वरूप जानने वाले का प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है। जैसे—उपरोक्त रीति से प्राण, भूत, जीव, सत्त्व की हिंसा का प्रत्याख्यान करने वाला पुरुष यदि जीव, त्रस, स्थावर आदि के स्वरूप का पूरा जानकार है तो उसके प्रत्याख्यान की बात कहना सत्य है और वह प्रत्याख्यान करने वाला जीवों की हिंसा से निवृत्त होता है। अतएव उसका प्रत्याख्यान सुप्रत्याख्यान है।

(भगवती शतक ७, उद्देशा २ के आधार से)

५५-गुण के दो प्रकार से दो भेदः-

(१) मूल गुण (२) उत्तर गुण

(१) स्वाभाविक गुण (२) वैभाविक गुण

मूल गुणः—चारित्र रूपी वृक्ष के मूल (जड़) के समान जो हों, वे मूल गुण हैं। साधु के लिए पांच महाव्रत और श्रावक के लिए पांच अणुव्रत मूल गुण है।

उत्तर गुणः—मूल गुण की रक्षा के लिए चारित्र रूपी वृक्ष की

शाखा, प्रशाखावत् जो गुण हैं, वे उत्तर गुण हैं। जैसे–साधु के लिए पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, तप, प्रतिमा, अभिग्रह आदि और श्रावक के लिए दिशाव्रत आदि।

(पंचाशक, विवरण ५) (सूयगडांग, सूत्र १, अध्ययन १४)

स्वाभाविक गुणः–पदार्थों के निज गुणों को स्वाभाविक गुण कहते हैं। जैसे–आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि गुण।

वैभाविक गुणः– अन्य द्रव्यों के सम्बन्ध से जो गुण हों और स्वाभाविक न हों, वे वैभाविक गुण हैं। जैसे–आत्मा के राग, द्वेष आदि।

५६-श्रेणी के दो भेदः-

श्रेणीः–मोहके उपशम और क्षय द्वारा आत्मविकास की ओर आगे बढ़ने वाले जीवों के मोह–कर्म के उपशम तथा क्षय करने के क्रम को श्रेणी कहते हैं। श्रेणी के दो भेद हैं।

(१) उपशम श्रेणी (२) क्षपक श्रेणी

उपशम श्रेणीः–आत्मविकास की ओर अग्रगामी जीवों के मोह उपशम करने के क्रम को उपशम श्रेणी कहते हैं।

उपशम श्रेणी का आरम्भ इस प्रकार होता हैः–उपशम श्रेणी को अंगीकार करने वाला जीव प्रशस्त अध्यवसायों में रहा हुआ पहले एक साथ अन्तर्मुहूर्त्त प्रमाण काल में अनन्तानुबन्धी कषायों को उपशान्त करता है। इसके बाद अन्तर्मुहूर्त्त में एक साथ दर्शन मोह की तीनों प्रकृतियों का उपशम करता है। इसके बाद छठे और सातवें गुणस्थान में कई बार आने–जाने के बाद वह जीव आठवें गुणस्थान में आता है। आठवें गुणस्थान में पहुँच कर श्रेणी का आरम्भक यदि पुरुष हो तो अनुदीर्ण नपुंसक वेद का उपशम करता है और फिर स्त्री वेद को दबाता है। इसके बाद हास्यादि छः कषायों का उपशम कर पुरुष वेद का उपशम करता है। यदि उपशम श्रेणी करने वाली स्त्री हो तो वह क्रमशः नपुंसक वेद, पुरुष वेद, हास्यादि छः एवं स्त्री वेद का उपशम करती है। उपशम श्रेणी करने वाला यदि नपुंसक हो तो वह क्रमशः स्त्री वेद, पुरुष वेद, हास्यादि छः और नपुंसक वेद का उपशम करता है। इसके बाद अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण क्रोध का एक साथ उपशम कर, आत्मा संज्वलन क्रोध का उपशम करता है। फिर एक साथ वह अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम

कर संज्वलन मान का उपशम करता है। इसी प्रकार जीव अप्रत्याख्यानावरण माया और प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम कर संज्वलन माया का उपशम करता है। तथा अप्रत्याख्यानावरण एवं प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशम कर अन्त में संज्वलन लोभ का उपशम शुरू करता है। संज्वलन लोभ के उपशम का क्रम यह है:–पहले आत्मा संज्वलन लोभ के तीन भाग करता है। उनमें दो भागों का एक साथ उपशम कर, जीव तीसरे भाग के पुनः संख्यात खंड करता है और उनका पृथक्–पृथक् रूप से भिन्न–भिन्न काल में उपशम करता है। संख्यात खंडों में से जब अन्तिम खंड रह जाता है तब आत्मा उसे फिर असंख्यात खंडों में विभाजित करता है और क्रमशः एक–एक समय में एक–एक खंड का उपशम करता है। इस प्रकार वह आत्मा मोह की सभी प्रकृतियों का उपशम कर देता है।

अनन्तानुबन्धी कषाय और दर्शन मोह की सात प्रकृतियों का उपशम करने पर जीव अपूर्व करण (निवृत्ति बादर) नामक आठवें गुणस्थान वाला होता है। आठवें गुणस्थान से जीव अनिवृत्ति बादर नामक नववें गुणस्थान में आता है। वहां रहा हुआ जीव संज्वलन लोभ के तीसरे भाग के अन्तिम संख्यातवें खण्ड के सिवा मोह की शेष सभी प्रकृतियों का उपशम करता है और दसवें सूक्ष्म सम्पराय गुणस्थान में आता है। इस गुणस्थान में जीव उक्त संज्वलन के लोभ के अन्तिम संख्यातवें खण्ड के असंख्यात खंड कर उनको उपशान्त कर देता है और मोह की सभी प्रकृतियों का उपशम कर ग्यारहवें उपशान्त मोह गुण स्थान में पहुँच जाता है। उक्त प्रकृतियों का उपशम काल सर्वत्र अन्तर्मुहूर्त है एवं सारी श्रेणी का काल परिमाण भी अन्तर्मुहूर्त ही है। ग्यारहवें गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त परिमाण पूरी कर जीव उपशान्त मोह के उदय में आ जाने से वापिस नीचे के गुणस्थानों में आता है।

सिद्धान्तानुसार उपशम श्रेणी की समाप्ति कर वापिस लौटा हुआ जीव अप्रमत्त या प्रमत्त गुणस्थान में रहता है। पर कर्मग्रन्थ के मतानुसार उक्त जीव लौटता हुआ मिथ्यादृष्टि गुणस्थान तक भी पहुँच जाता है। यदि जीव श्रेणी में रहा हुआ ही काल करे

तो अनुत्तर विमान में अविरत सम्यग्दृष्टि देवता होता है।

उपशम श्रेणी का आरम्भ कौन करता है? इस विषय में मतभेद है। कई आचार्यों का कथन है कि अप्रमत्त संयत उपशम श्रेणी का आरम्भ करता है। तो कई का यह कहना है कि अविरत, देशविरत, प्रमत्त साधु और अप्रमत्त साधु, इनमें से कोई भी इस श्रेणी को कर सकता है।

कर्मग्रन्थ के मत से आत्मा एक भव में उत्कृष्ट दो बार उपशम श्रेणी करता है और सब भवों में उत्कृष्ट चार बार। कर्मग्रन्थ का यह भी मत है कि एक बार जिस जीव ने उपशम श्रेणी की है, वह जीव उसी जन्म में क्षपक श्रेणी कर मुक्त हो सकता है। किन्तु जिसने एक भव में दो बार उपशम श्रेणी की है वह उसी भव में क्षपक श्रेणी नहीं कर सकता है। सिद्धान्त मत से तो जीव एक जन्म में एक ही श्रेणी करता है। इसलिए जिसने एक बार उपशम श्रेणी की है वह उसी भव में क्षपक श्रेणी नहीं कर सकता।

(विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १२८४) (कर्मग्रन्थ, दूसरा भाग)

(लोक प्रकाश, तीसरा सर्ग, ११९६ से १२१५)

(अर्द्ध मागधी कोष, दूसरा भाग) (आवश्यक मलयगिरि, गाथा ११६ से १२३)

क्षपक श्रेणीः—आत्मविकास की ओर अग्रगामी जीवों के सर्वथा मोह को निर्मूल करने के क्रमविशेष को क्षपक श्रेणी कहते हैं। क्षपक श्रेणी में मोहक्षय का क्रम यह हैः—

सर्वप्रथम आत्मा अनन्तानुबन्धी कषाय—चतुष्टय का एक साथ क्षय करता है। इसके बाद अनन्तानुबन्धी कषाय के अवशिष्ट अनन्तवें भाग को मिथ्यात्व में डालकर दोनों का एकसाथ क्षय करता है। इसी तरह सम्यग् मिथ्यात्व और बाद में सम्यक्त्व मोहनीय का क्षय करता है। जिस जीव ने आयु बांध रखी है, वह यदि इस श्रेणी को स्वीकार करता है तो अनन्तानुबन्धी का क्षय करके रुक जाता है। इसके बाद कभी मिथ्यात्व का उदय होने पर वह अनन्तानुबन्धी कषाय को बांधता है। यदि मिथ्यात्व का भी क्षय कर चुका हो तो वह अनन्तानुबन्धी कषाय को नहीं बांधता। अनन्तानुबन्धी कषाय के क्षीण होने पर शुभ परिणाम से गिरे बिना ही वह जीव मर जाय तो देवलोक में जाता है। इसी प्रकार दर्शन सप्तक (अनन्तानुबन्धी कषाय—चतुष्टय और दर्शन मोहनीय की

तीन प्रकृतियों) के क्षीण होने पर वह देवलोक में जाता है। यदि परिणाम गिर जॉय और उसके बाद वह जीव काल करे तो परिणामानुसार शुभाशुभ गति में जाता है। जिस जीव ने आयु बाँध रखी है वह जीव अनन्तानुबन्धी का क्षय कर, दर्शन मोहनीय की प्रकृतियों का भी क्षय कर दे तो इसके बाद वह अवश्य विश्राम लेता है और जहां की आयु बांध रखी है वहां उत्पन्न होता है। जिस जीव ने आयु नहीं बांध रखी है, वह इस श्रेणी को आरम्भ करे तो वह इसे समाप्त किये बिना विश्राम नहीं लेता। दर्शन सप्तक को क्षय करने के बाद जीव नरक, तिर्यञ्च और देव आयु का क्षय करता है। इसके बाद अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय की आठों प्रकृतियों का एकसाथ क्षय करना शुरू करता है। इन आठों का पूरी तरह से क्षय करने नहीं पाता कि वह १६ प्रकृतियों का क्षय करता है। सोलह प्रकृतियाँ ये हैं:–

(१) नरकानुपूर्वी (२) तिर्यञ्चानुपूर्वी (३) नरक गति (४) तिर्यञ्च गति (५) एकेन्द्रिय जाति (६) द्वीन्द्रिय जाति (७) त्रीन्द्रिय जाति (८) चतुरिन्द्रिय जाति (६) आतप (१०) उद्योत (११) स्थावर (१२) साधारण (१३) सूक्ष्म (१४) निद्रानिद्रा (१५) प्रचलाप्रचला (१६) स्त्यानगृद्धि निद्रा।

इन सोलह प्रकृतियों का क्षय कर जीव अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय की आठों प्रकृतियों के अवशिष्ट अंश का क्षय करता है। इसके बाद क्षपक श्रेणी का कर्त्ता यदि पुरुष हुआ तो वह क्रमशः नपुंसक वेद, स्त्री वेद, हास्यादि षट्क का क्षय करता है। इस के बाद पुरुष वेद के तीन खण्ड करता है। इन तीन खण्डों में से प्रथम दो खण्डों का एकसाथ क्षय करता है और तीसरे खण्ड को संज्वलन क्रोध में डाल देता है। नपुंसक या स्त्री, यदि श्रेणी करने वाले हों तो वे अपने–अपने वेद का क्षय तो अन्त में करते हैं और शेष दो वेदों में से अधम वेद को प्रथम और दूसरे को उसके बाद क्षय करते हैं, जैसा कि उपशम श्रेणी में बताया जा चुका है। इसके बाद वह आत्मा संज्वलन, क्रोध, मान, माया और लोभ में से प्रत्येक का पृथक्–पृथक् क्षय करता है। पुरुष वेद की तरह इनके भी प्रत्येक के तीन–तीन खण्ड किये जाते हैं और तीसरा खण्ड आगे वाली प्रकृतियों के खण्डों में मिलाया जाता है।

जैसे क्रोध का तीसरा खण्ड मान में, मान का तीसरा खण्ड माया में, और माया का तीसरा खण्ड लोभ में मिलाया जाता है। लोभ के तीसरे खण्ड के संख्यात खण्ड करके एक–एक को श्रेणीवर्ती जीव भिन्न–भिन्न काल में क्षय करता है। इन संख्यात खण्डों में से अन्तिम खण्ड के, जीव पुनः असंख्यात खण्ड करता है और प्रति समय एक–एक का क्षय करता है।

यहां पर सर्वत्र प्रकृतियों का क्षपणकाल अन्तर्मुहूर्त्त जानना चाहिये। सारी श्रेणी का काल–परिमाण भी असंख्यात लघु अन्तर्मुहूर्त्त परिमाण एक बड़ा अन्तर्मुहूर्त्त जानना चाहिये।

इस श्रेणी का आरंभ करने वाला जीव उत्तम संहनन वाला होता है तथा उसकी अवस्था आठ वर्ष से अधिक होती है। अविरत, देशविरत, प्रमत्त, अप्रमत्त, गुणस्थानवर्ती जीवों में से कोई भी विशुद्ध परिणाम वाला जीव इस श्रेणी को कर सकता है। पूर्वधर, अप्रमादी और शुक्ल ध्यान से युक्त होकर इस श्रेणी को शुरू करते हैं।

दर्शन सप्तक का क्षय कर जीव आठवें गुण स्थान में आता है। इसके बाद संज्वलन लोभ के संख्यातवें खंड तक का क्षय, जीव नववें गुणस्थान में करता है और इसके बाद असंख्यात खंड का क्षय दसवें गुणस्थान में करता है। दसवें गुणस्थान के अंत में मोह की २८ प्रकृतियों का क्षय कर ग्यारहवें गुणस्थान का अतिक्रमण (उल्लंघन) करता हुआ जीव बारहवें क्षीण मोह गुणस्थान में पहुंचता है।

(विशेषावश्यक गाथा १३१३)

(द्रव्यलोक प्रकाश, तीसरा सर्ग, श्लोक १२१८ से १२३४ तक)

(कर्मग्रन्थ दूसरा भाग, भूमिका) (आवश्यक मलयगिरि, गाथा ११६ से १२३)

(अर्द्ध मागधी कोष, भाग दूसरा (खवर्ग)

५७-देवता के दो भेदः-

(१) कल्पोपपन्न (२) कल्पातीत

कल्पोपपन्नः–जिन देवों में छोटे–बड़े का भेद हो, वे कल्पोपपन्न देव कहलाते हैं। भवनपति से लेकर बारहवें देवलोक तक के देव कल्पोपपन्न हैं।

कल्पातीतः–जिन देवों में छोटे–बड़े का भेद न हो, जो सभी 'अहमिन्द्र' हैं, वे कल्पातीत हैं। जैसे–नव ग्रैवेयक और अनुत्तर

विमानवासी देव।

(तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय ४)

५८-अवग्रह के दो भेदः-

(१) अर्थावग्रह (२) व्यञ्जनावग्रह

अर्थावग्रहः–पदार्थ के अव्यक्त ज्ञान को अर्थावग्रह कहते हैं। अर्थावग्रह में पदार्थ के वर्ण, गन्ध आदि का ज्ञान होता है। इसकी स्थिति एक समय की है।

व्यञ्जनावग्रहः–अर्थावग्रह से पहले होने वाला अत्यन्त अव्यक्त ज्ञान व्यञ्जनावग्रह है। तात्पर्य्य यह है कि इन्द्रियों का पदार्थ के साथ सम्बन्ध होता है तब "किमपीदम्" (यह कुछ है) ऐसा अस्पष्ट ज्ञान होता है। यही ज्ञान अर्थावग्रह है। इससे पहले होने वाला अत्यन्त अस्पष्ट ज्ञान व्यञ्जनावग्रह कहलाता है। दर्शन के बाद व्यञ्जनावग्रह होता है। यह चक्षु और मन को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों से ही होता है। इसकी जघन्य स्थिति आवलिका के असंख्यातवें भाग की है और उत्कृष्ट दो से नौ श्वासोच्छ्वास तक है।

(कर्म ग्रन्थ, पहला भाग) (नन्दी सूत्र ३७)

५६-सामान्य के दो प्रकार से दो भेदः-

(१) महा सामान्य (२) अवान्तर सामान्य

(१) तिर्यक्सामान्य (२) ऊर्ध्वता सामान्य

महा सामान्य (पर सामान्य):–परम सत्ता, जिसमें जीवाजीवादि सम्पूर्ण पदार्थों की एक सरूपता का बोध हो, उसे महा सामान्य कहते हैं। जैसे "सत्" कहने से सभी पदार्थों का बोध हो जाता है। इसका विषय सब से अधिक है। अतः इसे महा सामान्य कहते हैं।

अवान्तर सामान्य (अपर सामान्य या सामान्य विशेष):– महा सामान्य की अपेक्षा जिसका विषय कम हो, किन्तु साथ ही जो सजातीय पदार्थों में एकता का बोध करावे, वह अवान्तर सामान्य है। जैसे– जीवत्व सब जीवों में एकता का सूचक है। किन्तु द्रव्यत्व आदि की अपेक्षा विशेष है।

तिर्यक्सामान्यः–भिन्न–भिन्न व्यक्तियों में रहने वाला साधारण धर्म तिर्यक्सामान्य है। जैसे–काली, पीली, सफेद आदि गौओं में गोत्व।

उर्ध्वता सामान्यः–एक ही वस्तु के पूर्वापर पर्यायों में रहने वाला साधारण धर्म उर्ध्वता सामान्य है। जैसे–कड़ा, कंकण, माला

आदि, एक ही सोने की क्रमिक अवस्थाओं में रहने वाला सुवर्णत्त्व।

(प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार, परिच्छेद ५ वां)

६०-द्रव्य के दो भेदः-

(१) रूपी (२) अरूपी

रूपीः-वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श जिसमें पाये जाते हों और जो मूर्त्त हो उसे रूपी द्रव्य कहते हैं। पुद्गल द्रव्य ही रूपी होता है।

अरूपीः-जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श न पाये जाते हों तथा जो अमूर्त्त हो उसे अरूपी कहते हैं। पुद्गल के अतिरिक्त सभी द्रव्य अरूपी हैं।

(तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय ५ वां)

६१-रूपी के दो भेदः-

(१) अष्टस्पर्शी (२) चतुःस्पर्शी

अष्टस्पर्शीः-वर्ण, गन्ध, रस तथा संस्थान के साथ जिसमें हल्का, भारी आदि आठों स्पर्श पाये जाते हों, उसे अष्टस्पर्शी या अठफरसी कहते हैं।

चतुःस्पर्शीः-वर्ण, गन्ध, रस तथा शीत, उष्ण, रुक्ष और स्निग्ध, ये चार स्पर्श जिसमें पाये जाते हों, उसे चतुःस्पर्शी या चौफरसी कहते हैं।

(भगवती शतक १२, उद्देशा ५)

६२-लक्षण की व्याख्या और भेदः-

बहुत-से मिले हुए पदार्थों में से किसी एक पदार्थ को जुदा करने वाले को लक्षण कहते हैं।

लक्षण के दो भेदः-(१) आत्म-भूत (२) अनात्म-भूत

आत्म-भूत लक्षणः-जो लक्षण वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ हो उसे आत्म-भूत लक्षण कहते हैं। जैसे-अग्नि का लक्षण उष्णता। जीव का लक्षण चैतन्य।

अनात्म-भूत लक्षणः-जो लक्षण वस्तु के स्वरूप में मिला हुआ न हो, उसे अनात्म-भूत लक्षण कहते हैं। जैसे-दण्डी पुरुष का लक्षण दण्ड। यहाँ दण्ड, पुरुष से अलग है। फिर भी वह दण्डी को अन्य पुरुषों से अलग कर, उसकी पहिचान करा ही देता है।

(न्याय दीपिका)

तीसरा बोल

(बोल नम्बर ६३ से १२८ तक)

६३-तत्त्व की व्याख्या और भेदः-

परमार्थ को तत्त्व कहते हैं।

तत्त्व तीन हैं:–(१) देव, (२) गुरु, (३) धर्म

देवः–कर्म–शत्रु का नाश करने वाले, अठारह दोषरहित, सर्वज्ञ, वीतराग, हितोपदेशक अरिहन्त भगवान् देव हैं।

(योग शास्त्र, प्रकरण २, श्लोक ४)

गुरुः–निर्ग्रन्थ (परिग्रहरहित), कनक–कामिनी के त्यागी, पंच महाव्रत के धारक, पांच समिति, तीन गुप्तियुक्त, षट्काय के जीवों के रक्षक, सत्ताईस गुणों से भूषित और वीतराग की आज्ञानुसार विचरने वाले, धर्मोपदेशक साधु–महात्मा गुरु हैं।

(योगशास्त्र, प्रकरण २, श्लोक ८)

धर्मः–सर्वज्ञ भाषित, दयामय, विनयमूलक, आत्मा और कर्म का भेदज्ञान कराने वाला, मोक्ष तत्त्व का प्ररूपक शास्त्र धर्म तत्त्व है।

नोटः–निश्चय में आत्मा ही देव है, ज्ञान ही गुरु है और उपयोग ही धर्म है।

(धर्मसंग्रह, अधिकार २, श्लोक २१, २२, २३ की टीका)

(योग शास्त्र, प्रकरण २, श्लोक ४ से ११ तक)

६४-सत्ता का स्वरूपः-

सत्ता अर्थात् वस्तु का स्वरूप उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप है। आवश्यक मलयगिरि द्वितीय खंड में सत्ता के लक्षण में "उप्पण्णेइ वा विगमेइ वा धुवेई वा" कहा है।

उत्पादः–नवीन पर्याय की उत्पत्ति होना उत्पाद है।

व्यय (विनाश):–विद्यमान पर्याय का नाश हो जाना व्यय है।

ध्रौव्यः–द्रव्यत्व रूप शाश्वत अंश का सभी पर्यायों में अनुवृत्ति रूप से रहना ध्रौव्य है।

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का भिन्न–भिन्न स्वरूप होते हुए भी ये परस्पर सापेक्षं हैं। इसीलिए वस्तु द्रव्य रूप से नित्य और पर्याय रूप से अनित्य मानी गई है।

(तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय ५ वाँ)

६५-लोक की व्याख्या और भेदः-

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय से व्याप्त सम्पूर्ण द्रव्यों के आधार रूप चौदह राजू परिमाण आकाश खण्ड को लोक कहते हैं। लोक का आकार जामा पहन कर कमर, पर दोनों हाथ रख कर, चारों ओर घूमते हुए पुरुष जैसा है। पैर से कमर तक का भाग अधोलोक है। उसमें सात नरक हैं। नाभि की जगह मध्य लोक है। उसमें द्वीप, समुद्र हैं। मनुष्य और तिर्यञ्चों की बस्ती है। नाभि के ऊपर का भाग ऊर्ध्वलोक है। उसमें गरदन से नीचे के भाग में बारह देवलोक हैं। गरदन के भाग में नव ग्रैवेयक हैं। मुंह के भाग में पांच अनुत्तर विमान हैं और मस्तक के भाग में सिद्ध शिला है।

लोक का विस्तार मूल में सात राजू है। ऊपर क्रम से घटते हुए सात राजू की ऊँचाई पर, चौड़ाई एक राजू है। फिर क्रम से बढ़कर साढ़े दस राजू की ऊँचाई पर, चौड़ाई पांच राजू है। फिर क्रम से घटकर चौदह राजू की ऊंचाई पर, एक राजू की चौड़ाई है। ऊर्ध्व और अधोदिशा में ऊंचाई चौदह राजू है।

लोक के तीन भेदः—

(१) ऊर्ध्वलोक, (२) अधोलोक, (३) तिर्यक्लोक

ऊर्ध्वलोकः—मेरु पर्वत के समतल भूमि—भाग के नौ सौ योजन ऊपर ज्योतिष चक्र के ऊपर का सम्पूर्ण लोक ऊर्ध्वलोक है। इसका आकार मृदंग जैसा है। यह कुछ कम सात राजू परिमाण है।

अधोलोकः—मेरु पर्वत के समतल भूमि—भाग के नौ सौ योजन नीचे का लोक अधोलोक है। इसका आकार उल्टा किये हुए शराव (सकोरे) जैसा है। यह कुछ अधिक सात राजू परिमाण है।

तिर्यक्लोकः—ऊर्ध्वलोक और अधोलोक के बीच में अठारह सौ योजन परिमाण तिर्छा रहा हुआ लोक तिर्यक्लोक है। इसका आकार झालर या पूर्ण चन्द्रमा जैसा है।

(लोक प्रकाश, भाग २, सर्ग १२)

(अभिधान राजेन्द्रकोष, भाग ६, पृष्ठ ६५७)

६६-जन्म की व्याख्या और भेदः-

पूर्व भव का स्थूल शरीर छोड़कर जीव तैजस और कार्मण शरीर के साथ विग्रह गति द्वारा अपने नवीन उत्पत्ति स्थान में जाता है। वहां नवीन भव योग्य स्थूल शरीर के लिए पहले--पहल आहार

ग्रहण करना जन्म कहलाता है।

जन्म के तीन भेदः-

(१) सम्मूर्छिम, (२) गर्भ, (३) उपपात

सम्मूर्छिम जन्मः—माता—पिता के संयोग के बिना उत्पत्ति स्थान में रहे हुए औदारिक पुद्गलों को शरीर के लिए ग्रहण करना सम्मूर्छिम जन्म कहलाता है।

गर्भ जन्मः—उत्पत्ति स्थान में रहे हुए पुरुष के शुक्र और स्त्री के शोणित के पुद्गलों को शरीर के लिए ग्रहण करना गर्भ जन्म है। अर्थात् माता—पिता के संयोग होने पर जिसका शरीर बने, उसके जन्म को गर्भ जन्म कहते हैं।

गर्भ से होने वाले जीव तीन प्रकार के होते हैंः—

(१) अण्डज (२) पोतज (३) जरायुज

उपपात जन्मः—जो जीव देवों की उपपात शय्या तथा नारकियों के उत्पत्ति स्थान में पहुंचते ही अन्तर्मुहूर्त्त में वैक्रिय पुद्गलों को ग्रहण करके युवावस्था को पहुंच जाँय, उनके जन्म को उपपात जन्म कहते हैं।

(तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय २)

६७-योनि की व्याख्या और भेदः-

उत्पत्ति स्थान अर्थात् जिस स्थान में जीव अपने कार्मण शरीर को औदारिकादि स्थूल शरीर के लिए ग्रहण किये हुए पुद्गलों के साथ एकमेक कर देता है, उसे योनि कहते हैं।

योनि के भेद इस प्रकार हैंः—

(१) सचित्त	(२) अचित्त	(३) सचित्ताचित्त
(१) शीत	(२) उष्ण	(३) शीतोष्ण
(१) संवृत्त	(२) विवृत्त	(३) संवृत्तविवृत्त

सचित्त योनिः—जो योनि जीव प्रदेशों से व्याप्त हो, उसे सचित्त योनि कहते हैं।

अचित्त योनिः—जो योनि जीव प्रदेशों से व्याप्त न हो, उसे अचित्त योनि कहते हैं।

सचित्ताचित्त योनिः—जो योनि किसी भाग में जीवयुक्त हो और किसी भाग में जीवरहित हो, उसे सचित्ताचित्त योनि कहते हैं।

देव और नारकियों की अचित्त योनि होती है। गर्भज जीवों

की मिश्र योनि (सचित्ताचित्त योनि) और शेष जीवों की तीनों प्रकार की योनियाँ होती हैं।

शीत योनिः—जिस उत्पत्ति स्थान में शीत स्पर्श हो, उसे शीत योनि कहते हैं।

उष्ण योनिः—जिस उत्पत्ति स्थान में उष्ण स्पर्श हो, वह उष्ण योनि है।

शीतोष्ण योनिः—जिस उत्पत्ति स्थान में कुछ शीत और कुछ उष्ण स्पर्श हो, उसे शीतोष्ण योनि कहते हैं।

देवता और गर्भज जीवों के शीतोष्ण योनि, तेजस्काय के उष्ण योनि, नारकीय जीवों के शीत और उष्ण योनि तथा शेष जीवों के तीनों प्रकार की योनियाँ होती हैं।

संवृत्त योनिः—जो उत्पत्ति स्थान ढका हुआ या दबा हुआ हो, उसे संवृत्त योनि कहते हैं।

विवृत्त योनिः—जो उत्पत्ति स्थान खुला हुआ हो, उसे विवृत्त योनि कहते हैं।

संवृत्तविवृत्त योनिः—जो उत्पत्ति स्थान कुछ ढका हुआ और कुछ खुला हुआ हो, उसे संवृत्तविवृत्त योनि कहते हैं।

नारक, देव और एकेन्द्रिय जीवों के संवृत्त, गर्भज जीवों के संवृत्तविवृत्त और शेष जीवों के विवृत्त योनि होती है।

(तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय २) (ठाणांग ३, उद्देशा १, सूत्र १४०)

६८-वेद की व्याख्या और उसके भेदः-

मैथुन करने की अभिलाषा को वेद (भाव वेद) कहते हैं। यह नोकषाय मोहनीय कर्म के उदय से होता है।

स्त्री—पुरुष आदि के बाह्य चिह्न द्रव्यवेद हैं। ये नाम कर्म के उदय से प्रकट होते हैं।

वेद के तीन भेदः—(१) स्त्री वेद (२) पुरुष वेद (३) नपुंसक वेद

स्त्री वेदः—जैसे पित्त के वश से मधुर पदार्थ की रुचि होती है उसी प्रकार जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुष के साथ रमण करने की इच्छा होती है, उसे स्त्री वेद कहते हैं।

पुरुष वेदः—जैसे कफ के वश से खट्टे पदार्थ की रुचि होती है वैसे ही जिस कर्म के उदय से पुरुष को स्त्री के साथ रमण करने की इच्छा होती है, उसे पुरुष वेद कहते हैं।

नपुंसक वेदः—जैसे पित्त और कफ के वश से मद्य के प्रति रुचि होती है उसी तरह जिस कर्म के उदय से नपुंसक को स्त्री और पुरुष--दोनों के साथ रमण करने की अभिलाषा होती है, उसे नपुंसक वेद कहते हैं।

नोटः—इन तीनों—स्त्री वेद, पुरुष वेद, और नपुंसक वेद का स्वरूप समझाने के लिए क्रमशः करीषाग्नि (छाणे की आग), तृणाग्नि और नगरदाह के दृष्टान्त दिये जाते हैं।

(कर्मग्रन्थ, पहला भाग) (अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग ६, पृष्ठ १४२७)
(वृहत्तकल्प, उद्देशा ४)

६९-जीव के तीन भेदः-

(१) संयत (२) असंयत (३) संयतासंयत

संयतः—जो सर्व सावद्य व्यापार से निवृत्त हो गया है, ऐसे छठे से चौदहवें गुणस्थानवर्ती और सामायिक आदि संयम वाले साधु को संयत कहते हैं।

असंयतः—पहले गुणस्थान से लेकर चौथे गुणस्थान वाले अविरति जीव को असंयत कहते हैं।

संयतासंयतः—जो कुछ अंशों में तो विरति का सेवन करता है और कुछ अंशों में नहीं करता, ऐसे देशविरति को अर्थात् पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक को संयतासंयत कहते हैं।

(भगवती शतक ६, उद्देशा ३)

७०-वनस्पति के तीन भेदः-

(१) संख्यात जीविक (२) असंख्यात जीविक
(३) अनन्त जीविक

संख्यात जीविकः—जिस वनस्पति में संख्यात जीव हों, उसे संख्यात जीविक वनस्पति कहते हैं। जैसे—नालि से लगा हुआ फूल।

असंख्यात जीविकः—जिस वनस्पति में असंख्यात जीव हों, उसे असंख्यात जीविक वनस्पति कहते हैं। जैसे—निम्ब, आम आदि के मूल, कन्द, स्कन्ध, छाल, शाखा, अंकुर वगैरह।

अनन्त जीविकः—जिस वनस्पति में अनन्त जीव हों, उसे अनन्त जीविक वनस्पति कहते हैं। जैसे--जमींकंद आलू आदि।

(ठाणांग ३, सूत्र १४२)

७१-मनुष्य के तीन भेदः-

(१) कर्मभूमिज (२) अकर्मभूमिज (३) अन्तरद्वीपिक

कर्मभूमिजः—कृषि (खेती), वाणिज्य, तप, संयम, अनुष्ठान वगैरह कर्मप्रधान भूमि को कर्मभूमि कहते हैं। पांच भरत, पांच ऐरावत, पांच महाविदेह क्षेत्र—ये १५ क्षेत्र कर्मभूमि हैं। कर्मभूमि में उत्पन्न मनुष्य कर्मभूमिज कहलाते हैं। ये असि, मसि और कृषि इन तीन कर्मों द्वारा निर्वाह करते हैं।

अकर्मभूमिजः—कृषि (खेती), वाणिज्य, तप, संयम, अनुष्ठान वगैरह कर्म जहां नहीं होते, उसे अकर्मभूमि कहते हैं। पांच हैमवत, पांच हैरण्यवत, पांच हरिवर्ष, पांच रम्यकवर्ष, पांच देवकुरु और पांच उत्तरकुरु ये तीस क्षेत्र अकर्मभूमि हैं। इन क्षेत्रों में उत्पन्न मनुष्य अकर्मभूमिज कहलाते हैं। यहां, असि, मसि और कृषि का व्यापार नहीं होता। इन क्षेत्रों में दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं। इन्हीं से अकर्मभूमिज मनुष्य निर्वाह करते हैं। कर्म न करने से एवं कल्पवृक्षों द्वारा भोग प्राप्त होने से इन क्षेत्रों को भोगभूमि और यहां के मनुष्यों को भोगभूमिज कहते हैं। यहां स्त्री—पुरुष जोड़े से जन्म लेते हैं। इसलिए इन्हें जुगलिया भी कहते हैं।

अन्तरद्वीपिकः—लवण समुद्र में चुल्ल हिमवन्त पर्वत के पूर्व और पश्चिम में दो—दो दाढ़ें हैं। इसी प्रकार शिखरी पर्वत के भी पूर्व और पश्चिम में दो—दो दाढ़ें हैं। एक—एक दाढ़ पर सात—सात द्वीप हैं। इस प्रकार दोनों पर्वतों की आठ दाढ़ों पर छप्पन द्वीप हैं। लवण समुद्र के बीच में होने से अथवा परस्पर द्वीपों में अन्तर होने से इन्हें अन्तरद्वीप कहते हैं। अकर्मभूमि की तरह इन अन्तरद्वीपों में भी कृषि, वाणिज्य आदि किसी भी तरह के कर्म नहीं होते। यहां पर भी कल्पवृक्ष होते हैं। अन्तरद्वीपों में रहने वाले मनुष्य अन्तरद्वीपिक कहलाते हैं। ये भी जुगलिया हैं।

(जीवाभिगम सूत्र) (पन्नवणा, प्रथम पद) (ठाणांग ३, उद्देशा १, सूत्र १३०)

७२-कर्म तीनः-

(१) असि (२) मसि (३) कृषि

असिकर्मः—तलवार आदि शस्त्र धारण कर उससे आजीविका करना असिकर्म है। जैसे—सेना की नौकरी।

मसिकर्मः—लेखन द्वारा आजीविका करना मसिकर्म है।

कृषिकर्मः—खेती द्वारा आजीविका करना कृषिकर्म है।

(जीवाभिगम, प्रतिपत्ति ३, उद्देशा ३) (अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग १, पृष्ठ ८४६)

(तन्दुल वयाली पयन्ना)

७३-तीन अच्छेद्यः-

(१) समय (२) प्रदेश (३) परमाणु

समयः—काल के अत्यन्त सूक्ष्म अंश को, जिसका विभाग न हो सके, समय कहते हैं।

प्रदेशः—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय के स्कन्ध या देश से मिले हुए अतिसूक्ष्म निरवयव अंश को प्रदेश कहते हैं।

परमाणुः—स्कन्ध या देश से अलग हुए निरंश पुद्गल को परमाणु कहते हैं।

इन तीनों का छेदन, भेदन, दहन, ग्रहण नहीं हो सकता। दो विभाग न हो सकने से ये अविभागी हैं। तीन विभाग न हो सकने से ये मध्यरहित हैं। ये निरवयव हैं। इसलिए इनका विभाग भी सम्भव नहीं है।

(ठाणांग ३, उद्देशा २, सूत्र १६६)

७४-जिन तीनः-

(१) अवधिज्ञानी जिन (२) मनःपर्ययज्ञानी जिन

(३) केवलज्ञानी जिन

राग—द्वेष (मोह) को जीतने वाले जिन कहलाते हैं। केवलज्ञानी तो सर्वथा राग—द्वेष को जीतने वाले एवं पूर्ण निश्चय—प्रत्यक्ष ज्ञानशाली होने से साक्षात् (उपचाररहित) जिन हैं। अवधिज्ञानी और मनःपर्ययज्ञानी निश्चय—प्रत्यक्ष ज्ञान वाले होते हैं। इसलिए वे भी जिन सरीखे होने से जिन कहलाते हैं। ये दोनों उपचार से जिन हैं और निश्चय—प्रत्यक्ष ज्ञान ही उपचार का कारण है।

(ठाणांग ३, उद्देशा ४, सूत्र २२०)

७५-दुःसंज्ञाप्य तीनः-

जो दुःखपूर्वक कठिनता से समझाये जाते हैं। वे दुःसंज्ञाप्य कहलाते हैं।

दुःसंज्ञाप्य तीनः—(१) द्विष्ट (२) मूढ़ (३) व्युद्ग्राहित।

द्विष्टः—तत्त्व या व्याख्याता के प्रति द्वेष होने से जो जीव

उपदेश अङ्गीकार नहीं करता, वह द्विष्ट है। इसलिए वह दुःसंज्ञाप्य होता है।

मूढ़ः—गुण—दोष का अजान, अविवेकी, मूढ़ पुरुष व्याख्याता के ठीक उपदेश का अनुसरण यथार्थ रूप से नहीं करता। इसलिए वह दुःसंज्ञाप्य होता है।

व्युद्ग्राहितः—कुव्याख्याता के उपदेश से विपरीत धारणा जिसमें जड़ पकड़ गई हो उसे समझाना भी कठिन है। इसलिए व्युद्ग्राहित भी दुःसंज्ञाप्य होता है।

(ठाणांग ३, उद्देशा ४, सूत्र २०३)

७६-धर्म के तीन भेदः-

(१) श्रुत धर्म (२) चारित्र धर्म (३) अस्तिकाय धर्म

नोटः—बोल नम्बर १८ में श्रुतधर्म और चारित्रधर्म की व्याख्या दी जा चुकी है।

(ठाणांग २, उद्देशा ३, सूत्र १८८)

अस्तिकाय धर्मः—धर्मास्तिकाय आदि को अस्तिकाय धर्म कहते हैं।

(ठाणांग ३, उद्देशा ४, सूत्र २१७)

सुअधीत, ध्यान और तप के भेद से भी धर्म तीन प्रकार का है।

७७-दर्शन के तीन भेदः-

(१) मिथ्या दर्शन (२) सम्यग् दर्शन (३) मिश्र दर्शन

(ठाणांग ३, सूत्र १८४)

मिथ्या दर्शनः—मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के उदय से अदेव में देवबुद्धि और अधर्म में धर्मबुद्धि आदि रूप आत्मा के विपरीत श्रद्धान को मिथ्या दर्शन कहते हैं।

(भगवती शतक ६, उद्देशा २)

सम्यग् दर्शनः—मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से आत्मा में जो परिणाम होता है, उसे सम्यग् दर्शन कहते हैं। सम्यग् दर्शन हो जाने पर मति आदि अज्ञान भी सम्यग् ज्ञान रूप में परिणत हो जाते हैं।

मिश्र दर्शनः—मिश्र मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा में कुछ अयथार्थ तत्त्व श्रद्धान होने को मिश्र दर्शन कहते हैं।

(भगवती शतक ८, उद्देशा २) (ठाणांग ३, उद्देशा ३, सूत्र १८४)

(विशेषावश्यक भाष्य, गाथा ४११)

७८-करण की व्याख्या और भेदः-

आत्मा के परिणाम विशेष को करण कहते हैं। करण के तीन भेदः–

(१) यथाप्रवृत्तिकरण (२) अपूर्वकरण (३) अनिवृत्तिकरण

यथाप्रवृत्तिकरणः–आयु कर्म के सिवाय शेष सात कर्मों में प्रत्येक की स्थिति को अन्तः कोटाकोटि सागरोपम परिमाण रखकर बाकी स्थिति को क्षय कर देने वाले समकित के अनुकूल आत्मा के अध्यवसाय विशेष को यथाप्रवृत्तिकरण कहते हैं।

अन्तःकोड़ाकोड़ी (कोटाकोटि) का आशय एक कोड़ाकोड़ी में पल्योपम के असंख्यातवें भाग न्यून स्थिति से है।

अनादिकालीन मिथ्यात्वी जीव, कर्मों की स्थिति को इस करण में उसी प्रकार घटाता है जिस प्रकार नदी में पड़ा हुआ पत्थर घिसते–घिसते गोल हो जाता है। अथवा घुणाक्षर न्याय से यानि घुण कीट से कुतराते–कुतराते जिस प्रकार काठ में अक्षर बन जाते हैं।

यथाप्रवृत्तिकरण करने वाला जीव ग्रन्थिदेश–रागद्वेष की तीव्रतम गांठ के निकट आ जाता है। पर उस गांठ का भेद नहीं कर सकता। अभव्य जीव भी यथाप्रवृत्तिकरण कर सकते हैं।

अपूर्वकरणः–भव्य जीव यथाप्रवृत्तिकरण से अधिक विशुद्ध परिणाम पा सकता है और शुद्ध परिणामों से राग–द्वेष की तीव्रतम गांठ को छिन्न–भिन्न कर सकता है। जिस परिणाम विशेष से भव्य जीव राग–द्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थि को लांघ जाता है–नष्ट कर देता है, उस परिणाम को अपूर्वकरण कहते हैं।

(विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १२०२ से १२१८)

नोटः–ग्रन्थिभेद के काल के विषय में मतभेद हैं। कोई आचार्य तो अपूर्वकरण में ग्रन्थिभेद मानते हैं और कोई अनिवृत्तिकरण में। और यह भी मन्तव्य है कि अपूर्वकरण में ग्रन्थिभेद आरम्भ होता है और अनिवृत्तिकरण में पूर्ण होता है। अपूर्वकरण दुबारा होता है या नहीं, इस विषय में भी दो मत हैं।

अनिवृत्तिकरणः–अपूर्वकरण परिणाम से जब राग–द्वेष की गांठ टूट जाती है, तब तो और भी अधिक विशुद्ध परिणाम होता है। इस विशुद्ध परिणाम को अनिवृत्तिकरण कहते हैं। अनिवृत्तिकरण

करने वाला जीव समकित को अवश्य प्राप्त कर लेता है।

(आवश्यक मलयगिरि, गाथा १०६--१०७ टीका)

(विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १२०२ से १२१८)

(प्रवचनसारोद्धार, गाथा १३०२ टीका) (कर्मग्रन्थ दूसरा भाग) (आगमसार)

७६-मोक्ष मार्ग के तीन भेदः-

(१) सम्यग्दर्शन (२) सम्यग्ज्ञान (३) सम्यग्चारित्र

सम्यग्दर्शनः—तत्त्वार्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से यह उत्पन्न होता है।

सम्यग्ज्ञानः—प्रमाण और नय से होने वाला जीवादि तत्त्वों का यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। वीर्यान्तराय कर्म के साथ ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने से यह उत्पन्न होता है।

सम्यग्चारित्रः—संसार की कारणभूत हिंसादि क्रियाओं का त्याग करना और मोक्ष की कारणभूत सामायिक आदि क्रियाओं का पालन करना सम्यग्चारित्र है। चारित्र मोहनीय के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से यह उत्पन्न होता है।

(उत्तराध्ययन, अध्ययन २८, गाथा ३०) (तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय १, सूत्र १)

८०-समकित के दो प्रकार से तीन भेदः-

(१) कारक (२) रोचक (३) दीपक

(१) औपशमिक (२) क्षायिक (३) क्षायोपशमिक

कारक समकितः—जिस समकित के होने पर जीव सदनुष्ठान में श्रद्धा करता है, स्वयं सदनुष्ठान का आचरण करता है तथा दूसरों से करवाता है, वह कारक समकित है। यह समकित विशुद्ध चारित्र वाले के समझनी चाहिए।

रोचक समकितः—जिस समकित के होने पर जीव सदनुष्ठान में सिर्फ रुचि रखता है परन्तु सदनुष्ठान का आचरण नहीं कर पाता, वह रोचक समकित है। यह समकित चौथे गुणस्थानवर्ती जीव के जाननी चाहिए। जैसे—श्रीकृष्णजी, श्रेणिकमहाराज आदि।

दीपक समकितः—जो मिथ्या दृष्टि स्वयं तत्त्वश्रद्धान से शून्य होते हुए दूसरों में उपदेशादि द्वारा तत्त्व के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करता है, उसकी समकित दीपक समकित कहलाती है। दीपक समकितधारी मिथ्यादृष्टि जीव के उपदेश आदि रूप परिणाम द्वारा दूसरों में समकित उत्पन्न होने से उसके परिणाम दूसरों की समकित में

कारण रूप हैं। समकित के कारण में कार्य का उपचार कर आचार्य्यों ने इसे समकित कहा है। इसलिए मिथ्या दृष्टि में उक्त समकित होने के सम्बन्ध में कोई शंका का स्थान नहीं है।

(विशेषावश्यक भाष्य, गाथा २६७५, पृष्ठ १०६४)

(द्रव्य लोक प्रकाश तीसरा, सर्ग ६६८–६७०)

(धर्मसंग्रह, अधिकार २) (श्रावक धर्म प्रज्ञप्ति)

औपशमिक समकितः–दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों के उपशम से होने वाला आत्मा का परिणाम औपशमिक समकित है। औपशमिक समकित सर्वप्रथम समकित पाने वाले तथा उपशम श्रेणी में रहे हुए जीवों के होती है।

क्षायिक समकितः–अनन्तानुबन्धी चार कषायों के और दर्शन मोहनीय की तीनों प्रकृतियों के क्षय होने पर जो परिणाम विशेष होता है, वह क्षायिक समकित है।

क्षायोपशमिक समकितः–उदय प्राप्त मिथ्यात्व के क्षय से और अनुदय प्राप्त मिथ्यात्व के उपशम से तथा समकित मोहनीय के उदय से होने वाला आत्मा का परिणाम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व है।

(अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग ३, पृष्ठ ६६१)

(प्रवचन सारोद्धार, गाथा ६४३ से ६४५) (कर्मग्रन्थ, पहला भाग, गाथा १५)

८१-समकित के तीन लिंगः-

(१) श्रुत धर्म में राग (२) चारित्र धर्म में राग

(३) देव–गुरु की वैयावच्च का नियम

श्रुत धर्म में रागः–जिस प्रकार तरुण पुरुष रङ्ग–राग में अनुरक्त रहता है, उससे भी अधिक शास्त्र–श्रवण में अनुरक्त रहना।

चारित्र धर्म में रागः–जिस प्रकार तीन दिन का भूखा मनुष्य खीर आदि का आहार रुचिपूर्वक करना चाहता है उससे भी अधिक चारित्र धर्म पालने की इच्छा रखना।

देव–गुरु की वैयावच्च का नियमः–देव और गुरु में पूज्य भाव रखना और उनका आदर–सत्कार रूप वैयावच्च का नियम करना।

(प्रवचन सारोद्धार, गाथा ६२६)

८२-समकित की तीन शुद्धियाँः-

जिनेश्वर देव, जिनेश्वर देव द्वारा प्रतिपादित धर्म और जिनेश्वर देव की आज्ञानुसार विचरने वाले साधु–ये तीनों ही विश्व में

सारभूत हैं। ऐसा विचार करना समकित की तीन शुद्धियाँ हैं।

(प्रवचन सारोद्धार, गाथा ९३२)

८३-आगम की व्याख्या और भेदः-

राग-द्वेष रहित, सर्वज्ञ, हितोपदेशक महापुरुष के वचनों से होने वाला अर्थज्ञान आगम कहलाता है। उपचार से आप्त वचन भी आगम कहा जाता है।

(प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार परिच्छेद ४)

आगम के तीन भेदः–

(१) सूत्रागम (२) अर्थागम (३) तदुभयागम

सूत्रागमः–मूल रूप आगम को सूत्रागम कहते हैं।

अर्थागमः–सूत्र–शास्त्र के अर्थ रूप आगम को अर्थागम कहते हैं।

तदुभयागमः–सूत्र और अर्थ दोनों रूप आगम को तदुभयागम कहते हैं। (अनुयोगद्वार, सूत्र १४३)

आगम के तीन और भी भेद हैं:–

(१) आत्मागम (२) अनन्तरागम (३) परम्परागम

आत्मागमः–गुरु के उपदेश बिना स्वयमेव आगम ज्ञान होना आत्मागम है। जैसेः–तीर्थंकरों के लिए अर्थागम आत्मागम रूप है और गणधरों के लिए सूत्रागम आत्मागम रूप है।

अनन्तरागमः–स्वयं आत्मागमधारी पुरुष से प्राप्त होने वाला आगमज्ञान अनन्तरागम है। गणधरों के लिए अर्थागम अनन्तरागम रूप है तथा जम्बूस्वामी आदि गणधरों के शिष्यों के लिए सूत्रागम अनन्तरागम रूप है।

परम्परागमः–साक्षात् आत्मागमधारी पुरुष से प्राप्त न होकर जो आगम ज्ञान उनके शिष्य प्रशिष्यादि की परम्परा से आता है, वह परम्परागम है। जैसे–जम्बूस्वामी आदि गणधरशिष्यों के लिए अर्थागम परम्परागम रूप है तथा इनके पश्चात् के सभी के लिए सूत्र एवं अर्थ रूप दोनों प्रकार का आगम परम्परागम है।

(अनुयोगद्वार प्रमाणाधिकार, सूत्र १४४)

८४-पुरुष के तीन प्रकारः-

(१) सूत्रधर (२) अर्थधर (३) तदुभयधर

सूत्रधरः–सूत्र को धारण करने वाले शास्त्र–पाठक पुरुष को सूत्रधर पुरुष कहते हैं।

अर्थधरः–शास्त्र के अर्थ को धारण करने वाले अर्थवेत्ता पुरुष को अर्थधर पुरुष कहते हैं।

तदुभयधरः–सूत्र और अर्थ दोनों को धारण करने वाले शास्त्रार्थवेत्ता पुरुष को तदुभयधर पुरुष कहते हैं।

(ठाणांग ३, उद्देशा ३, सूत्र १६६)

८५-व्यवसाय की व्याख्या और भेदः-

वस्तु–स्वरूप के निश्चय को व्यवसाय कहते हैं।

व्यवसाय के तीन भेदः–

(१) प्रत्यक्ष (२) प्रात्ययिक (३) आनुगमिक (अनुमान)

प्रत्यक्ष व्यवसायः–अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष व्यवसाय कहते हैं। अथवा वस्तु के स्वरूप को स्वयं जानना प्रत्यक्ष व्यवसाय है।

प्रात्ययिक व्यवसायः–इन्द्रिय एवं मन रूप निमित्त से होने वाला वस्तुस्वरूप का निर्णय प्रात्ययिक व्यवसाय कहलाता है। अथवा आप्त (वीतराग) के वचन द्वारा होने वाला वस्तु–स्वरूप का निर्णय प्रात्ययिक व्यवसाय है।

आनुगमिक व्यवसायः–साध्य का अनुसरण करने वाला एवं साध्य के बिना न होने वाला हेतु अनुगामी कहलाता है। उस हेतु से होने वाला वस्तु–स्वरूप का निर्णय आनुगमिक व्यवसाय है।

(ठाणांग ३, उद्देशा ३, सूत्र १८५)

८६-आराधना तीनः-

अतिचार न लगाते हुए शुद्ध आचार का पालन करना आराधना है।

आराधना के तीन भेदः–

(१) ज्ञानाराधना (२) दर्शनाराधना (३) चारित्राराधना

ज्ञानाराधनाः–ज्ञान के काल, विनय, बहुमान आदि आठ आचारों का निर्दोष रीति से पालन करना ज्ञानाराधना है।

दर्शनाराधनाः–शंका, कांक्षा आदि समकित के अतिचारों को न लगाते हुए निःशंकित आदि समकित के आचारों का शुद्धतापूर्वक पालन करना दर्शनाराधना है।

चारित्राराधनाः–सामायिक आदि चारित्र में अतिचार न लगाते हुए, निर्मलतापूर्वक उसका पालन करना चारित्राराधना है।

(ठाणांग ३, उद्देशा ३, सूत्र १९५)

८७-विराधनाः-

ज्ञानादि का सम्यक् रीति से आराधन न करना, उनका खंडन करना, और उनमें दोष लगाना विराधना है।

विराधना के तीन भेदः—

(१) ज्ञान विराधना (२) दर्शन विराधना (३) चारित्र विराधना

ज्ञान विराधनाः—ज्ञान एवं ज्ञानी की अशातना, अपलाप आदि द्वारा ज्ञान की खण्डना करना ज्ञान विराधना है।

दर्शन विराधनाः—जिन वचनों में शंका करने, आडम्बर देखकर अन्यमत की इच्छा करने, सम्यक्त्वधारी पुरुष की निन्दा करने, मिथ्यात्वी की प्रशंसा करने आदि से समकित की विराधना करना दर्शन विराधना है।

चारित्र विराधनाः—सामायिक आदि चारित्र की विराधना करना चारित्र विराधना है।

(समवायांग सूत्र ३)

८८-श्रमणोपासक-श्रावक के तीन मनोरथः-

१—पहले मनोरथ में श्रावकजी यह भावना भावें कि कब वह शुभ समय प्राप्त होगा, जब मैं अल्प या अधिक परिग्रह का त्याग करूंगा।

२—दूसरे मनोरथ में श्रावकजी यह चिन्तन करें कि कब वह शुभ समय प्राप्त होगा, जब मैं गृहस्थावास को छोड़कर, मुंडित होकर, प्रव्रज्या अंगीकार करूंगा।

३—तीसरे मनोरथ में श्रावकजी यह विचार करें कि कब वह शुभ अवसर प्राप्त होगा, जब मैं अन्त समय में संलेखना स्वीकार कर, आहार—पानी का त्याग कर, पादोपगमन मरण अंगीकार कर, जीवण—मरण की इच्छा न करता हुआ रहूंगा।

इन तीन मनोरथों का मन, वचन, काया से चिन्तन करता हुआ श्रमणोपासक (श्रावक) महानिर्जरा एवं महापर्यवसान (प्रशस्त अन्त) वाला होता है।

(ठाणांग ३, उद्देशा ४, सूत्र २१०)

८९-सर्व विरति साधु के तीन मनोरथः-

(१) पहले मनोरथ में साधुजी यह विचार करें कि कब वह शुभ समय आवेगा, जिस समय मैं थोड़ा या अधिक शास्त्र ज्ञान सीखूंगा।

(२) दूसरे मनोरथ में साधुजी यह विचार करें कि कब वह शुभ

समय आवेगा, जब मैं एकल विहार की भिक्षु–प्रतिमा (भिक्खु पडिमा) अङ्गीकार कर विचरूँगा।

(३) तीसरे मनोरथ में साधुजी यह चिन्तवन करें कि कब वह शुभ समय आवेगा, जब मैं अन्त समय में संलेखना स्वीकार कर, आहार–पानी का त्याग कर, पादोपगमन मरण अङ्गीकार कर, जीवण–मरण की इच्छा न करता हुआ विचरूँगा।

इन तीन मनोरथों की मन, वचन, काया से चिन्तवना आदि करता हुआ साधु महानिर्जरा एवं महापर्यवसान (प्रशस्त अन्त) वाला होता है।

(ठाणांग ३, उद्देशा ४, सूत्र २१०)

९०-वैराग्य की व्याख्या और उसके भेदः-

पांच इन्द्रियों के विषय भोगों से उदासीन–विरक्त होने को वैराग्य कहते हैं। वैराग्य के तीन भेदः–

(१) दुःखगर्भित वैराग्य (२) मोहगर्भित वैराग्य
(३) ज्ञानगर्भित वैराग्य

दुःखगर्भित वैराग्यः–किसी प्रकार का संकट आने पर विरक्त होकर, जो कुटुम्ब आदि का त्याग किया जाता है, वह दुःखगर्भित वैराग्य है। यह जघन्य वैराग्य है।

मोहगर्भित वैराग्यः–इष्टजन के मर जाने पर मोहवश जो मुनिव्रत धारण किया जाता है, वह मोहगर्भित वैराग्य है। यह मध्यम वैराग्य है।

ज्ञानगर्भित वैराग्यः–पूर्व संस्कार अथवा गुरु के उपदेश से आत्म–ज्ञान होने पर इस असार संसार का त्याग करना ज्ञानगर्भित वैराग्य है। यह वैराग्य उत्कृष्ट है।

(कर्त्तव्य कौमुदी, दूसरा भाग, पृष्ठ ७१, श्लोक ११८–११९ वैराग्य प्रकरण, द्वितीय परिच्छेद)

९१-स्थविर तीनः-

(१) वयःस्थविर (२) सूत्रस्थविर (३) प्रव्रज्यास्थविर

वयःस्थविर (जाति स्थविर):–साठ वर्ष की अवस्था के साधु वयःस्थविर कहलाते हैं।

सूत्रस्थविरः–श्रीस्थानांग (ठाणांग) और समवायांग सूत्र के ज्ञाता साधु सूत्रस्थविर कहलाते हैं।

प्रव्रज्यास्थविरः–बीस वर्ष की दीक्षापर्याय वाले साधु प्रव्रज्यास्थविर कहलाते हैं।

(ठाणांग ३, उद्देशा ३, सूत्र १५६)

६२-भाव इन्द्र के तीन भेदः-

(१) ज्ञानेन्द्र (२) दर्शनेन्द्र (३) चारित्रेन्द्र

ज्ञानेन्द्रः–अतिशयशाली, श्रुत आदि ज्ञानों में से किसी ज्ञान द्वारा वस्तु तत्त्व का विवेचन करने वाले अथवा केवल ज्ञानी को ज्ञानेन्द्र कहते हैं।

दर्शनेन्द्रः–क्षायिक सम्यग्दर्शन वाले पुरुष को दर्शनेन्द्र कहते हैं।

चारित्रेन्द्रः–यथाख्यात चारित्र वाले मुनि को चारित्रेन्द्र कहते हैं। वास्तविक–आध्यात्मिक ऐश्वर्यसम्पन्न होने से ये तीनों भावेन्द्र कहलाते हैं।

(ठाणांग ३, उद्देशा १, सूत्र ११६)

६३-एषणा की व्याख्या और भेदः-

आहार, अधिकरण (वस्त्र, पात्र आदि साथ में रखने की वस्तुएं), शय्या (स्थानक, पाट, पाटला) इन तीनों वस्तुओं के शोधने में, ग्रहण करने में, अथवा उपभोग करने में संयम धर्मपूर्वक संभाल रखना, इसे एषणासमिति कहते हैं।

एषणासमिति के तीन भेदः–

(१) गवेषणैषणा (२) ग्रहणैषणा (३) ग्रासैषणा

गवेषणैषणाः–सोलह उद्गम दोष, सोलह उत्पादना दोष, इन बत्तीस दोषों को टालकर शुद्ध आहार–पानी की खोज करना गवेषणैषणा है।

ग्रहणैषणाः–एषणा के शंकित आदि दस दोषों को टालकर शुद्ध अशनादि ग्रहण करना ग्रहणैषणा है।

ग्रासैषणाः–गवेषणैषणा और ग्रहणैषणा द्वारा प्राप्त शुद्ध आहारादि को खाते समय मांडले के पांच दोष टालकर उपभोग करना ग्रासैषणा है।

(उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन २४)

६४-करण के तीन भेदः-

(१) आरम्भ (२) संरम्भ (३) समारम्भ

(ठाणांग ३, सूत्र १२४)

आरम्भः—पृथ्वी काय आदि जीवों की हिंसा करना आरम्भ कहलाता है।

संरम्भः—पृथ्वी काय आदि जीवों की हिंसा विषयक मन में संक्लिष्ट परिणामों का लाना संरम्भ कहलाता है।

समारम्भः—पृथ्वी काय आदि जीवों को सन्ताप देना समारम्भ कहलाता है।

(ठाणांग ३, उद्देशा १, सूत्र १२४)

६५-योग की व्याख्या और भेदः-

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम या क्षय होने पर मन, वचन, काया के निमित्त से आत्मप्रदेशों के चंचल होने को योग कहते हैं।

अथवाः—

वीर्यान्तराय कर्म के क्षय या क्षयोपशम से उत्पन्न शक्ति विशेष से होने वाले साभिप्राय आत्मा के पराक्रम को योग कहते हैं।

(ठाणांग ३, सूत्र १२४ टीका)

योग के तीन भेदः—

(१) मनोयोग (२) वचनयोग (३) काययोग

मनोयोगः—नोइन्द्रिय मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम स्वरूप आन्तरिक मनोलब्धि होने पर मनोवर्गणा के आलम्बन से मन के परिणाम की ओर झुके हुए आत्मप्रदेशों का जो व्यापार होता है, उसे मनोयोग कहते हैं।

वचनयोगः—मति ज्ञानावरण, अक्षर श्रुत ज्ञानावरण आदि कर्म के क्षयोपशम से आन्तरिक वाग्लब्धि उत्पन्न होने पर वचनवर्गणा के आलम्बन से भाषापरिणाम की ओर अभिमुख आत्मप्रदेशों का जो व्यापार होता है, उसे वचनयोग कहते हैं।

काययोगः—औदारिक आदि शरीरवर्गणा के पुद्गलों के आलम्बन से होने वाले आत्मप्रदेशों के व्यापार को काययोग कहते हैं।

(ठाणांग ३, सूत्र १२४)

(तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय, ५)

६६-दण्ड की व्याख्या और भेदः-

जो चारित्र रूपी आध्यात्मिक ऐश्वर्य का अपहरण कर आत्मा को असार कर देता है, वह दण्ड है।

(समवायांग ३)

अथवाः–

प्राणियों को जिससे दुःख पहुंचता है, उसे दण्ड कहते हैं।

(आचारांग, श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन ४, उद्देशा १)

अथवाः–

मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृत्ति को दण्ड कहते हैं।

(उत्तराध्ययन, अध्ययन १६)

दण्ड के तीन भेदः–

(१) मनदण्ड (२) वचनदण्ड (३) कायादण्ड

(समवायांग ३) (ठाणांग ३, उद्देशा १, सूत्र १२६)

६७-कथा तीनः-

(१) अर्थकथा (२) धर्मकथा (३) कामकथा

अर्थकथाः–अर्थ का स्वरूप एवं उपार्जन के उपायों को बतलाने वाली वाक्यपद्धति अर्थकथा है, जैसे–कामन्दकादि शास्त्र।

धर्मकथाः–धर्म का स्वरूप एवं उपायों को बतलाने वाली वाक्यपद्धति धर्मकथा है, जैसे–उत्तराध्ययन सूत्र आदि।

कामकथाः–काम एवं उसके उपायों का वर्णन करने वाली वाक्यपद्धति कामकथा है, जैसे–वात्स्यायन कामसूत्र वगैरह।

(ठाणांग ३, सूत्र १८६)

६८-गारव (गौरव) की व्याख्या और भेदः-

द्रव्य और भाव–भेद से गौरव दो प्रकार का है। वज्रादि की गुरुता द्रव्यगौरव है। अभिमान एवं लोभ से होने वाला आत्मा का अशुभ भाव भावगौरव (भावगारव) है। यह संसार चक्र में परिभ्रमण कराने वाले कर्मों का कारण है।

गारव (गौरव) के तीन भेदः–

(१) ऋद्धिगौरव (२) रसगौरव (३) सातागौरव

ऋद्धिगौरवः–राजा-महाराजाओं से पूज्य आचार्य्यता आदि की ऋद्धि का अभिमान करना एवं उनकी प्राप्ति की इच्छा करना, ऋद्धिगौरव है।

रसगौरवः–रसना इन्द्रिय के विषय–मधुर आदि रसों की प्राप्ति से अभिमान करना या उनकी इच्छा करना, रसगौरव है।

सातागौरवः–साता-स्वस्थता आदि शारीरिक सुखों की प्राप्ति होने से अभिमान करना या उनकी इच्छा करना, सातागौरव है।

(ठाणांग ३, सूत्र २१५)

६६-ऋद्धि के तीन भेदः–

(१) देवता की ऋद्धि (२) राजा की ऋद्धि
(३) आचार्य की ऋद्धि

(ठाणांग ३, सूत्र २१५)

१००-देवता की ऋद्धि के तीन भेदः-

(१) विमानों की ऋद्धि (२) विक्रिया करने की ऋद्धि
(३) परिचारणा (कामसेवन) की ऋद्धि

अथवाः–

(१) सचित्त ऋद्धिः–अग्रमहिषी आदि सचित्त वस्तुओं की सम्पत्ति।
(२) अचित्त ऋद्धिः–वस्त्र-आभूषण की ऋद्धि।
(३) मिश्र ऋद्धिः–वस्त्राभूषणों से अलंकृत देवी आदि की ऋद्धि।

(ठाणांग ३, सूत्र २१४)

१०१-राजा की ऋद्धि के तीन भेदः-

(१) अति यान ऋद्धिः–नगर प्रवेश में तोरण बाजार आदि की शोभा, लोगों की भीड़ आदि रूप ऋद्धि अर्थात् नगर प्रवेश महोत्सव की शोभा।

(२) निर्याण ऋद्धिः–नगर से बाहर जाने में हाथियों की सजावट, सामन्त आदि की ऋद्धि।

(३) राजा के सैन्य, वाहन, खजाना और कोठार की ऋद्धि।

अथवाः–

सचित्त, अचित्त, मिश्र के भेद से भी राजा की ऋद्धि के तीन भेद हैं।

(ठाणांग ३, सूत्र २१४)

१०२-आचार्य्य की ऋद्धि के तीन भेदः-

(१) ज्ञानऋद्धि (२) दर्शनऋद्धि (३) चारित्रऋद्धि

(१) ज्ञानऋद्धिः–विशिष्ट श्रुत की सम्पदा।

(२) दर्शनऋद्धिः–आगम में शंका आदि से रहित होना तथा प्रवचन की प्रभावना करने वाले शास्त्रों का ज्ञान।

(३) चारित्रऋद्धिः–अतिचार रहित शुद्ध, उत्कृष्ट चारित्र का पालन करना।

अथवाः–

सचित्त, अचित्त और मिश्र के भेद से भी आचार्य्य की ऋद्धि

तीन प्रकार की है।

(१) सचित्तऋद्धिः—शिष्य वगैरह।

(२) अचित्तऋद्धिः—वस्त्र वगैरह।

(३) मिश्रऋद्धिः—वस्त्र पहने हुए शिष्य वगैरह।

(ठाणांग ३, सूत्र २१४)

१०३-आचार्य्य के तीन भेदः-

(१) शिल्पाचार्य्य (२) कलाचार्य्य (३) धर्माचार्य्य।

शिल्पाचार्य्यः—लुहार, सुनार, शिलावट, सुथार, चितेरा इत्यादि के हुनर को शिल्प कहते हैं। इन शिल्पों में प्रवीण शिक्षक शिल्पाचार्य कहलाते हैं।

कलाचार्य्यः—काव्य, नाट्य, संगीत, चित्रलिपि इत्यादि पुरुष की ७२ और स्त्रियों की ६४ कला को सिखाने वाले अध्यापक कलाचार्य्य कहलाते हैं।

धर्माचार्य्यः—श्रुत चारित्र रूप धर्म का स्वयं पालन करने वाले, दूसरों को उसका उपदेश देने वाले, गच्छ के नायक, साधु मुनिराज धर्माचार्य्य कहलाते हैं।

शिल्पाचार्य्य और कलाचार्य्य की सेवा इहलौकिक हित के लिए और धर्माचार्य्य की सेवा पारलौकिक हित—निर्जरा आदि के लिए की जाती है।

शिल्पाचार्य और कलाचार्य्य की विनय—भक्ति धर्माचार्य की विनय—भक्ति से भिन्न प्रकार की है।

शिल्पाचार्य्य और कलाचार्य्य को स्नान आदि कराना, उनके लिए पुष्प लाना, उनका मण्डन करना, उन्हें भोजन कराना, विपुल आजीविका योग्य प्रीतिदान देना, और उनके पुत्र—पुत्रियों का पालन—पोषण करना, यह उनकी विनय—भक्ति का प्रकार है।

धर्माचार्य्य को देखते ही उन्हें वन्दना, नमस्कार करना, उन्हें सत्कार—सम्मान देना, यावत् उनकी उपासना करना, प्रासुक, एषणीय आहार-पानी का प्रतिलाभ देना, एवं पीढ़, फलग, शय्या, संथारे के लिए निमन्त्रण देना, यह धर्माचार्य्य की विनय--भक्ति का प्रकार है।

(रायप्रश्नीय, सूत्र ७७, पृष्ठ १४२)

(अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग २, पृष्ठ ३०३)

१०४-शल्य तीनः-

जिससे बाधा (पीड़ा) हो उसे शल्य कहते हैं। कांटा, भाला वगैरह द्रव्य शल्य हैं।

भावशल्य के तीन भेदः—

(१) माया शल्य (२) निदान (नियाण) शल्य

(३) मिथ्या दर्शन शल्य

माया शल्यः—कपट भाव रखना माया शल्य है। अतिचार लगा कर माया से उसकी आलोचना न करना अथवा गुरु के समक्ष अन्य रूप से निवेदन करना, अथवा दूसरे पर झूठा आरोप लगाना माया शल्य है।

(धर्मसंग्रह, अध्याय ३, पृष्ठ ७६)

निदान शल्यः—राजा, देवता आदि की ऋद्धि को देखकर या सुनकर मन में यह अध्यवसाय करना कि मेरे द्वारा आचरण किये हुए ब्रह्मचर्य, तप आदि अनुष्ठानों के फलस्वरूप मुझे भी ये ऋद्धियाँ प्राप्त हों, यह निदान (नियाण) शल्य है।

मिथ्या दर्शन शल्यः—विपरीत श्रद्धा का होना मिथ्या दर्शन शल्य है।

(समवायांग ३) (ठाणांग ३, सूत्र १८२)

१०५-अल्प आयु के तीन कारणः-

तीन कारणों से जीव अल्पायु फल वाले कर्म बांधते हैं।

(१) प्राणियों की हिंसा करने वाला।

(२) झूठ बोलने वाला।

(३) तथारूप (साधु के अनुरूप क्रिया और वेश आदि से युक्त दान के पात्र) श्रमण, माहण, (साधु) को अप्रासुक, अकल्पनीय, अशन, पान, खादिम, स्वादिम देने वाला जीव अल्पायु फल वाला कर्म बांधता है।

(ठाणांग ३, सूत्र १२५) (भगवती शतक ५, उद्देशा ६)

१०६-जीव की अशुभ दीर्घायु के तीन कारणः-

तीन स्थानों से जीव अशुभ दीर्घायु अर्थात् नरक आयु बांधते हैं।

(१) प्राणियों की हिंसा करने वाला।

(२) झूठ बोलने वाला।

(३) तथारूप श्रमण माहण की जाति प्रकाश द्वारा अवहेलना

करने वाला, मन में निन्दा करने वाला, लोगों के सामने निन्दा और गर्हणा करने वाला, अपमान करने वाला तथा अप्रीतिपूर्वक अमनोज्ञ अशनादि बहराने वाला जीव अशुभ दीर्घायु फल वाला कर्म बांधता है।

(ठाणांग ३, सूत्र १२५)

१०७-जीव की शुभ दीर्घायु के तीन कारणः-

तीन स्थानों से जीव शुभ दीर्घायु बांधता हैः—

(१) प्राणियों की हिंसा न करने वाला,

(२) झूठ न बोलने वाला,

(३) तथा रूप श्रमण, माहण को वन्दना नमस्कार यावत् उनकी उपासना करके उन्हें किसी प्रकार के मनोज्ञ एवं प्रीतिकारक अशनादिक का प्रतिलाभ देने वाला अर्थात् बहराने वाला जीव शुभ दीर्घायु बांधता है।

(भगवती शतक ५, उद्देशा ६)

१०८-पल्योपम की व्याख्या और भेदः-

एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े और एक योजन गहरे गोलाकार कूप की उपमा से जो काल गिना जाय, उसे पल्योपम कहते हैं।

पल्योपम के तीन भेदः—

(१) उद्धार पल्योपम (२) अद्धा पल्योपम

(३) क्षेत्र पल्योपम

उद्धार पल्योपमः—उत्सेधांगुल परिमाण से एक योजन लम्बा, चौड़ा और गहरा कुआ एक—दो—तीन यावत् सात दिन वाले देवकुरु उत्तरकुरु जुगलिया के बाल (केश) के अग्रभागों से ठूंस-ठूंस कर इस प्रकार भरा जाय कि वे बालाग्र हवा से न उड़ सकें और आग से न जल सकें, उनमें से प्रत्येक को एक—एक समय में निकालते हुए जितने काल में वह कुंआ सर्वथा खाली हो जाय, उस काल परिमाण को उद्धार पल्योपम कहते हैं। यह पल्योपम संख्यात समय परिमाण होता है।

उद्धार पल्योपम सूक्ष्म और व्यावहारिक के भेद से दो प्रकार का है। उपर्युक्त वर्णन व्यावहारिक उद्धार पल्योपम का है। उक्त बालाग्र के असंख्यात अदृश्य खंड किये जांय, जो कि विशुद्ध लोचन वाले छद्मस्थ पुरुष के दृष्टिगोचर होने वाले सूक्ष्म पुद्गल

द्रव्य के असंख्यातवें भाग एवं सूक्ष्म पनक (नीलण–फूलण) शरीर के असंख्यात गुणा हो, उन सूक्ष्म बालाग्र खण्डों से वह कुंआ ठूंस-ठूंस कर भरा जाय और उनमें से प्रति–समय एक–एक बालाग्र खण्ड निकाला जाय। इस प्रकार निकालते-निकालते जितने काल में वह कुंआ सर्वथा खाली हो जाय, उसे सूक्ष्म उद्धार पल्योपम कहते हैं। सूक्ष्म उद्धार पल्योपम में संख्यात वर्ष कोटि परिमाण काल होता है।

अद्धा पल्योपमः–उपर्युक्त रीति से भरे हुए उपर्युक्त परिमाण के कूप में से एक–एक बालाग्र सौ–सौ वर्ष में निकाला जाय। इस प्रकार निकालते–निकालते जितने काल में वह कुंआ सर्वथा खाली हो जाय, उस काल–परिमाण को अद्धा पल्योपम कहते हैं। यह संख्यात वर्ष कोटि परिमाण होता है। इसके भी सूक्ष्म और व्यवहार दो भेद हैं। उक्त स्वरूप व्यवहार अद्धा पल्योपम का है। यदि यही कूप उपर्युक्त सूक्ष्म बालाग्र खण्डों से भरा हो एवं उनमें से प्रत्येक बालाग्र खण्ड सौ–सौ वर्ष में निकाला जाय तो इस प्रकार निकालते–निकालते वह कुंआ जितने काल में खाली हो जाय, वह सूक्ष्म अद्धा पल्योपम है। सूक्ष्म अद्धा पल्योपम में असंख्यात वर्ष कोटि परिमाण काल होता है।

क्षेत्र पल्योपमः–उपर्युक्त परिमाण का कूप उपर्युक्त रीति से बालाग्रों से भरा हो। उन बालाग्रों से जो आकाश प्रदेश छुए हुए हैं, उन छुए हुए आकाश प्रदेशों में से प्रत्येक को प्रति समय निकाला जाय। इस प्रकार सभी आकाश प्रदेशों को निकालने में जितना समय लगे, वह क्षेत्र–पल्योपम है। यह काल असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी परिमाण होता है। यह भी सूक्ष्म और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है। उपर्युक्त स्वरूप व्यवहार क्षेत्र पल्योपम का हुआ।

यदि यही कुंआ बालाग्र के सूक्ष्म खण्डों से ठूंस–ठूंस कर भरा हो। उन बालाग्र खण्डों से जो आकाश प्रदेश छुए हुए हैं और जो नहीं छुए हुए हैं। उन छुए हुए और नहीं छुए हुए सभी आकाश प्रदेशों में से प्रत्येक को एक–एक समय में निकालते हुए सभी को निकालने में जितना काल लगे, वह सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम है। यह भी असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी परिमाण होता है। व्यवहार क्षेत्र

पल्योपम से असंख्यात गुणा यह काल जानना चाहिए।

(अनुयोगद्वार, सूत्र १३८-१४०, पृष्ठ १७६, आगमोदय समिति)

(प्रवचन सारोद्धार, गाथा १०१८ से १०२६ तक)

१०६-सागरोपम के तीन भेदः-

(१) उद्धार सागरोपम (२) अद्धा सागरोपम

(३) क्षेत्र सागरोपम

उद्धार सागरोपमः—उद्धार सागरोपम के दो भेदः—सूक्ष्म और व्यवहार। दस हजार कोड़ा कोड़ी व्यवहार उद्धार पल्योपम का एक व्यवहार उद्धार सागरोपम होता है।

दस हजार कोड़ा कोड़ी सूक्ष्म उद्धार पल्योपम का एक सूक्ष्म उद्धार सागरोपम होता है।

ढाई सूक्ष्म उद्धार सागरोपम या पच्चीस हजार कोड़ा कोड़ी सूक्ष्म उद्धार पल्योपम में जितने समय होते हैं, उतने ही लोक में द्वीप और समुद्र हैं।

अद्धा सागरोपमः—अद्धा सागरोपम भी सूक्ष्म और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है।

दस हजार कोड़ा कोड़ी व्यवहार अद्धा पल्योपम का एक व्यवहार अद्धा सागरोपम होता है।

दस हजार कोड़ा कोड़ी सूक्ष्म अद्धा पल्योपम का एक सूक्ष्म अद्धा सागरोपम होता है।

जीवों की कर्मस्थिति, कायस्थिति और भवस्थिति सूक्ष्म अद्धा पल्योपम और सूक्ष्म अद्धा सागरोपम से मापी जाती है।

क्षेत्र सागरोपमः—क्षेत्र सागरोपम भी सूक्ष्म और व्यवहार के भेद से दो प्रकार का है।

दस हजार कोड़ा कोड़ी व्यवहार क्षेत्र पल्योपम का एक व्यवहार क्षेत्र सागरोपम होता है।

दस हजार कोड़ा कोड़ी सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम का एक सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम होता है।

सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम और सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम से दृष्टिवाद में द्रव्य मापे जाते हैं। सूक्ष्म क्षेत्र सागरोपम से पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवों की गिनती की जाती है।

(अनुयोगद्वार, पृष्ठ १७६, आगमोदय समिति) (प्रवचन सारोद्धार, गाथा १०२७ से १०३२)

११०-नवीन उत्पन्न देवता के मनुष्य लोक में आने के तीन कारणः-

देवलोक में नवीन उत्पन्न हुआ देवता तीन कारणों से दिव्य काम–भोगों में मूर्छा, गृद्धि एवं आसक्ति न करता हुआ शीघ्र मनुष्य लोक में आने की इच्छा करता है और आ सकता है।

(१) वह देवता यह सोचता है कि मनुष्य भव में मेरे आचार्य्य, उपाध्याय, प्रवर्त्तक, स्थविर, गणी, गणधर एवं गणावच्छेदक हैं। जिनके प्रभाव से यह दिव्य देव ऋद्धि, दिव्य देव द्युति और दिव्य देव शक्ति मुझे इस भव में प्राप्त हुई है। इसलिए मैं मनुष्य लोक में जाऊं और उन पूज्य आचार्य्यादि को वन्दना नमस्कार करूं, सत्कार सम्मान दूं एवं कल्याण तथा मंगल रूप यावत् उनकी उपासना करूं।

(२) नवीन उत्पन्न देवता यह सोचता है कि सिंह की गुफा में कायोत्सर्ग करना दुष्कर कार्य्य है। किन्तु पूर्व उपभुक्त, अनुरक्त तथा प्रार्थना करने वाली वेश्या के मन्दिर में रहकर ब्रह्मचर्य्य व्रत का पालन करना उससे भी अति दुष्कर कार्य्य है। स्थूलभद्र मुनि की तरह ऐसी कठिन से कठिन क्रिया करने वाले ज्ञानी, तपस्वी, मनुष्य–लोक में दिखाई पड़ते हैं। इसलिये मैं मनुष्य लोक में जाऊं और उन पूज्य मुनीश्वर को वन्दना नमस्कार करूं यावत् उनकी उपासना करूं।

(३) वह देवता यह सोचता है कि मनुष्य भव में मेरे माता–पिता, भाई, बहिन, स्त्री, पुत्र, पुत्री, पुत्रवधू आदि हैं। मैं वहां जाऊं और उनके सम्मुख प्रकट होऊं। वे मेरी इस दिव्य देव सम्बन्धी ऋद्धि, द्युति और शक्ति को देखें।

(ठाणांग ३, उद्देशा ३, सूत्र १७७)

१११-देवता की तीन अभिलाषायें-

(१) मनुष्य भव (२) आर्य्य क्षेत्र (३) उत्तम कुल में जन्म

(ठाणांग ३, उद्देशा ३, सूत्र १७८)

११२-देवता के पश्चात्ताप के तीन बोलः-

(१) मैं बल, वीर्य, पुरुषाकार, पराक्रम से युक्त था। मुझे पठनोपयोगी सुकाल प्राप्त था। कोई उपद्रव भी न था। शास्त्र ज्ञान के दाता आचार्य्य, उपाध्याय महाराज विद्यमान थे। मेरा शरीर भी

नीरोग था। इस प्रकार सभी सामग्री के प्राप्त होते हुए भी मुझे खेद है कि मैंने बहुत शास्त्र नहीं पढ़े।

(२) खेद है कि परलोक से विमुख होकर, ऐहिक सुखों में आसक्त हो, विषय–पिपासु बन, मैंने चिरकाल तक श्रमण (साधु) पर्याय का पालन नहीं किया।

(३) खेद है कि मैंने ऋद्धि, रस और साता गारव (गौरव) का अभिमान किया। प्राप्त भोग–सामग्री में मूर्छित रहा एवं अप्राप्त भोग–सामग्री की इच्छा करता रहा। इस प्रकार मैं शुद्ध चरित्र का पालन न कर सका।

उपर्युक्त तीन बोलों का विचार करता हुआ देवता पश्चाताप करता है।

११३-देवता के च्यवन-ज्ञान के तीन बोलः-

(१) विमान के आभूषणों की कान्ति को फीकी देखकर,

(२) कल्पवृक्ष को मुरझाते हुए देखकर,

(३) तेज अर्थात् अपने शरीर की कान्ति को घटते हुए देखकर देवता को अपने च्यवन (मरण) के काल का ज्ञान हो जाता है।

(ठाणांग ३, उद्देशा ३, सूत्र ७९)

११४-विमानों के तीन आधारः-

(१) घनोदधि (२) घनवाय (३) आकाश

इन तीन के आधार से विमान रहे हुए हैं। प्रथम दो कल्प–सौधर्म और ईशान देवलोक में विमान घनोदधि पर रहे हुए हैं। सनत्कुमार, माहेन्द्र और ब्रह्मलोक में विमान घनवाय पर रहे हुए हैं। लान्तक, शुक्र और सहस्रार देवलोक में विमान घनोदधि और घनवाय दोनों पर रहे हुए हैं। इनके ऊपर के आणत, प्राणत, आरण, अच्युत, नव ग्रैवेयक और अनुत्तर विमान में विमान आकाश पर स्थित हैं।

(ठाणांग ३, सूत्र १८०)

११५-पृथ्वी तीन वलयों से वलयित है। एक–एक पृथ्वी चारों तरफ दिशा–विदिशाओं में तीन वलयों से घिरी हुई हैः–

(१) घनोदधि वलय (२) घनवात वलय

(३) तनुवात वलय

(ठाणांग ३, सूत्र २२४)

११६-पृथ्वी के देशतः धूजने के तीन बोलः-

तीन कारणों से पृथ्वी का एक भाग विचलित हो जाता है।

(१) रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे, बादर पुद्गलों का स्वाभाविक जोर से अलग होना या दूसरे पुद्गलों का आकर जोर से टकराना, पृथ्वी को देशतः विचलित कर देता है।

(२) महाऋद्धिशाली यावत् महेश नाम वाला महोरग जाति का व्यन्तर दर्पोन्मत्त होकर उछल–कूद मचाता हुआ, पृथ्वी को देशतः विचलित कर देता है।

(३) नागकुमार और सुपर्णकुमार जाति के भवनपति देवताओं के परस्पर संग्राम होने पर पृथ्वी का एक देश विचलित हो जाता है।

(ठाणांग ३, उद्देशा ४, सूत्र १९८)

११७-सारी पृथ्वी धूजने के तीन बोलः-

तीन कारणों से पूरी पृथ्वी विचलित होती है।

(१) रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे जब घनवाय क्षुब्ध हो जाती है तब उससे घनोदधि कम्पित होती है और उससे सारी पृथ्वी विचलित हो जाती है।

(२) महाऋद्धि सम्पन्न यावत् महाशक्तिशाली महेश नाम वाला देव तथा रूप के श्रमण माहण को अपनी ऋद्धि, द्युति, यश, बल, वीर्य्य, पुरुषाकार, पराक्रम दिखलाता हुआ सारी पृथ्वी को विचलित कर देता है।

(३) देवों और असुरों में संग्राम होने पर सारी पृथ्वी विचलित होती है।

(ठाणांग ३, उद्देशा ४, सूत्र ११८)

११८-अंगुल के तीन भेदः-

(१) आत्मांगुल (२) उत्सेधांगुल (३) प्रमाणांगुल

आत्मांगुलः–जिस काल में, जो मनुष्य होते हैं, उनके अपने अंगुल को आत्मांगुल कहते हैं। काल के भेद से मनुष्यों की अवगाहना में न्यूनाधिकता होने से इस अंगुल का परिमाण भी परिवर्तित होता रहता है। जिस समय, जो मनुष्य होते हैं, उनके नगर, कानन, उद्यान, वन, तड़ाग, कूप, मकान आदि उन्हीं के अंगुल से अर्थात् आत्मांगुल से नापे जाते हैं।

उत्सेधांगुलः--आठ यवमध्य का एक उत्सेधांगुल होता है। उत्सेधांगुल से नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों की अवगाहना नापी जाती है।

प्रमाणांगुलः—यह अंगुल सब से बड़ा होता है। इसलिए इसे प्रमाणांगुल कहते हैं। उत्सेधांगुल से हजार गुणा प्रमाणांगुल जानना चाहिये। इस अंगुल से रत्नप्रभादिक नरक, भवनपतियों के भवन, कल्प, वर्षधर पर्वत, द्वीप आदि की लम्बाई, चौड़ाई, ऊंचाई, गहराई और परिधि नापी जाती है। शाश्वत वस्तुओं के नापने के लिए चार हजार कोस का योजन माना जाता है। इसका कारण यही है कि शाश्वत वस्तुओं के नापने का योजन प्रमाणांगुल से लिया जाता है। प्रमाणांगुल उत्सेधांगुल से हजार गुणा अधिक होता है। इसलिए इस अपेक्षा से प्रमाणांगुल का योजन उत्सेधांगुल के योजन से हजार गुणा बड़ा होता है।

(अनुयोगद्वार, पृष्ठ १५७ से १७३, आगमोदय समिति)

११९-द्रव्यानुपूर्वी के तीन भेदः-

(१) पूर्वानुपूर्वी (२) पश्चानुपूर्वी (३) अनानुपूर्वी

पूर्वानुपूर्वीः—जिस क्रम में पहले से आरम्भ होकर क्रमशः गणना की जाती है, वह पूर्वानुपूर्वी है। जैसे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और काल।

पश्चानुपूर्वीः—जिस क्रम में अन्त से आरम्भ कर उलटे क्रम से गणना की जाती है, उसे पश्चानुपूर्वी कहते हैं। जैसेः—काल, पुद्‌गलास्तिकाय, जीवास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और धर्मास्तिकाय।

अनानुपूर्वीः—जिस में पूर्वानुपूर्वी और पश्चानुपूर्वी के सिवाय अन्य क्रम होता है, वह अनानुपूर्वी है। जैसे एक, दो, तीन, चार, पांच और छः। इन छह अंकों को परस्पर गुणा करने से जो ७२० संख्या आती है, उतने ही छह द्रव्यों के भंग बनते हैं। इन ७२० भंगों में पहला भंग पूर्वानुपूर्वी का, अन्तिम भंग पश्चानुपूर्वी का और शेष ७१८ भंग अनानुपूर्वी के हैं।

(अनुयोगद्वार, आगमोदय समिति टीका, पृष्ठ ७३ से ७७)

१२०-लक्षणाभास की व्याख्या और भेदः-

सदोष लक्षण को लक्षणाभास कहते हैं।

लक्षणाभास के तीन भेदः–

(१) अव्याप्ति (२) अतिव्याप्ति (३) असम्भव

अव्याप्तिः–लक्ष्य (जिसका लक्षण किया जाय) के एक देश में लक्षण के रहने को अव्याप्ति दोष कहते हैं। जैसे–पशु का लक्षण सींग।

अथवा

जीव का लक्षण पंचेन्द्रियपन।

अतिव्याप्तिः–लक्ष्य और अलक्ष्य, दोनों में लक्षण के रहने को अतिव्याप्ति दोष कहते हैं। जैसे–गौ का लक्षण सींग।

असम्भवः–लक्ष्य में लक्षण के सम्भव न होने को असम्भव दोष कहते हैं। जैसे–अग्नि का लक्षण शीतलता।

(न्याय दीपिका)

१२१-समारोप का लक्षण और उसके भेदः-

जो पदार्थ जिस स्वरूप वाला नहीं है, उसे उस स्वरूप वाला जानना समारोप है। इसी को प्रमाणाभास कहते हैं।

समारोप के तीन भेदः–

(१) संशय (२) विपर्यय

(३) अनध्यवसाय

संशयः–विरोधी अनेक पक्षों के अनिश्चयात्मक ज्ञान को संशय कहते हैं। जैसे–रस्सी में "यह रस्सी है या सांप" अथवा सीप में "यह सीप है या चांदी" ऐसा ज्ञान होना। संशय का मूल यही है कि जानने वाले को अनेक पक्षों के सामान्य धर्म को ज्ञान तो रहता है परन्तु विशेष धर्मों का ज्ञान नहीं रहता।

उपर्युक्त दोनों दृष्टान्तों में ज्ञाता को सांप और रस्सी का लम्बापन एवं सीप और चांदी की श्वेतता, चमक आदि सामान्य धर्म का तो ज्ञान है परन्तु दोनों को पृथक् करने वाले विशेष धर्मों का ज्ञान न होने से उसका ज्ञान दोनों ओर झुक रहा है। यह तो निश्चित है कि एक वस्तु दोनों रूप तो हो नहीं सकती। वह कोई एक ही चीज होगी। इसी प्रकार जब हम दो या दो से अधिक विरोधी बातें सुनते हैं तब भी संशय होता है। जैसे–किसी ने कहा, जीव नित्य है। दूसरे ने कहा, जीव अनित्य है। दोनों विरोधी बातें सुन कर तीसरे को सन्देह हो जाता है।

बहुत सी वस्तुएं नित्य हैं और बहुत सी अनित्य। जीव भी वस्तु होने से नित्य या अनित्य दोनों हो सकता है। इस प्रकार, जब दोनों कोटियों में सन्देह होता है, तभी संशय होता है। द्रव्यत्व की अपेक्षा प्रत्येक वस्तु नित्य है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य। इस प्रकार भिन्न–भिन्न अपेक्षाओं से दोनों धर्मों के अस्तित्व का निश्चय होने पर संशय नहीं कहा जा सकता।

विपर्ययः–विपरीत पक्ष के निश्चय करने वाले ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। जैसे–सांप को रस्सी समझना, सीप को चांदी समझना।

अनध्यवसायः–"यह क्या है" ऐसे अस्पष्ट ज्ञान को अनध्यवसाय कहते हैं। जैसे–मार्ग में चलते हुए पुरुष को तृण, कंकर आदि का स्पर्श होने पर "यह क्या है?" ऐसा अस्पष्ट ज्ञान होता है। वस्तु का स्पष्ट और निश्चित रूप से ज्ञान न होने से ही यह ज्ञान प्रमाणाभास माना गया है।

(रत्नाकरावतारिका, परिच्छेद २) (न्याय प्रदीप)

१२२-पिता के तीन अंगः-

सन्तान में पिता के तीन अंग होते हैं अर्थात् ये तीन अंग प्रायः पिता के शुक्र (वीर्य्य) के परिणामस्वरूप होते हैं:–

(१) अस्थि (हड्डी),

(२) अस्थि के अन्दर का रस,

(३) सिर, दाढ़ी, मूंछ, नख और कुक्षि आदि के बाल।

(ठाणांग ३, सूत्र २०६)

१२३-माता के तीन अंगः-

सन्तान में माता के तीन अंग होते हैं अर्थात् ये तीन अंग प्रायः माता के रज के परिणामस्वरूप होते हैं:–

(१) मांस, (२) रक्त, (३) मस्तुलिङ्ग (मस्तिष्क)।

(ठाणांग ३, सूत्र २०६)

१२४-तीन का प्रत्युपकार दुःशक्य है-

(१) माता–पिता (२) भर्त्ता (स्वामी) (३) धर्माचार्य्य

इन तीनों का प्रत्युपकार अर्थात् उपकार का बदला चुकाना दुःशक्य है।

माता--पिताः–कोई कुलीन पुरुष सवेरे ही सवेरे शतपाक, सहस्त्रपाक, जैसे--तैल से माता–पिता के शरीर की मालिश करे।

मालिश करके सुगन्धित द्रव्य का उबटन करे एवं इसके बाद सुगन्धी, उष्ण और शीतल, तीन प्रकार के जल से स्नान करावे। तत्पश्चात् सभी अलंकारों से उन के शरीर को भूषित करे। वस्त्र, आभूषणों से अलंकृत कर मनोज्ञ, अठारह प्रकार के व्यञ्जनों सहित भोजन करावे और इसके बाद उन्हें अपने कन्धों पर उठा कर फिरे। यावज्जीव ऐसा करने पर भी वह पुरुष माता–पिता के महान् उपकार से उऋण नहीं हो सकता। परन्तु यदि वह केवली प्ररूपित धर्म कह कर, उसका बोध देकर, माता–पिता को उक्त धर्म में स्थापित कर दे तो वह माता–पिता के परम उपकार का बदला चुका सकता है।

भर्त्ता (स्वामी):–कोई समर्थ धनिक पुरुष, दु:खावस्था में पड़े हुए किसी असमर्थ दीन पुरुष को धनदान आदि से उन्नत कर दे। वह दीन पुरुष अपने उपकारी की सहायता से बढ़ कर उस के सम्मुख या परोक्ष में विपुल भोग–सामग्री का उपभोग करता हुआ विचरे। इसके बाद यदि किसी समय में लाभान्तराय कर्म के उदय से वह भर्त्ता (उपकारी) पुरुष निर्धन हो जाय और वह सहायता की आशा से उस पुरुष के पास (जिस को कि उसने अपनी सम्पन्न अवस्था में धन आदि की सहायता से बढ़ाया था) जाय। वह भी अपने भर्त्ता (उपकारी) के महदुपकार को स्मरण कर, अपना सर्वस्व उसे समर्पित कर दे। परन्तु इतना करके भी वह पुरुष अपने उपकारी के किये हुए उपकार से उऋण नहीं हो सकता। परन्तु यदि वह उसे केवली भाषित धर्म कह कर एवं पूरी तरह से उसको बोध देकर धर्म में स्थापित कर दे तो वह पुरुष, उस के उपकार से उऋण हो सकता है।

धर्माचार्य्य:–कोई पुरुष धर्माचार्य्य के समीप पाप कर्म से हटाने वाला एक भी धार्मिक सुवचन सुनकर हृदय में धारण कर ले एवं इस के बाद यथासमय काल करके देवलोक में उत्पन्न हो। वह देवता धर्माचार्य्य के उपकार का ख्याल करके, आवश्यकता पड़ने पर उन धर्माचार्य्य को दुर्भिक्ष वाले देश से दूसरे देश में पहुँचा देवे। निर्जन, भीषण अटवी में से उन का उद्धार करे एवं दीर्घ काल के कुष्ठादि रोग एवं शूलादि आतङ्क से उनकी रक्षा करे। इतने पर भी वह देवता अपने परमोपकारी धर्माचार्य्य के उपकार का बदला नहीं

चुका सकता। किन्तु यदि मोह कर्म के उदय से वह धर्माचार्य्य स्वयं केवली प्ररूपित धर्म से भ्रष्ट हो जाय और वह देवता उन्हें केवली प्ररूपित धर्म का स्वरूप बता कर, बोध देकर उन्हें पुनः धर्म में स्थिर कर दे तो वह देवता धर्माचार्य्य के ऋण से मुक्त हो सकता है।

(ठाणांग ३, सूत्र १३५)

१२५-आत्मा तीनः-

(१) बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा (३) परमात्मा

बहिरात्माः—जिस जीव को सम्यग् ज्ञान के न होने से मोहवश शरीरादि बाह्य पदार्थों में आत्मबुद्धि हो कि "यह मैं ही हूँ, इन से भिन्न नहीं हूँ।" इस प्रकार आत्मा को देह के साथ जोड़ने वाला अज्ञानी आत्मा, बहिरात्मा है।

अन्तरात्माः—जो पुरुष बाह्य भावों को पृथक् कर शरीर से भिन्न, शुद्ध ज्ञान—स्वरूप आत्मा में ही आत्मा का निश्चय करता है, वह आत्मज्ञानी पुरुष, अन्तरात्मा है।

परमात्माः—सकल कर्मों का नाश कर, जिस आत्मा ने अपना शुद्ध ज्ञान स्वरूप प्राप्त कर लिया है, जो वीतराग और कृतकृत्य है ऐसी शुद्धात्मा, परमात्मा है।

(परमात्म प्रकाश, गाथा १३, १४, १५)

१२६-तीन अर्थयोनिः-

राजलक्ष्मी आदि की प्राप्ति के उपाय अर्थयोनि हैं। वे उपाय तीन हैं:—

(१) साम (२) दण्ड (३) भेद

सामः—एक—दूसरे के उपकार को दिखाना, गुणकीर्तन करना, सम्बन्ध का कहना, भविष्य की आशा देना, मीठे वचनों से "मैं तुम्हारा ही हूँ।" इत्यादि कहकर आत्मा का अर्पण करना, इस प्रकार के प्रयोग साम कहलाते हैं।

दण्डः—वध, क्लेश, धन—हरण आदि द्वारा शत्रु को वश करना दण्ड कहलाता है।

भेदः—जिस शत्रु को जीतना है, उस के पक्ष के लोगों का उस से स्नेह हटाकर, उन में कलह पैदा कर देना तथा भय दिखा कर फूट करा देना भेद है।

(ठाणाग ३, सूत्र १८५ की टीका)

१२७-श्रद्धाः-

जहां तर्क का प्रवेश न हो, ऐसे धर्मास्तिकाय आदि पर व्याख्याता के कथन से विश्वास कर लेना श्रद्धा है।

प्रतीतिः—व्याख्याता से युक्तियों द्वारा समझ कर विश्वास करना प्रतीति है।

रुचिः—व्याख्याता द्वारा उपदिष्ट विषय में श्रद्धा करके उसके अनुसार तप, चारित्र आदि सेवन की इच्छा करना रुचि है।

(भगवती शतक १, उद्देशा ६)

१२८-(क) गुणव्रत की व्याख्या और भेदः-

अणुव्रत के पालन में गुणकारी यानि उपकारक गुणों को पुष्ट करने वाले व्रत गुणव्रत कहलाते हैं।

गुणव्रत तीन हैंः—

(१) दिशिपरिमाण व्रत

(२) उपभोग—परिभोग परिमाण व्रत

(३) अनर्थदण्ड विरमण व्रत

दिशिपरिमाण व्रतः—पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर, नीचे इन छह दिशाओं की मर्यादा करना एवं नियमित दिशा से आगे आश्रव सेवन का त्याग करना, दिशिपरिमाण व्रत कहलाता है।

उपभोग—परिभोग परिमाण व्रतः—भोजन आदि जो एक बार भोगने में आते हैं, वे उपभोग हैं और बार—बार भोगे जाने वाले वस्त्र, शय्या आदि परिभोग हैं। उपभोग—परिभोग योग्य वस्तुओं का परिमाण करना, छब्बीस बोलों की मर्यादा करना एवं मर्यादा के उपरान्त उपभोग—परिभोग योग्य वस्तुओं के भोगोपभोग का त्याग करना, उपभोग—परिभोग परिमाण व्रत है।

अनर्थदण्ड विरमण व्रतः—अपध्यान अर्थात् आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान करना, प्रमादपूर्वक प्रवृत्ति करना, हिंसाकारी शस्त्र देना एवं पापकर्म का उपदेश देना, ये सभी कार्य्य अनर्थदण्ड हैं, क्योंकि इनसे निष्प्रयोजन हिंसा होती है। अनर्थदण्ड के इन कार्य्यों का त्याग करना, अनर्थदण्ड विरमण व्रत है।

(हरिभद्रीयावश्यक, अध्याय ६, पृष्ठ ८२६—८३६)

१२८-(ख) गुप्ति की व्याख्या और भेदः-

अशुभ योग से निवृत्त होकर शुभयोग में प्रवृत्ति करना गुप्ति है।

अथवा:--

मोक्षाभिलाषी आत्मा का आत्मरक्षा के लिए अशुभ योगों का रोकना गुप्ति है।

अथवा:--

आने वाले कर्म रूपी कचरे को रोकना गुप्ति है।

गुप्ति के तीन भेद:--

(१) मनोगुप्ति (२) वचनगुप्ति (३) कायगुप्ति

मनोगुप्ति:--आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ सम्बन्धी संकल्प--विकल्प न करना, परलोक में हितकारी धर्म--ध्यान सम्बन्धी चिन्तवना करना, मध्यस्थ भाव रखना, शुभ--अशुभ योगों को रोक कर योग--निरोध अवस्था में होने वाली अन्तरात्मा की अवस्था को प्राप्त करना, मनोगुप्ति है।

वचनगुप्ति:--वचन के अशुभ व्यापार अर्थात् संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ सम्बन्धी वचन का त्याग करना, विकथा न करना, मौन रहना, वचनगुप्ति है।

कायगुप्ति:--खड़ा होना, बैठना, उठना, सोना, लांघना, सीधा चलना, इन्द्रियों को अपने--अपने विषयों में लगाना, संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ में प्रवृत्ति करना इत्यादि कायिक व्यापारों में प्रवृत्ति न करना अर्थात् इन व्यापारों से निवृत्त होना कायगुप्ति है। अयतना का परिहार कर यतनापूर्वक काया से व्यापार करना एवं अशुभ व्यापारों का त्याग करना, कायगुप्ति है।

(उत्तराध्ययन, अध्ययन २४) (ठाणांग ३, उद्देशा १, सूत्र १२६)



चौथा बोल

(बोल नम्बर १२६ से २७३ तक)

१२६ (क)-चार मंगल रूप हैं, लोक में उत्तम हैं तथा शरण रूप हैं:--

(१) अरिहन्त (२) सिद्ध
(३) साधु (४) केवली प्ररूपित धर्म

अरिहन्त--चार घाती कर्म रूप शत्रुओं का नाश करने वाले, देवेन्द्र कृत अष्ट महाप्रातिहार्यादि रूप पूजा को प्राप्त, सिद्धिगति के योग्य, केवल ज्ञान एवं केवल दर्शन से त्रिकाल एवं लोकत्रय को जानने और देखने वाले, हितोपदेशक, सर्वज्ञ भगवान् अरिहन्त कहलाते हैं। अरिहन्त भगवान् के आठ महाप्रातिहार्य और चार मूलातिशय रूप बारह गुण हैं।

सिद्धः--शुक्ल ध्यान द्वारा आठ कर्मों का नाश करने वाले, लोकाग्रस्थित सिद्धशिला पर विराजमान, कृतकृत्य, मुक्तात्मा सिद्ध कहे जाते हैं। आठ कर्म का नाश होने से इन में आठ गुण प्रगट होते हैं।

नोटः--सिद्ध भगवान् के आठ गुणों का वर्णन आठवें बोल में दिया जायगा।

साधुः--सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग्--चारित्र द्वारा मोक्षमार्ग की आराधना करने वाले, प्राणिमात्र पर समभाव रखने वाले, षट्काया के रक्षक, आठ प्रवचन माता के आराधक, पंच महाव्रतधारी मुनि साधु कहलाते हैं। आचार्य, उपाध्याय का भी इन्हीं में समावेश किया गया है।

केवली प्ररूपित धर्मः--पूर्ण ज्ञानसम्पन्न केवली भगवान से प्ररूपित श्रुत चारित्र रूप धर्म केवली प्ररूपित धर्म है।

ये चारों हित और सुख की प्राप्ति में कारणरूप हैं। अतएव मंगल रूप हैं। मंगल रूप होने से ये लोक में उत्तम हैं।

हरिभद्रीयावश्यक में चारों की लोकोत्तमता इस प्रकार बतलाई है:--

औदयिक आदि छः भाव भावलोक रूप हैं। अरिहन्त भगवान् इन भावों की अपेक्षा लोकोत्तम हैं। अर्हन्तावस्था में प्रायः अघाती कर्मों की शुभ प्रकृतियों का उदय रहता है इसलिये औदयिक भाव उत्तम होता है। चारों घाती कर्मों के क्षय होने से क्षायिक भाव भी

इन में सर्वोत्तम होता है। औपशमिक एवं क्षायोपशमिक भाव अरिहन्त में होते ही नहीं है। क्षायिक एवं औदयिक के संयोग से होने वाला सान्निपातिक भाव भी अरिहन्त में उत्तम होता है। क्योंकि क्षायिक और औदयिक भाव दोनों ही उत्तम ऊपर बताये जा चुके हैं। इस प्रकार अरिहन्त भगवान् भाव की अपेक्षा लोकोत्तम हैं। सिद्ध भगवान् क्षायिक भाव की अपेक्षा लोकोत्तम हैं। इसी प्रकार लोक में सर्वोच्च स्थान पर विराजने से क्षेत्र की अपेक्षा भी वे लोकोत्तम हैं।

साधु-महात्माः—ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप भावों की उत्कृष्टता की अपेक्षा लोकोत्तम हैं—औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन भावों की अपेक्षा केवली प्ररूपित धर्म भी लोकोत्तम है।

सांसारिक दुःखों से त्राण पाने के लिए सभी आत्मा उक्त चारों का आश्रय लेते हैं। इसलिए वे शरण रूप हैं।

बौद्ध साहित्य में बुद्ध धर्म और संघ शरण रूप माने गये हैं। यथाः—

"अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धे सरणं पवज्जामि। साहू सरणं पवज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मं सरणं पवज्जामि।"

इस पाठ जैसा ही बौद्ध साहित्य में भी पाठ मिलता है। यथाः—

बुद्धं सरणं गच्छामि, धम्मं सरणं गच्छामि, संघ सरणं गच्छामि।

(हरिभद्रीयावश्यक, प्रतिक्रमणाध्ययन. पृष्ठ ५३६)

१२६-(ख) अरिहन्त भगवान् के चार मूलातिशय-

(१) अपायापगमातिशय (२) ज्ञानातिशय

(३) पूजातिशय (४) वागतिशय

अपायापगमातिशय—अपाय अर्थात् अठारह दोष एवं विघ्न--बाधाओं का सर्वथा नाश हो जाना अपायापगमातिशय है।

नोटः—१८ दोषों का वर्णन अठारहवें बोल में दिया जायगा।

ज्ञानातिशय—ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से उत्पन्न त्रिकाल एवं त्रिलोक के समस्त द्रव्य एवं पर्यायों को हस्तामलकवत् जानना, संपूर्ण, अव्याबाध, अप्रतिपाती ज्ञान का धारण करना ज्ञानातिशय है।

पूजातिशय—अरिहन्त तीन लोक की समस्त आत्माओं के लिए पूज्य हैं, तथा इन्द्रकृत अष्ट महाप्रातिहार्यादि रूप पूजा से पूजित हैं। त्रिलोकपूज्यता एवं इन्द्रादिकृत पूजा ही पूजातिशय है।

भगवान् के चौंतीस अतिशय, अपायापगमातिशय एवं पूजातिशय रूप ही हैं।

वागतिशय–अरिहन्त भगवान् रागद्वेष से परे होते हैं, एवं पूर्ण ज्ञान के धारक होते हैं। इसलिए उनके वचन सत्य एवं परस्पर बाधारहित होते हैं। वाणी की यह विशेषता ही वचनातिशय है। भगवान् की वाणी के पैंतीस अतिशय वागतिशय रूप ही हैं।

(स्याद्वादमञ्जरी, कारिका १)

१३०-संसारी के चार प्रकारः-

(१) प्राण (२) भूत (३) जीव (४) सत्त्व

प्राणः–विकलेन्द्रिय अर्थात् द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों को प्राण कहते हैं।

भूतः–वनस्पति काय को भूत कहते हैं।

जीवः–पञ्चेन्द्रिय प्राणियों को जीव कहते हैं।

सत्त्वः–पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वायुकाय इन चार स्थावर जीवों को सत्त्व कहते हैं।

(ठाणांग ५, उद्देशा २, सूत्र ४३०)

श्री भगवती सूत्र, शतक २, उद्देशा १, में जीव के प्राण, भूत, जीव, सत्त्व आदि छह नाम भिन्न–भिन्न धर्मों की विवक्षा से दिये हैं। विज्ञ और वेद–ये दो नाम वहां अधिक हैं। जैसे किः–

प्राणः–प्राणवायु को खींचने और बाहर निकालने अर्थात् श्वासोच्छ्वास लेने के कारण जीव को प्राण कहा जाता है।

भूतः–तीनों कालों में विद्यमान होने से जीव को भूत कहा जाता है।

जीवः–जीता है अर्थात् प्राण धारण करता है और आयु, कर्म तथा जीवत्व का अनुभव करता है, इसलिए यह जीव है।

सत्तः–(सक्त, शक्त, अथवा सत्त्व) जीव शुभाशुभ कर्मों के साथ सम्बद्ध है। अच्छे और बुरे काम करने में समर्थ है या सत्ता वाला है। इसलिए इसे सत्त (क्रमशः–सक्त, शक्त, सत्त्व) कहा जाता है।

विज्ञः–कडवे, कषैले, खट्टे, मीठे रसों को जानता है, इसलिए जीव विज्ञ कहलाता है।

वेदः–जीव सुख–दुःखों का भोग करता है, इसलिए वह वेद कहलाता है।

१३१-गति की व्याख्या:-

गति नामक नामकर्म के उदय से प्राप्त होने वाली पर्याय गति कहलाती है।

गति के चार भेद:-

(१) नरक गति (२) तिर्यञ्च गति

(३) मनुष्य गति (४) देव गति

(पन्नवणा पद २३, उद्देशा २)

(कर्मग्रन्थ भाग ४, गाथा १०)

१३२-नरक आयु बन्ध के चार कारण:-

(१) महारम्भ (२) महापरिग्रह

(३) पञ्चेन्द्रिय वध (४) कुणिमाहार

महारम्भ:--बहुत प्राणियों की हिंसा हो, इस प्रकार तीव्र परिणामों से कषायपूर्वक प्रवृत्ति करना महारम्भ है।

महापरिग्रह:--वस्तुओं पर अत्यन्त मूर्छा, महापरिग्रह है।

पञ्चेन्द्रिय वध:-पञ्चेन्द्रिय जीवों की हिंसा करना पञ्चेन्द्रिय वध है।

कुणिमाहार:-कुणिमा अर्थात् मांस का आहार करना।

इन चार कारणों से जीव नरकायु का बन्ध करता है।

(ठाणांग ४, उद्देशा ४, सूत्र ३७३)

१३३-तिर्यञ्च आयु बन्ध के चार कारण:-

(१) माया:-अर्थात् कुटिल परिणामों वाला-जिसके मन में कुछ हो और बाहर कुछ हो। विषकुम्भ--पयोमुख की तरह ऊपर से मीठा हो, दिल से अनिष्ट चाहने वाला हो।

(२) निकृत्ति वाला:-ढोंग करके दूसरों को ठगने की चेष्टा करने वाला।

(३) झूठ बोलने वाला।

(४) झूठे तोल, झूठे माप वाला। अर्थात् खरीदने के लिए बड़े और बेचने के लिए छोटे तोल और माप रखने वाला जीव तिर्यञ्च गतियोग्य कर्म बान्धता है।

(ठाणांग ४, उद्देशा ४, सूत्र ३७३)

१३४-मनुष्य आयु बन्ध के चार कारण:-

(१) भद्र प्रकृति वाला।

(२) स्वभाव से विनीत।

(३) दया और अनुकम्पा के परिणामों वाला।

(४) मत्सर अर्थात् ईर्ष्या–डाह न करने वाला जीव मनुष्य आयु योग्य कर्म बाँधता है।

(ठाणांग ४, उद्देशा ४, सूत्र ३७३)

१३५-देव आयु बन्ध के चार कारणः-

(१) सराग संयम वाला।

(२) देश विरति श्रावक।

(३) अकाम निर्जरा अर्थात् अनिच्छापूर्वक पराधीनता आदि कारणों से कर्मों की निर्जरा करने वाला।

(४) बालभाव से, विवेक के बिना, अज्ञानपूर्वक काया–क्लेश आदि तप करने वाला जीव देवायु के योग्य कर्म बांधता है।

(ठाणांग ४, उद्देशा ४, सूत्र ३७३)

१३६-देवताओं के चार भेदः-

(१) भवनपति (२) व्यन्तर (३) ज्योतिष (४) वैमानिक।

(उत्तराध्ययन, अध्ययन ३६, गाथा १०२)

१३७-देवताओं की पहिचान के चार बोलः-

(१) देवताओं की पुष्पमालायें नहीं कुम्हलातीं।

(२) देवता के नेत्र निर्निमेष होते हैं। अर्थात् उनके पलक नहीं गिरते।

(३) देवता का शरीर नीरज अर्थात् निर्मल होता है।

(४) देवता भूमि से चार अंगुल ऊपर रहता है। वह भूमि का स्पर्श नहीं करता।

(अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग ४, पृष्ठ २६१०)

१३८-तत्काल उत्पन्न देवता चार कारणों से इच्छा करने पर भी मनुष्य लोक में नहीं आ सकता।

(१) तत्काल उत्पन्न देवता दिव्य काम–भोगों में अत्यधिक मोहित और गृद्ध हो जाता है इसलिए मनुष्य सम्बन्धी काम–भोगों से उसका मोह छूट जाता है और वह उनकी चाह नहीं करता।

(२) वह देवता दिव्य काम–भोगों में इतना मोहित और गृद्ध होजाता है कि उसका मनुष्य सम्बन्धी प्रेम देवता सम्बन्धी प्रेम में परिणत हो जाता है।

(३) वह तत्काल उत्पन्न देवता "मैं मनुष्य लोक में जाऊँ, अभी जाऊँ" ऐसा सोचते हुए विलम्ब कर देता है। क्योंकि वह देव कार्य्यों के पराधीन हो जाता है और मनुष्य सम्बन्धी कार्यों से स्वतन्त्र हो जाता है। इसी बीच, उसके पूर्व भव के अल्प आयु वाले स्वजन, परिवार आदि के मनुष्य अपनी आयु पूरी कर देते हैं।

(४) देवता को मनुष्य लोक की गन्ध प्रतिकूल और अत्यन्त अमनोज्ञ मालूम होती हैं। वह गन्ध इस भूमि से, पहले, दूसरे आरे में चार सौ योजन और शेष आरों में पांच सौ योजन तक ऊपर जाती है।

(ठाणांग ४, सूत्र ३२३)

१३९-तत्काल उत्पन्न देवता मनुष्य लोक में आने की इच्छा करता हुआ चार बोलों से आने में समर्थ होता है।

नोटः–इसके पहले के तीन बोल तो बोल नम्बर ११० में दिये जा चुके हैं।

(४) दो मित्रों या सम्बन्धियों ने मरने से पहले परस्पर प्रतिज्ञा की कि हममें से जो देवलोक से पहले चवेगा, दूसरा उसकी सहायता करेगा। इस प्रकार की प्रतिज्ञा में बद्ध होकर स्वर्ग से चवकर, मनुष्य भव में उत्पन्न हुए अपने साथी की सहायता करने के लिए वह देवता मनुष्य लोक में आने में समर्थ होता है।

(ठाणांग ४, सूत्र ३२३)

१४०-तत्काल उत्पन्न हुआ नैरयिक मनुष्य लोक में आने की इच्छा करता है। किन्तु चार बोलों से आने में असमर्थ है।

(१) नवीन उत्पन्न हुआ नैरयिक नरक में प्रबल वेदना का अनुभव करता हुआ मनुष्य लोक में शीघ्र आने की इच्छा करता है। पर आने में असमर्थ है।

(२) नवीन उत्पन्न नैरयिक नरक में परमाधामी देवताओं से सताया हुआ, मनुष्य लोक में शीघ्र ही आना चाहता है परन्तु आने में असमर्थ है।

(३) तत्काल उत्पन्न नैरयिक नरकयोग्य अशुभ नाम कर्म, असाता, वेदनीय आदि कर्मों की स्थिति क्षय हुए बिना, विपाक भोगे बिना और उक्त कर्म प्रदेशों के आत्मा से अलग हुए बिना ही मनुष्य लोक में आने की इच्छा करता है परन्तु निकाचित कर्म रूपी जंजीरों से बँधा होने के कारण आने में असमर्थ है।

(४) नवीन उत्पन्न नैरयिक नरक आयु कर्म की स्थिति पूरी हुए बिना, विपाक भोगे बिना और आयु कर्म के प्रदेशों के आत्मा से पृथक् हुए बिना ही मनुष्य लोक में आना चाहता है पर नरक आयु कर्म के रहते हुए, वह आने में असमर्थ है।

(ठाणांग ४, सूत्र २४५)

१४१-भावना चारः-

(१) कन्दर्प भावना (२) आभियोगिकी भावना
(३) किल्विषिकी भावना (४) आसुरी भावना

कन्दर्प भावनाः–कन्दर्प करना अर्थात् अट्टहास करना, जोर से बातचीत करना, काम–कथा करना, काम का उपदेश देना और उसकी प्रशंसा करना, कौत्कुच्य करना (शरीर और वचन से दूसरे को हंसाने की चेष्टा करना), विस्मयोत्पादक शील स्वभाव रखना, हास्य तथा विविध विकथाओं से दूसरों को विस्मित करना कन्दर्प भावना है।

आभियोगिकी भावनाः–सुख, मधुरादि रस और उपकरण आदि की ऋद्धि के लिए वशीकरणादि मंत्र अथवा यंत्र–मंत्र (गंडा, ताबीज़) करना, रक्षा के लिए भस्म, मिट्टी अथवा सूत्र से वसति आदि का परिवेष्टन रूप भूति कर्म करना आभियोगिकी भावना है।

किल्विषिकी भावनाः–ज्ञान, केवल ज्ञानी पुरुष, धर्माचार्य्य संघ और साधुओं का अवर्णवाद बोलना तथा माया करना किल्विषिकी भावना है।

आसुरी भावनाः–निरतर क्रोध में भरे रहना, पुष्ट कारण के बिना भूत, भविष्यत् और वर्तमानकालीन निमित्त बताना आसुरी भावना है।

इन चार भावनाओं से जीव उस-उस प्रकार के देवों में उत्पन्न कराने वाले कर्म बांधता है। अर्थात् इन भावनाओं वाला जीव यदि कदाचित् देवगति प्राप्त करे तो हीन कोटि का देव होता है।

(उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन ३६, गाथा २६१)

१४२-संज्ञा की व्याख्या और भेदः-

चेतनाः–ज्ञान का, असाता वेदनीय और मोहनीय कर्म के उदय से पैदा होने वाले विकार से युक्त होना, संज्ञा है।

संज्ञा के चार भेद हैं--

(१) आहार संज्ञा (२) भय संज्ञा

(३) मैथुन संज्ञा (४) परिग्रह संज्ञा

आहार संज्ञाः—तैजस शरीर नाम कर्म और क्षुधा वेदनीय के उदय से कवलादि आहार के लिए आहारयोग्य पुद्गलों को ग्रहण करने की जीव की अभिलाषा को आहार संज्ञा कहते हैं।

भय संज्ञाः—भय मोहनीय के उदय से होने वाला जीव का त्रासरूप परिणाम भय संज्ञा है। भय से उद्भ्रांत जीव के नेत्र और मुख में विकार, रोमाञ्च, कम्पन आदि क्रियाएं होती हैं।

मैथुन संज्ञाः—वेद मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होने वाली मैथुन की इच्छा मैथुन संज्ञा है।

परिग्रह संज्ञाः—लोभ मोहनीय के उदय से उत्पन्न होने वाली सचित्त आदि द्रव्यों को ग्रहण रूप आत्मा की अभिलाषा अर्थात् तृष्णा को परिग्रह संज्ञा कहते हैं।

१४३-आहार संज्ञा चार कारणों से उत्पन्न होती हैः-

(१) पेट के खाली होने से।

(२) क्षुधा वेदनीय कर्म के उदय से।

(३) आहार कथा सुनने और आहार के देखने से।

(४) निरन्तर आहार का स्मरण करने से।

इन चार बोलों से जीव के आहार संज्ञा उत्पन्न होती है।

१४४-भय संज्ञा चार कारणों से उत्पन्न होती हैः-

(१) सत्त्व अर्थात् शक्तिहीन होने से।

(२) भय मोहनीय कर्म के उदय से।

(३) भय की बात सुनने, भयानक वस्तुओं के देखने आदि से।

(४) इहलोक आदि भय के कारणों को याद करने से।

इन चार बोलों से जीव को भय संज्ञा उत्पन्न होती है।

१४५-मैथुन संज्ञा चार कारणों से उत्पन्न होती हैः-

(१) शरीर के खूब हृष्टपुष्ट होने से।

(२) वेद मोहनीय कर्म के उदय से।

(३) काम-कथा श्रवण आदि से।

(४) सदा मैथुन की बात सोचते रहने से।

इन चार बोलों से मैथुन संज्ञा उत्पन्न होती है।

१४६-परिग्रह संज्ञा चार कारणों से उत्पन्न होती हैः-

(१) परिग्रह की वृत्ति होने से।

(२) लोभ मोहनीय कर्म के उदय होने से।

(३) सचित्त, अचित्त और मिश्र परिग्रह की बात सुनने और देखने से।

(४) सदा परिग्रह का विचार करते रहने से।

इन चार बोलों से परिग्रह संज्ञा उत्पन्न होती है।

(बोल नम्बर १४२ से १४६ तक के लिए प्रमाण)

(ठाणांग ४, उद्देशा ४, सूत्र ३५६)

(अभिधान राजेन्द्र कोष, ७ वां भाग, पृष्ठ ३००)

(प्रवचन सारोद्धार, गाथा ६२३)

१४७-चार गति में चार संज्ञाओं का अल्प बहुत्वः-

सब से थोड़े नैरयिक मैथुन संज्ञा वाले होते हैं। आहार संज्ञा वाले उनसे संख्यात गुणा हैं। परिग्रह संज्ञा वाले उनसे संख्यात गुणा हैं और भय संज्ञा वाले उनसे संख्यात गुणा हैं।

तिर्यञ्च गति में सब से थोड़े परिग्रह संज्ञा वाले हैं। मैथुन संज्ञा वाले उनसे संख्यात गुणा हैं। भय संज्ञा वाले उनसे संख्यात गुणा हैं और आहार संज्ञा वाले उनसे भी संख्यात गुणा हैं।

मनुष्यों में सब से थोड़े भय संज्ञा वाले हैं। आहार संज्ञा वाले उनसे संख्यात गुणा हैं। परिग्रह संज्ञा वाले उनसे संख्यात गुणा हैं। मैथुन संज्ञा वाले उनसे भी संख्यात गुणा हैं।

देवताओं में सब से थोड़े आहार संज्ञा वाले हैं। भय संज्ञा वाले उनसे संख्यात गुणा हैं। मैथुन संज्ञा वाले उनसे संख्यात गुणा हैं और परिग्रह संज्ञा वाले उनसे भी संख्यात गुणा हैं।

(पन्नवणा संज्ञा, पद ८)

१४८-विकथा की व्याख्या और भेदः-

संयम में बाधक चारित्रविरुद्ध कथा को विकथा कहते हैं। विकथा के चार भेद हैं:-

(१) स्त्रीकथा (२) भक्तकथा (३) देशकथा (४) राजकथा।

(ठाणांग ४, सूत्र २८२)

१४६-स्त्रीकथा के चार भेदः-

(१) जातिकथा (२) कुलकथा (३) रूपकथा (४) वेशकथा

स्त्री की जातिकथा--ब्राह्मण आदि जाति की स्त्रियों की प्रशंसा या निन्दा करना।

स्त्री की कुलकथा–उग्र कुल आदि की स्त्रियों की प्रशंसा या निन्दा करना।

स्त्री की रूपकथा–आँन्ध्र आदि देश की स्त्रियों के रूप का वर्णन करना, अथवा भिन्न–भिन्न देशों की स्त्रियों के भिन्न–भिन्न अङ्गों की प्रशंसा या निन्दा करना।

स्त्री की वेशकथा–स्त्रियों के वेणीबन्ध और पहनावे आदि की प्रशंसा या निन्दा करना–जैसे–अमुक देश की स्त्री के वेश में यह विशेषता है या न्यूनता है। अमुक देश की स्त्रियाँ सुन्दर केश संवारती हैं, इत्यादि।

(ठाणांग ४, सूत्र २८२)

स्त्रीकथा करने और सुनने वालों को मोह की उत्पत्ति होती हैं। लोक में निन्दा होती है। सूत्र और अर्थ ज्ञान की हानि होती है। ब्रह्मचर्य्य में दोष लगता है। स्त्रीकथा करने वाला संयम से गिर जाता है। कुलिङ्गी हो जाता है या साधु वेश में रह कर अनाचार सेवन करता है।

(निशीथ चूर्णि, उद्देशा १)

१५०-भक्त (भात) कथा चार:-

(१) आवाप कथा (२) निर्वाप कथा

(३) आरम्भ कथा (४) निष्ठान कथा

(१) भोजन की आवाप कथा–भोजन बनाने की कथा। जैसे–इस मिठाई को बनाने में इतना घी, इतनी चीनी आदि सामग्री लगेगी।

(२) भोजन निर्वाप कथा–इतने पक्व, अपक्व अन्न के भेद हैं, इतने व्यंजन होते हैं, आदि कथा करना निर्वाप कथा है।

(३) भोजन की आरम्भ कथा–इतने जीवों की इसमें हिंसा होगी इत्यादि आरम्भ की कथा करना आरम्भ कथा है।

(४) भोजन की निष्ठान कथा–इस भोजन में इतना द्रव्य लगेगा आदि कथा निष्ठान कथा है।

(ठाणांग ४, सूत्र २८२)

भक्त कथा अर्थात् आहार कथा करने से गृद्धि होती है और आहार बिना किए ही गृद्धि आसक्ति से साधु को इङ्गाल आदि दोष लगते हैं। लोगों में यह चर्चा होने लगती है कि यह साधु

अजितेन्द्रिय है। इन्होंने खाने के लिए संयम लिया है। यदि ऐसा न होता तो ये साधु आहार कथा क्यों करते ? अपना स्वाध्याय, ध्यान आदि क्यों नहीं करते ? गृद्धि भाव से षट् जीव निकाय के वध की अनुमोदना लगती है तथा आहार में आसक्त साधु एषणाशुद्धि का विचार भी नहीं कर सकता। इस प्रकार भक्त कथा के अनेक दोष हैं।

(निशीथ चूर्णि, उद्देशा १)

१५१-देशकथा चारः-

(१) देश विधि कथा (२) देश विकल्प कथा

(३) देश छंद कथा (४) देश नेपथ्य कथा

देश विधि कथा–देश विशेष के भोजन, मणि, भूमि आदि की रचना तथा वहां भोजन के प्रारम्भ में क्या दिया जाता है और फिर क्रमशः क्या–क्या दिया जाता है ? आदि कथा करना देश विधि कथा है।

देश विकल्प कथा–देश विशेष में धान्य की उत्पत्ति तथा वहां के वप्र, कूप, देवकुल, भवन आदि का वर्णन करना देश विकल्प कथा है।

देश छंद कथा–देश विशेष की गम्य, अगम्य विषयक बात करना। जैसे–लाट देश में मामा या मासी की लड़की का सम्बन्ध किया जा सकता है और दूसरे देशों में नहीं इत्यादि कथा करना देश छन्द कथा है।

देश नेपथ्य कथा–देश विशेष के स्त्री–पुरुषों के स्वाभाविक वेश तथा शृङ्गार आदि का वर्णन करना, देश नेपथ्य कथा है।

(ठाणांग ४, सूत्र २८२)

देशकथा करने से विशिष्ट देश के प्रति राग या दूसरे देश से अरुचि होती है। राग-द्वेष से कर्मबन्ध होता है। स्वपक्ष और परपक्ष वालों के साथ इस सम्बन्ध में वाद–विवाद खड़ा हो जाने पर झगड़ा हो सकता है। देश-वर्णन सुनकर दूसरा साधु उस देश को विविध गुणसम्पन्न सुनकर वहां जा सकता है। इस प्रकार देशकथा से अनेक दोषों की संभावना है।

(निशीथ चूर्णि, उद्देशा १)

१५२-राजकथा चारः-

(१) राजा की अतियान कथा
(२) राजा की निर्याण कथा
(३) राजा के बलवाहन की कथा
(४) राजा के कोष और कोठार की कथा।

राजा की अतियान कथा–राजा के नगर प्रवेश तथा उस समय की विभूति का वर्णन करना, अतियान कथा है।

राजा की निर्याण कथा–राजा के नगर से निकलने की बात करना तथा उस समय के ऐश्वर्य का वर्णन करना, निर्याण कथा है।

राजा के बलवाहन की कथा–राजा के अश्व, हाथी आदि सेना और रथ आदि वाहनों के गुण और परिमाण आदि का वर्णन करना, बलवाहन कथा है।

राजा के कोष और कोठार की कथा–राजा के खजाने और धान्य आदि के कोठार का वर्णन करना, धन–धान्य आदि के परिमाण का कथन करना, कोष और कोठार की कथा है। उपाश्रय में बैठे हुए साधुओं को राजकथा करते हुए सुनकर राजपुरुष के मन में ऐसे विचार आ सकते हैं कि ये वास्तव में साधु नहीं हैं। सच्चे साधुओं को राजकथा से क्या प्रयोजन ? मालूम होता है कि ये गुप्तचर या चोर हैं। राजा के अमुक अश्व का हरण हो गया था, राजा के स्वजन को किसी ने मार दिया था। उन अपराधियों का पता नहीं लगा। क्या ये वे ही तो अपराधी नहीं हैं ? अथवा ये उक्त काम करने के अभिलाषी तो नहीं हैं ? राजकथा सुनकर किसी राजकुल से दीक्षित साधु को भुक्त-भोगों का स्मरण हो सकता है। अथवा दूसरा साधु राजऋद्धि सुन कर नियाणा कर सकता है। इस प्रकार राजकथा के ये तथा और भी अनेक दोष हैं।

(निशीथ चूर्णि, उद्देशा १)

१५३-धर्मकथा की व्याख्या और भेदः-

दया, दान, क्षमा आदि धर्म के अंगों का वर्णन करने वाली और धर्म की उपादेयता बताने वाली कथा, धर्मकथा है। जैसे–उत्तराध्ययन आदि।

धर्मकथा के चार भेदः–

(१) आक्षेपणी (२) विक्षेपणी

(३) संवेगनी (४) निर्वेदनी

(ठाणांग ४, उद्देशा २, सूत्र २८२)

१५४-आक्षेपणी कथा की व्याख्या और भेदः-

श्रोता को मोह से हटाकर तत्त्व की ओर आकर्षित करने वाली कथा को आक्षेपणी कथा कहते हैं। इसके चार भेद हैं:-

(१) आचार आक्षेपणी, (२) व्यवहार आक्षेपणी

(३) प्रज्ञप्ति आक्षेपणी (४) दृष्टिवाद आक्षेपणी

(१) केश लोच, अस्नान आदि आचार के अथवा आचारांग सूत्र के व्याख्यान द्वारा श्रोता को तत्त्व के प्रति आकर्षित करने वाली कथा आचार आक्षेपणी कथा है।

(२) किसी तरह दोष लगाने पर उसकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित अथवा व्यवहार सूत्र के व्याख्यान द्वारा तत्त्व के प्रति आकर्षित करने वाली कथा को व्यवहार आक्षेपणी कथा कहते हैं।

(३) संशययुक्त श्रोता को मधुर वचनों से समझा कर या प्रज्ञप्ति सूत्र के व्याख्यान द्वारा तत्त्व के प्रति झुकाने वाली कथा को प्रज्ञप्ति आक्षेपणी कथा कहते हैं।

(४) श्रोता का ख्याल रखते हुए सात नयों के अनुसार सूक्ष्म जीवादि तत्त्वों के कथन द्वारा अथवा दृष्टिवाद के व्याख्यान द्वारा तत्त्व के प्रति आकृष्ट करने वाली कथा दृष्टिवाद आक्षेपणी कथा है।

(ठाणांग ४, सूत्र २८२)

भाव तमः अर्थात् अज्ञानान्धकार विनाशक ज्ञान, सर्व विरति रूप चारित्र, तप, पुरुषकार और समिति, गुप्ति का उपदेश ही इस कथा का सार है।

शिष्य को सर्वप्रथम आक्षेपणी कथा कहनी चाहिए। आक्षेपणी कथा से उपदिष्ट जीव सम्यक्त्व लाभ करता है।

(दशवैकालिक निर्युक्ति अध्ययन ३)

१५५-विक्षेपणी कथा की व्याख्या और भेदः-

श्रोता को कुमार्ग से सन्मार्ग में लाने वाली कथा विक्षेपणी कथा है। सन्मार्ग के गुणों को कह कर या उन्मार्ग के दोषों को बताकर सन्मार्ग की स्थापना करना, विक्षेपणी कथा है।

(१) अपने सिद्धान्त के गुणों का प्रकाश कर, पर-सिद्धान्त के दोषों को दिखाने वाली प्रथम विक्षेपणी कथा है।

(२) पर–सिद्धान्त का कथन करते हुए स्व–सिद्धान्त की स्थापना करना, द्वितीय विक्षेपणी कथा है।

(३) पर–सिद्धान्त में घुणाक्षर न्याय से जितनी बातें जिनागम सदृश हैं, उन्हें कह कर जिनागम विपरीत वाद के दोष दिखाना अथवा आस्तिकवादी का अभिप्राय बता कर नास्तिकवादी का अभिप्राय बतलाना, तृतीय विक्षेपणी कथा है।

(४) पर–सिद्धान्त में कहे हुए जिनागम विपरीत मिथ्यावाद का कथन कर, जिनागम सदृश बातों का वर्णन करना अथवा नास्तिकवादी की दृष्टि का वर्णन कर आस्तिकवादी की दृष्टि को बताना, चौथी विक्षेपणी कथा है।

आक्षेपणी कथा से सम्यक्त्व लाभ के पश्चात् ही शिष्य को विक्षेपणी कथा कहनी चाहिए। विक्षेपणी कथा से सम्यक्त्व लाभ की भजना है। अनुकूल रीति से ग्रहण करने पर शिष्य का सम्यक्त्व दृढ़ भी हो सकता है। परन्तु यदि शिष्य को मिथ्याभिनिवेश हो तो वह पर–समय (पर–सिद्धान्त) के दोषों को न समझ कर, गुरु को पर–सिद्धान्त का निन्दक समझ सकता है और इस प्रकार इस कथा से विपरीत असर होने की सम्भावना भी रहती है।

(ठाणांग ४, सूत्र २८२) (दशवैकालिक अध्ययन ३ की टीका)

१५६-संवेगनी कथा की व्याख्या और भेदः-

जिस कथा द्वारा विपाक की विरसता बता कर श्रोता में वैराग्य उत्पन्न किया जाता है, वह संवेगनी कथा है।

संवेगनी कथा के चार भेदः–

(१) इहलोक संवेगनी (२) परलोक संवेगनी

(३) स्वशरीर संवेगनी (४) पर–शरीर संवेगनी

(१) इहलोक संवेगनीः–यह मनुष्यत्व कदली स्तम्भ के समान असार है, अस्थिर है इत्यादि रूप से मनुष्य जन्म का स्वरूप बता कर वैराग्य पैदा करने वाली कथा, इहलोक संवेगनी कथा है।

(२) परलोक संवेगनीः–देवता भी ईर्ष्या, विषाद, भय, वियोग आदि विविध दुःखों से दुःखी हैं इत्यादि रूप से परलोक का स्वरूप बता कर वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा, परलोक संवेगनी कथा है।

(३) स्वशरीर संवेगनीः–यह शरीर स्वयं अशुचि रूप है। अशुचि से उत्पन्न हुआ है। अशुचि विषयों से पोषित हुआ है। अशुचि से भरा

है और अशुचि परम्परा का कारण है इत्यादि रूप से मानव शरीर के स्वरूप को बता कर वैराग्य भाव उत्पन्न करने वाली कथा, स्वशरीर संवेगनी कथा है।

(४) पर–शरीर संवेगनी:–किसी मुर्दे शरीर के स्वरूप का कथन कर वैराग्य भाव दिखाने वाली कथा, पर–शरीर संवेगनी कथा है।

नोट:–इसी कथा का नाम संवेजनी और संवेदनी भी है। संवेजनी का अर्थ संवेगनी के समान ही है। संवेदनी का अर्थ है ऊपर लिखी बातों से इहलोकादि वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कराना।

(ठाणांग ४, सूत्र २८२)

१५७-निर्वेदनी कथा की व्याख्या और भेद:-

इहलोक और परलोक में पाप, पुण्य के शुभाशुभ फल को बताकर संसार से उदासीनता उत्पन्न कराने वाली कथा निर्वेदनी कथा है।

(१) इस लोक में किये हुए दुष्ट कर्म, इसी भव में दुःख रूप फल देने वाले होते हैं। जैसे–चोरी, पर–स्त्री गमन आदि दुष्ट कर्म। इसी प्रकार इस लोक में किये हुए सुकृत इसी भव में सुख रूप फल देने वाले होते हैं। जैसे–तीर्थंकर भगवान् को दान देने वाले पुरुष को सुवर्णवृष्टि आदि सुख रूप फल यहीं मिलता है। यह पहली निर्वेदनी कथा है।

(२) इस लोक में किये हुए दुष्ट कर्म परलोक में दुःख रूप फल देते हैं। जैसे–महारम्भ, महा–परिग्रह आदि नरक योग्य अशुभ कर्म करने वाले जीव को परभव अर्थात् नरक में अपने किये हुए दुष्ट कर्मों का फल भोगना पड़ता है। इसी प्रकार इस भव में किये हुए शुभ कार्यों का फल परलोक में सुख रूप फल देने वाला होता है। जैसे–सुसाधु इस लोक में पाले हुए निरतिचार चारित्र का सुख रूप फल परलोक में पाते हैं। यह दूसरी निर्वेदनी कथा है।

(३) परलोक (पूर्वभव) में किये हुए अशुभ कर्म इस भव में दुःख रूप फल देते हैं। जैसे–परलोक में किये हुए अशुभ कर्म के फल स्वरूप जीव इस लोक में हीन कुल में उत्पन्न होकर बालपन से ही कुष्ठ (कोढ़) आदि दुष्ट रोगों से पीड़ित और दारिद्र्य से अभिभूत

देखे जाते हैं। इसी प्रकार परलोक में किये हुए शुभ कर्म इस भव में सुखरूप फल देने वाले होते हैं। जैसे--पूर्व भव में शुभ कर्म करने वाले जीव इस भव में तीर्थंकर रूप से जन्म लेकर सुखरूप फल पाते हैं। यह तीसरी निर्वेदनी कथा है।

(४) परलोक (पूर्व भव) में किये हुए अशुभ कर्म परलोक (आगामी भव) में दुःखरूप फल देते हैं। जैसे--पूर्व भव में किये हुए अशुभ कर्मों से जीव कौवे, गीध आदि के भव में उत्पन्न होते हैं। उन के नरकयोग्य कुछ अशुभ कर्म बंधे हुए होते हैं और अशुभ कर्म करके वे यहां नरकयोग्य अधूरे कर्मों को पूर्ण कर देते हैं और इसके बाद नरक में जाकर दुःख भोगते हैं। इसी प्रकार परलोक में किये हुए शुभ कर्म परलोक (आगामी भव) में सुखरूप फल देने वाले होते हैं। जैसे--देव भव में रहा हुआ तीर्थंकर का जीव पूर्व भव के तीर्थंकर प्रकृतिरूप शुभ कर्मों का फल देव भव के बाद तीर्थंकर जन्म में भोगेगा। यह चौथी निर्वेदनी कथा है।

(ठाणांग ४, सूत्र २८२)

१५८-कषाय की व्याख्या और भेदः-

कषाय मोहनीय कर्म के उदय से होने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ--रूप आत्मा के परिणाम विशेष जो सम्यक्त्व, देशविरति, सर्वविरति और यथाख्यात चारित्र का घात करते हैं, कषाय कहलाते हैं।

कषाय के चार भेदः--

(१) क्रोध (२) मान (३) माया (४) लोभ

(१) क्रोधः--क्रोध मोहनीय के उदय से होने वाला, कृत्य--अकृत्य के विवेक को हटाने वाला, प्रज्वलन स्वरूप आत्मा के परिणाम को क्रोध कहते हैं। क्रोधवश जीव किसी की बात सहन नहीं करता और बिना विचारे अपने और पराए अनिष्ट के लिए हृदय में और बाहर जलता रहता है।

(२) मानः--मान मोहनीय कर्म के उदय से जाति आदि गुणों में अहंकार बुद्धिरूप आत्मा के परिणाम को मान कहते हैं। मानवश जीव में छोटे--बड़े के प्रति उचित नम्रभाव नहीं रहता। मानी जीव अपने को बड़ा समझता है और दूसरों को तुच्छ समझता हुआ उनकी अवहेलना करता है। गर्ववश वह दूसरे के गुणों को सहन

नहीं कर सकता।

(३) मायाः—माया मोहनीय कर्म के उदय से मन, वचन, काया की कुटिलता द्वारा परवञ्चना अर्थात् दूसरे के साथ कपटाई, ठगाई, दगारूप आत्मा के परिणाम विशेष को माया कहते हैं।

(४) लोभः—लोभ मोहनीय कर्म के उदय से द्रव्यादि विषयक इच्छा, मूर्च्छा, ममत्व भाव एवं तृष्णा अर्थात् असन्तोष रूप आत्मा के परिणाम विशेष को लोभ कहते हैं।

प्रत्येक कषाय के चार—चार भेदः—

(१) अनन्तानुबन्धी (२) अप्रत्याख्यानावरण

(३) प्रत्याख्यानावरण (४) संज्वलन

अनन्तानुबन्धीः—जिस कषाय के प्रभाव से जीव अनन्त काल तक संसार में परिभ्रमण करता है, उस कषाय को अनन्तानुबन्धी कषाय कहते हैं। यह कषाय सम्यक्त्व का घात करता है एवं जीवनपर्यन्त बना रहता है। इस कषाय से जीव नरक गति योग्य कर्मों का बन्ध करता है।

अप्रत्याख्यानावरणः—जिस कषाय के उदय से देश विरति रूप अल्प (थोड़ा-सा भी) प्रत्याख्यान नहीं होता, उसे अप्रत्याख्यानावरण कषाय कहते हैं। इस कषाय से श्रावक धर्म की प्राप्ति नहीं होती। यह कषाय एक वर्ष तक बना रहता है और इससे तिर्यञ्च गति योग्य कर्मों का बन्ध होता है।

प्रत्याख्यानावरणः—जिस कषाय के उदय से सर्व विरति रूप प्रत्याख्यान रुक जाता है अर्थात् साधु धर्म की प्राप्ति नहीं होती, वह प्रत्याख्यानावरण कषाय है। यह कषाय चार मास तक बना रहता है। इसके उदय से मनुष्य गति योग्य कर्मों का बन्ध होता है।

संज्वलनः—जो कषाय परिषह तथा उपसर्ग के आ जाने पर यतियों को भी थोड़ा-सा जलाता है अर्थात् उन पर भी थोड़ा-सा असर दिखाता है, उसे संज्वलन कषाय कहते हैं। यह कषाय सर्व विरति रूप साधु धर्म में बाधा नहीं पहुँचाता। किन्तु सब से ऊँचे यथाख्यात चारित्र में बाधा पहुँचाता है। यह कषाय एक पक्ष तक बना रहता है और इससे देवगति योग्य कर्म्मों का बन्ध होता है।

ऊपर जो कषायों की स्थिति एवं नरकादि गति दी गई है, वह बाहुल्यता की अपेक्षा से है। क्योंकि बाहुबलि मुनि को संज्वलन

कषाय एक वर्ष तक रहा था और प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के अनन्तानुबन्धी कषाय अन्तर्मुहूर्त तक ही रहा था। इसी प्रकार अनन्तानुबन्धी कषाय के रहते हुए मिथ्या दृष्टियों का नवग्रैवेयक तक में उत्पन्न होना शास्त्र में वर्णित है।

(पन्नवणा, पद १४) (ठाणांग ४, सूत्र २४६) (कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग)

१५६-क्रोध के चार भेद और उनकी उपमाएं:-

(१) अनन्तानुबन्धी क्रोध (२) अप्रत्याख्यानावरण क्रोध
(३) प्रत्याख्यानावरण क्रोध (४) संज्वलन क्रोध

अनन्तानुबन्धी क्रोधः-पर्वत के फटने पर जो दरार होती है उसका मिलना कठिन है। उसी प्रकार जो क्रोध किसी उपाय से भी शान्त नहीं होता, वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोधः-सूखे तालाब आदि में मिट्टी के फट जाने पर दरार हो जाती है। जब वर्षा होती है तब वह फिर मिल जाती है। उसी प्रकार, जो क्रोध विशेष परिश्रम से शान्त होता है, वह अप्रत्याख्यानावरण क्रोध है।

प्रत्याख्यानावरण क्रोधः-बालू में लकीर खींचने पर, कुछ समय में हवा से वह लकीर वापिस भर जाती है। उसी प्रकार जो क्रोध कुछ उपाय से शान्त हो, वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध है।

संज्वलन क्रोधः-पानी में खींची हुई लकीर, जैसे खिंचने के साथ ही मिट जाती है। उसी प्रकार किसी कारण से उदय में आया हुआ जो क्रोध शीघ्र ही शान्त हो जावे, उसे संज्वलन क्रोध कहते हैं।

(पन्नवणा, पद १४) (ठाणांग ४, सूत्र २४६ से ३३१)
(कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग)

१६०-मान के चार भेद और उनकी उपमाएं:-

(१) अनन्तानुबन्धी मान (२) अप्रत्याख्यानावरण मान
(३) प्रत्याख्यानावरण मान (४) संज्वलन मान

अनन्तानुबन्धी मान-जैसे-पत्थर का खम्भा अनेक उपाय करने पर भी नहीं नमता। उसी प्रकार, जो मान किसी भी उपाय से दूर न किया जा सके, वह अनन्तानुबन्धी मान है।

अप्रत्याख्यानावरण मान-जैसे-हड्डी अनेक उपायों से नमती है। उसी प्रकार, जो मान अनेक उपायों और अति परिश्रम से दूर

किया जा सके, वह अप्रत्याख्यानावरण मान है।

प्रत्याख्यानावरण मान–जैसे–काष्ठ, तैल वगैरह की मालिश से नम जाता है। उसी प्रकार, जो मान थोड़े उपायों से नमाया जा सके, वह प्रत्याख्यानावरण मान है।

संज्वलन मान–जैसे–बेंत बिना मेहनत के सहज ही नम जाती है। उसी प्रकार, जो मान सहज ही छूट जाता है, वह संज्वलन मान है।

(पन्नवणा, पद १४) (ठाणांग ४, सूत्र २९३) (कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग)

१६१-माया के चार भेद और उनकी उपमाएं:-

(१) अनन्तानुबन्धी माया (२) अप्रत्याख्यानावरण माया
(३) प्रत्याख्यानावरण माया (४) संज्वलन माया

अनन्तानुबन्धी माया–जैसे–बांस की कठिन जड़ का टेढ़ापन किसी भी उपाय से दूर नहीं किया जा सकता। उसी प्रकार, जो माया किसी प्रकार दूर न हो, अर्थात् सरलता रूप में परिणत न हो, वह अनन्तानुबन्धी माया है।

अप्रत्याख्यानावरण माया–जैसे–मेंढे का टेढ़ा सींग अनेक उपाय करने पर बड़ी मुश्किल से सीधा होता है। उसी प्रकार, जो माया अत्यन्त परिश्रम से दूर की जा सके, वह अप्रत्याख्यानावरण माया है।

प्रत्याख्यानावरण माया–जैसे, चलते हुए बैल के मूत्र की टेढ़ी लकीर सूख जाने पर पवनादि से मिट जाती है। उसी प्रकार, जो माया सरलतापूर्वक दूर हो सके, वह प्रत्याख्यानावरण माया है।

संज्वलन माया–छीले जाते हुए बॉस के छिलके का टेढ़ापन बिना प्रयत्न के सहज ही मिट जाता है। उसी प्रकार, जो माया बिना परिश्रम के शीघ्र ही अपने आप दूर हो जाय, वह संज्वलन माया है।

(पन्नवणा, पद १४) (ठाणांग ४, सूत्र २९३) (कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग)

१६२-लोभ के चार भेद और उनकी उपमाएं:-

(१) अनन्तानुबन्धी लोभ (२) अप्रत्याख्यानावरण लोभ
(३) प्रत्याख्यानावरण लोभ (४) संज्वलन लोभ

अनन्तानुबन्धी लोभ–जैसे–किरमची रङ्ग किसी भी उपाय से नहीं छूटता, उसी प्रकार जो लोभ किसी भी उपाय से दूर न हो, वह अनन्तानुबन्धी लोभ है।

अप्रत्याख्यानावरण लोभ:–जैसे–गाड़ी के पहिए का कीटा

(खञ्जन) परिश्रम करने पर अति कष्टपूर्वक छूटता है। उसी प्रकार, जो लोभ अति परिश्रम से कष्टपूर्वक दूर किया जा सके, वह अप्रत्याख्यानावरण लोभ है।

प्रत्याख्यानावरण लोभः—जैसे—दीपक का काजल साधारण परिश्रम से छूट जाता है। उसी प्रकार, जो लोभ कुछ परिश्रम से दूर हो, वह प्रत्याख्यानावरण लोभ है।

संज्वलन लोभः—जैसे—हल्दी का रंग सहज ही छूट जाता है। उसी प्रकार, जो लोभ आसानी से स्वयं दूर हो जाय, वह संज्वलन लोभ है।

(ठाणांग ४, सूत्र २१३) (पन्नवणा, पद १४) (कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग)

१६३-किस गति में किस कषाय की अधिकता होती हैः-

(१) नरकगति में क्रोध की अधिकता होती है।

(२) तिर्यञ्चगति में माया अधिक होती है।

(३) मनुष्यगति में मान अधिक होता है।

(४) देवगति में लोभ की अधिकता होती है।

(पन्नवणा, पद १४)

१६४-क्रोध के चार प्रकारः-

(१) आभोग निवर्तित (२) अनाभोग निवर्तित

(३) उपशान्त (४) अनुपशान्त

आभोग निवर्तितः—पुष्ट कारण होने पर, यह सोच कर कि ऐसा किये बिना इसे शिक्षा नहीं मिलेगी, जो क्रोध किया जाता है, वह आभोग निवर्तित क्रोध है।

अथवाः—

क्रोध के विपाक को जानते हुए जो क्रोध किया जाता है, वह आभोग निवर्तित क्रोध है।

अनाभोग निवर्तितः—जब कोई पुरुष यों ही गुण—दोष का विचार किये बिना परवश होकर क्रोध कर बैठता है अथवा क्रोध के विपाक को न जानते हुए क्रोध करता है तो उसका क्रोध अनाभोग निवर्तित क्रोध है।

उपशान्तः—जो क्रोध सत्ता में हो, लेकिन उदयावस्था में न हो, वह उपशान्त क्रोध है।

अनुपशान्तः—उदयावस्था में रहा हुआ क्रोध, अनुपशान्त क्रोध है।

इसी प्रकार माया, मान और लोभ के भी चार–चार भेद हैं।

(ठाणांग ४, उद्देशा सूत्र २४६)

१६५-क्रोध की उत्पत्ति के चार स्थानः-

चार कारणों से क्रोध की उत्पत्ति होती है।

(१) क्षेत्र अर्थात् नैरिये आदि का अपना–अपना उत्पत्ति स्थान।

(२) सचेतनादि वस्तु अथवा वास्तुघर।

(३) शरीर।

(४) उपकरण।

इन्हीं चार बोलों का आश्रय लेकर मान, माया और लोभ की भी उत्पत्ति होती है।

(ठाणांग ४, सूत्र २४६)

१६६-कषाय की ऐहिक हानियाँः-

क्रोध आदि चार कषाय संसार के मूल का सिंचन करने वाले हैं। इनके सेवन से जीव को ऐहिक और पारलौकिक अनेक दुःख होते हैं। यहाँ ऐहिक हानियाँ बताई जाती हैं।

क्रोध प्रीति को नष्ट करता है। मान विनय का नाश करता है। माया मित्रता का नाश करने वाली है। लोभ उपर्युक्त प्रीति, विनय और मित्रता सभी को नष्ट करने वाला है।

(दशवैकालिक, अध्ययन ८, गाथा ३८)

१६७-कषाय जीतने के चार उपायः-

(१) क्रोध को शान्ति और क्षमा द्वारा निष्फल करके दबा देना चाहिए।

(२) मृदुता, कोमल वृत्ति द्वारा मान पर विजय प्राप्त करनी चाहिए।

(३) ऋजुता–सरल भाव से माया का मर्दन करना चाहिए।

(४) सन्तोष रूपी शस्त्र से लोभ को जीतना चाहिए।

(दशवैकालिक, अध्ययन ८, गाथा ३६)

१६८-कुम्भ की चौभङ्गीः-

(१) मधुकुम्भ मधु पिधान (२) मधुकुम्भ विष पिधान

(३) विषकुम्भ मधु पिधान (४) विषकुम्भ विष पिधान

(१) मधुकुम्भ मधु पिधानः–एक कुम्भ (घड़ा) मधु से भरा हुआ होता है और मधु के ही ढकने वाला होता है।

(२) मधुकुम्भ विष पिधानः—एक कुम्भ मधु से भरा होता है और उसका ढकना विष का होता है।

(३) विषकुम्भ मधु पिधानः—एक कुम्भ विष से भरा हुआ होता है और उसका ढकना मधु का होता है।

(४) विषकुम्भ विष पिधानः—एक कुम्भ विष से भरा हुआ होता है और उसका ढकना भी विष का ही होता है।

(ठाणांग ४, सूत्र ३६०)

१६६-कुम्भ की उपमा से चार पुरुषः-

(१) किसी पुरुष का हृदय निष्पाप और अकलुष होता है और वह मधुरभाषी भी होता है। वह पुरुष मधुकुम्भ मधु पिधान जैसा है।

(२) किसी पुरुष का हृदय तो निष्पाप और अकलुष होता है परन्तु वह कटुभाषी होता है। वह मधुकुम्भ विष पिधान जैसा है।

(३) किसी पुरुष का हृदय कलुषतापूर्ण है परन्तु वह मधुरभाषी होता है। वह पुरुष विषकुम्भ मधु पिधान जैसा है।

(४) किसी पुरुष का हृदय कलुषतापूर्ण है और वह कटुभाषी भी है। वह पुरुष विषकुम्भ विष पिधान जैसा है।

(ठाणांग ४, सूत्र ३६०)

१७०-फूल के चार प्रकारः-

(१) एक फूल सुन्दर परन्तु सुगन्धहीन होता है। जैसे—आकुली, रोहिड़ा आदि का फूल।

(२) एक फूल सुगन्धयुक्त होता है पर सुन्दर नहीं होता। जैसे—वकुल और मोहनी का फूल।

(३) एक फूल सुगन्ध और रूप दोनों से युक्त होता है। जैसे—जाति पुष्प, गुलाब का फूल आदि।

(४) एक फूल गन्ध और रूप दोनों से हीन होता है। जैसे—बेर का फूल, धत्तूरे का फूल।

(ठाणांग ४, सूत्र ३२०)

१७१-फूल की उपमा से पुरुष के चार प्रकारः-

(१) एक पुरुष रूपसम्पन्न है परन्तु शीलसम्पन्न नहीं। जैसे—ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती।

(२) एक पुरुष शीलसम्पन्न है परन्तु रूपसम्पन्न नहीं। जैसे—हरिकेशी मुनि।

(३) एक पुरुष रूप और शील दोनों से ही सम्पन्न होता है। जैसे--भरत चक्रवर्ती।

(४) एक पुरुष रूप और शील दोनों से ही हीन होता है। जैसे--काल सौकरिक कसाई।

(ठाणांग ४, सूत्र ३२०)

१७२-मेघ चार:-

(१) कोई मेघ गर्जते हैं पर बरसते नहीं।

(२) कोई मेघ गर्जते नहीं हैं पर बरसते हैं।

(३) कोई मेघ गर्जते भी हैं और बरसते भी हैं।

(४) कोई मेघ न गर्जते हैं और न बरसते हैं।

(ठाणांग ४, उद्देशा ४, सूत्र ३४६)

१७३-मेघ की उपमा से पुरुष के चार प्रकार:-

(१) कोई पुरुष दान, ज्ञान, व्याख्यान और अनुष्ठान आदि की कोरी बातें करते हैं पर करते कुछ नहीं।

(२) कोई पुरुष उक्त कार्यों के लिए अपनी बड़ाई तो नहीं करते पर कार्य करने वाले होते हैं।

(३) कोई पुरुष उक्त कार्यों के विषय में डींग भी हांकते हैं और कार्य भी करते हैं।

(४) कोई पुरुष उक्त कार्यों के लिए न डींग हांकते हैं और न कुछ करते ही हैं।

(ठाणांग ४, उद्देशा ४, सूत्र ३४६)

१७४-(क) मेघ के अन्य चार प्रकार:-

(१) पुष्कर संवर्तक (२) प्रद्युम्न (३) जीमूत (४) जिह्म

(१) पुष्कर संवर्तक:—जो एक बार बरस कर दस हज़ार वर्ष के लिए पृथ्वी को स्निग्ध कर देता है।

(२) प्रधुम्नः—जो एक बार बरस कर एक हज़ार वर्ष के लिए पृथ्वी को उपजाऊ बना देता है।

(३) जीमूतः—जो एक बार बरस कर दस वर्ष के लिए पृथ्वी को उपजाऊ बना देता है।

(४) जिह्मः—जो मेघ कई बार बरसने पर भी पृथ्वी को एक वर्ष के लिए भी नियमपूर्वक उपजाऊ नहीं बनाता।

इसी तरह पुरुष भी चार प्रकार के हैं। एक पुरुष एक ही बार

उपदेश देकर सुनने वाले के दुर्गुणों को हमेशा के लिए छुड़ा देता है, वह पहले मेघ के समान है। उससे उत्तरोत्तर कम प्रभाव वाले वक्ता दूसरे और तीसरे मेघ सरीखे हैं। बार-बार उपदेश देने पर भी जिसका असर नियमपूर्वक न हो अर्थात् कभी हो और कभी न हो, वह चौथे मेघ के समान है।

दान के लिए भी यही बात है। एक ही बार दान देकर हमेशा के लिए याचक के दारिद्र्य को दूर करने वाला दाता प्रथम मेघ सदृश है। उससे कम शक्ति वाले दूसरे और तीसरे मेघ के समान हैं। किन्तु जिसके अनेक बार दान देने पर भी थोड़े काल के लिए भी अर्थी (याचक) की आवश्यकताएं नियमपूर्वक पूरी न हों, ऐसा दानी जिह्म मेघ के समान है।

(ठाणांग ३, उद्देशा ४, सूत्र ३४७)

१७४ (ख)-अन्य प्रकार से मेघ के चार भेदः-

(१) कोई मेघ क्षेत्र में बरसता है, अक्षेत्र में नहीं बरसता।

(२) कोई मेघ क्षेत्र में नहीं बरसता, अक्षेत्र में बरसता है।

(३) कोई मेघ क्षेत्र और अक्षेत्र दोनों में बरसता है।

(४) कोई मेघ क्षेत्र और अक्षेत्र दोनों में ही नहीं बरसता।

(ठाणांग ४, उद्देशा ४, सूत्र ३४६)

१७५-मेघ की उपमा से चार दानी पुरुषः-

(१) कोई पुरुष पात्र को दान देते हैं, पर कुपात्र को नहीं देते।

(२) कोई पुरुष पात्र को तो दान नहीं देते, पर कुपात्र को देते हैं।

(३) कोई पुरुष पात्र और कुपात्र दोनों को दान देते हैं।

(४) कोई पुरुष पात्र और कुपात्र दोनों को ही दान नहीं देते हैं।

(ठाणांग ४, उद्देशा ४, सूत्र ३४६)

१७६-प्रव्रज्या प्राप्त पुरुषों के चार प्रकारः-

(१) कोई पुरुष सिंह की तरह उन्नत भावों से दीक्षा लेकर सिंह की तरह ही उग्र विहार आदि द्वारा उसे पालते हैं।

(२) कोई पुरुष सिंह की तरह उन्नत भावों से दीक्षा लेकर श्रृगाल की तरह दीन वृत्ति से उसका पालन करते हैं।

(३) कोई पुरुष श्रृगाल की तरह दीन वृत्ति से दीक्षा लेकर सिंह की तरह उग्र विहार आदि द्वारा उसे पालते हैं।

(४) कोई पुरुष शृगाल की तरह दीन वृत्ति से दीक्षा लेकर शृगाल की तरह दीन वृत्ति से ही उसका पालन करते हैं।

(ठाणांग ४, उद्देशा ४, सूत्र ३२७)

१७७-तीर्थ की व्याख्या और उसके भेदः-

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र आदि गुण रत्नों को धारण करने वाले प्राणी समूह को तीर्थ कहते हैं। यह तीर्थ ज्ञान, दर्शन, चारित्र द्वारा संसार समुद्र से जीवों को तिराने वाला है। इसलिए इसे तीर्थ कहते हैं।

तीर्थ के चार प्रकारः–

(१) साधु (२) साध्वी

(३) श्रावक (४) श्राविका

साधुः–पंच महाव्रतधारी, सर्व विरति को साधु कहते हैं। ये तपस्वी होने से श्रमण कहलाते हैं। शोभन, निदान रूप पाप से रहित चित्त वाले होने से भी श्रमण कहलाते हैं। ये ही स्वजन–परजन, शत्रु–मित्र, मान–अपमान आदि में समभाव रखने के कारण समण कहलाते हैं।

इसी प्रकार साध्वी का स्वरूप है। श्रमणी और समणी इनके नामान्तर हैं।

श्रावकः–देश विरति को श्रावक कहते हैं। सम्यग्दर्शन को प्राप्त किये हुए, प्रतिदिन प्रातःकाल साधुओं के समीप प्रमादरहित होकर श्रेष्ठ चारित्र का व्याख्यान सुनते हैं, वे श्रावक कहलाते हैं।

अथवाः–

"श्रा" अर्थात् सम्यग् दर्शन को धारण करने वाले।

"व" अर्थात् गुणवान्, धर्मक्षेत्रों में धनरूपी बीज को बोने वाले, दान देने वाले।

"क" अर्थात् क्लेशयुक्त, कर्मरज का निराकरण करने वाले जीव "श्रावक" कहलाते हैं।

"श्राविका" का भी यही स्वरूप है।

(ठाणांग ४, सूत्र ३६३ टीका)

१७८-श्रमण (समण, समन) की चार व्याख्याएंः-

(१) जिस प्रकार मुझे दुःख अप्रिय है उसी प्रकार सभी जीवों को दुःख अप्रिय लगता है; यह समझ कर तीन करण, तीन योग से

जो किसी जीव की हिंसा नहीं करता एवं जो सभी जीवों को आत्मवत् समझता है, वह समण कहलाता है।

(२) जिसे संसार के सभी प्राणियों में न किसी पर राग है और न किसी पर द्वेष; इस प्रकार समान मन (मध्यस्थ भाव) वाला होने से साधु स–मन कहलाता है।

(३) जो शुभ द्रव्य मन वाला है और भाव से भी जिसका मन कभी पापमय नहीं होता; जो स्वजन, परजन एवं मान–अपमान में एक–सी वृत्ति वाला है, वह श्रमण कहलाता है।

(४) जो सर्प, पर्वत, अग्नि, सागर, आकाश, वृक्षपंक्ति, भ्रमर, मृग, पृथ्वी, कमल, सूर्य एवं पवन के समान होता है, वह श्रमण कहलाता है।

दृष्टान्तों के साथ दार्ष्टान्तिक इस तरह घटाया जाता है।

सर्प जैसे चूहे आदि के बनाये हुए बिल में रहता है, उसी प्रकार साधु भी गृहस्थ के बनाये हुए घर में वास करता है। वह स्वयं घर आदि नहीं बनाता।

पर्वत जैसे आंधी और बवंडर से कभी विचलित नहीं होता, उसी प्रकार साधु भी परिषह और उपसर्ग द्वारा विचलित नहीं होता हुआ संयम में स्थिर रहता है।

अग्नि जैसे तेजोमय है तथा कितना ही भक्ष्य पाने पर भी वह तृप्त नहीं होती, उसी प्रकार मुनि भी तप से तेजस्वी होता है एवं शास्त्रज्ञान से कभी सन्तुष्ट नहीं होता। हमेशा विशेष शास्त्रज्ञान सीखने की इच्छा रखता है।

सागर जैसे गंभीर होता है, रत्नों के निधान से भरा होता है एवं मर्यादा का त्याग करने वाला नहीं होता, उसी प्रकार मुनि भी स्वभाव से गंभीर होता है, ज्ञानादि रत्नों से पूर्ण होता है एवं कैसे भी संकट में मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करता।

आकाश जैसे निराधार होता है, उसी प्रकार साधु भी आलम्बन रहित होता है।

वृक्षपंक्ति जैसे सुख और दुःख में कभी विकृत नहीं होती, उसी प्रकार समता भाव वाला साधु भी सुख–दुःख के कारण विकृत नहीं होता।

भ्रमर जैसे फूलों से रस ग्रहण करने में अनियत वृत्ति वाला

होता है तथा स्वभावतः पुष्पित फूलों को कष्ट न पहुंचाता हुआ, अपनी आत्मा को तृप्त कर लेता है। इसी प्रकार साधु भी गृहस्थों के यहां से आहार लेने में अनियत वृत्ति वाला होता है। गृहस्थों द्वारा अपने लिये बनाये हुए आहार में से, उन्हें असुविधा न हो, इस प्रकार, थोड़ा--थोड़ा आहार लेकर अपना निर्वाह करता है।

जैसे–मृग वन में हिंसक प्राणियों से सदा शङ्कित एवं त्रस्त रहता है, उसी प्रकार साधु भी दोषों से शङ्कित रहता है।

पृथ्वी जैसे सब कुछ सहने वाली है, उसी प्रकार साधु भी सब दुःखों को सहने वाला होता है।

कमल जैसे जल और पंक में रहता हुआ भी उन से सर्वथा पृथक् रहता है, उसी प्रकार साधु, संसार में रहता हुआ भी निर्लिप्त रहता है।

सूर्य जैसे सब पदार्थों को समभाव से प्रकाशित करता है, उसी प्रकार साधु भी धर्मास्तिकायादि रूप लोक का, समान रूप से, ज्ञान द्वारा प्रकाशन करता है।

जैसे–पवन अप्रतिबन्ध गति वाला है, उसी प्रकार साधु भी मोह–ममता से दूर रहता हुआ अप्रतिबन्धविहारी होता है।

(अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग ६, 'समण' शब्द, पृष्ठ ४०४)
(दशवैकालिक, अध्ययन २, टीका पृष्ठ ८३, आगमोदय समिति)
(निशीथ, गाथा १५४–१५७) (अनुयोगद्वार, सामायिक अधिकार)

१७६-चार प्रकार का संयमः-

(१) मन संयम (२) वचन संयम
(३) काया संयम (४) उपकरण संयम

मन, वचन, काया के अशुभ व्यापार का निरोध करना और उन्हें शुभ व्यापार में प्रवृत्त करना मन, वचन और काया का संयम है। बहुमूल्य वस्त्र आदि उपकरणों का परिहार करना उपकरण संयम है।

(ठाणांग ४, उद्देशा २, सूत्र ३१०)

१८०-चार महाव्रतः-

भरत, ऐरावत क्षेत्रों में पहले एवं चौबीसवें तीर्थंकरों के सिवा शेष २२ तीर्थंकर भगवान् चार महाव्रत रूप धर्म की प्ररूपणा करते हैं। इसी प्रकार महाविदेह क्षेत्र में भी अरिहन्त भगवान् चार महाव्रत रूप धर्म फरमाते हैं। चार महाव्रत ये हैंः–

१. सर्व प्राणातिपात से निवृत्ति
२. सर्व मृषावाद से निवृत्ति
३. सर्व अदत्तादान से निवृत्ति
४. सर्व परिग्रह से निवृत्ति

सर्वथा मैथुन निवृत्ति रूप महाव्रत का परिग्रह निवृत्ति व्रत में ही समावेश किया जाता है क्योंकि अपरिगृहीत स्त्रियों का उपभोग नहीं होता।

(ठाणांग ४, सूत्र ३६६)

१८१-ईर्या समिति के चार कारणः-

(१) आलम्बन (२) काल
(३) मार्ग (४) यतना

(१) आलम्बनः—साधु को ज्ञान, दर्शन, चारित्र का आलम्बन लेकर गमन करना चाहिए। बिना उक्त आलम्बनों के बाहर जाना साधु के लिए निषिद्ध है।

(२) कालः—ईर्या समिति का काल तीर्थंकर भगवान् ने दिन का बताया है। रात्रि में दिखाई न देने से पुष्ट आलम्बन के बिना जाने की भगवान् की आज्ञा नहीं है।

(३) मार्गः—कुपथ में चलने से आत्मा और संयम की विराधना होती है। इसलिए कुपथ का त्याग कर, सुपथ—राजमार्ग आदि से साधु को चलना चाहिए।

(४) यतनाः—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से यतना के चार भेद हैं।

द्रव्य यतनाः—द्रव्य से दृष्टि द्वारा जीवादि पदार्थों को देखकर संयम तथा आत्मा की विराधना न हो; इस प्रकार साधु को चलना चाहिए।

क्षेत्र यतनाः—क्षेत्र से युग प्रमाण अर्थात् चार हाथ प्रमाण (९६ अंगुल) आगे की भूमि को देखते हुए साधु को चलना चाहिए।

काल यतनाः—काल से जब तक चलता-फिरता रहे, तब तक यतना से चले—फिरे। दिन को देख कर और रात्रि को पूंज कर चलना चाहिए।

भाव यतनाः—भाव से सावधानीपूर्वक चित्त को एकाग्र रखते हुए जाना चाहिए। ईर्या में उपघात करने वाले पांच इन्द्रियों के विषय

तथा पांच प्रकार के स्वाध्याय को वर्जना चाहिए।

(उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन २४)

१८२-स्थण्डिल के चार भांगे:-

मल–मूत्र आदि त्याग करने अर्थात् परिठवने की जगह को स्थण्डिल कहते हैं। स्थण्डिल ऐसा होना चाहिए जहाँ स्व, पर और उभय पक्ष वालों का न तो आना–जाना है और न संलोक अर्थात् न दूर से उनकी दृष्टि ही पड़ती है। उसके चार भांगे हैं।

(१) जहाँ स्व, पर और उभय पक्ष वालों का न आना–जाना है और न दूर से उनकी नज़र ही पड़ती है।

(२) जहाँ पर उनका आना–जाना तो नहीं है पर दूर से उनकी दृष्टि पड़ती है।

(३) जहाँ उनका आना–जाना तो है किन्तु दूर से उनकी नज़र नहीं पड़ती।

(४) जहाँ उनका आना–जाना है और दूर से नज़र भी पड़ती है।

इन चार भांगों में पहला भांगा परिठवने के लिए शुद्व है। शेष अशुद्ध हैं।

(उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन २४)

१८३-चार कारणों से, साध्वी से आलाप–संलाप करता हुआ साधु 'अकेला साधु अकेली स्त्री के साथ खड़ा न रहे, न बात–चीत करे, विशेषकर साध्वी के साथ'–इस निर्ग्रन्था–चार का अतिक्रमण नहीं करता:–

(१) प्रश्न पूछने योग्य साधर्मिक गृहस्थ पुरुष के न होने पर आर्या से मार्ग पूछता हुआ।

(२) आर्या को मार्ग बतलाता हुआ।

(३) आर्या को आहारादि देता हुआ।

(४) आर्या को अशनादि दिलाता हुआ।

(ठाणांग ४, सूत्र २९०)

१८४-श्रावक के चार प्रकार:-

(१) माता–पिता समान (२) भाई समान

(३) मित्र समान (४) सौत समान

(१) माता–पिता के समान:–बिना अपवाद के, साधुओं के प्रति एकान्त रूप से वत्सल भाव रखने वाले श्रावक माता–पिता के समान हैं।

(२) भाई के समानः–तत्त्व विचारणा आदि में कठोर वचन से कभी साधुओं से अप्रीति होने पर भी शेष प्रयोजनों में अतिशय वत्सलता रखने वाले श्रावक, भाई के समान हैं।

(३) मित्र के समानः–उपचार सहित वचन आदि द्वारा साधुओं से जिनकी प्रीति का नाश हो जाता है और प्रीति का नाश हो जाने पर भी आपत्ति में उपेक्षा करने वाले श्रावक, मित्र के समान हैं।

मित्र की तरह दोषों को ढकने वाले और गुणों का प्रकाश करने वाले श्रावक, मित्र के समान हैं।

(टब्बा)

(४) सौत के समानः–साधुओं में सदा दोष देखने वाले और उनका अपकार करने वाले श्रावक, सौत के समान हैं।

(ठाणांग ४, सूत्र ३२१)

१८५-श्रावक के अन्य चार प्रकारः-

(१) आदर्श समान (२) पताका समान

(३) स्थाणु समान (४) खर कण्टक समान

(१) आदर्श समान श्रावकः–जैसे–दर्पण समीपस्थ पदार्थों का प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है। उसी प्रकार, जो श्रावक साधुओं से उपदिष्ट उत्सर्ग, अपवाद आदि आगम सम्बन्धी भावों को यथार्थ रूप से ग्रहण करता है, वह आदर्श (दर्पण) समान श्रावक है।

(२) पताका समान श्रावक–जैसे–अस्थिर पताका जिस दिशा की वायु होती है, उसी दिशा में फहराने लगती है। उसी प्रकार, जिस श्रावक का अस्थिर ज्ञान विचित्र देशना रूप वायु के प्रभाव से देशना के अनुसार बदलता रहता है अर्थात् जैसी देशना सुनता है, उसी की ओर झुक जाता है, वह पताका समान श्रावक है।

(३) स्थाणु (खम्भा) समान श्रावक–जो श्रावक गीतार्थ की देशना सुनकर भी अपने दुराग्रह को नहीं छोड़ता। वह श्रावक अनमनशील (अपरिवर्तनशील) ज्ञानसहित होने से स्थाणु के समान है।

(४) खर कण्टक समान श्रावक–जो श्रावक समझाये जाने पर भी अपने दुराग्रह को नहीं छोड़ता, बल्कि समझाने वाले को कठोर वचन रूपी कांटों से कष्ट पहुंचाता है। जैसे– बबूल आदि का कांटा उसमें फंसे हुए वस्त्र को फाड़ता है और साथ ही छुड़ाने वाले पुरुष

के हाथों में चुभकर उसे दुःखित करता है।

(ठाणांग ४, सूत्र ३२१)

१८६-शिक्षाव्रत चारः-

बार--बार सेवन करने योग्य अभ्यास प्रधान व्रतों को शिक्षाव्रत कहते हैं। ये चार हैं–

(१) सामायिक व्रत (२) देशावकाशिक व्रत

(३) पौषधोपवास व्रत (४) अतिथि संविभाग व्रत

(१) सामायिक व्रतः–सम्पूर्ण सावद्य व्यापार का त्याग कर आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान दूर कर धर्मध्यान में आत्मा को लगाना और मनोवृत्ति को समभाव में रखना सामायिक व्रत है। एक सामायिक का काल दो घड़ी अर्थात् एक मुहूर्त्त है। सामायिक में ३२ दोषों को वर्जना चाहिए।

(२) देशावकाशिक व्रतः–छठे व्रत में जो दिशाओं का परिमाण किया है, उसका तथा सब व्रतों का प्रतिदिन संकोच करना देशावकाशिक व्रत है। देशावकाशिक व्रत में दिशाओं का संकोच कर लेने पर मर्यादा के बाहर की दिशाओं में आश्रव का सेवन न करना चाहिये तथा मर्यादित दिशाओं में जितने द्रव्यों की मर्यादा की है उसके उपरान्त द्रव्यों का उपभोग न करना चाहिए।

(३) पौषधोपवास व्रतः–एक दिन–रात अर्थात् आठ पहर के लिए चार आहार, मणि, सुवर्ण तथा आभूषण, पुष्पमाला, सुगंधित चूर्ण आदि तथा सकल सावद्य व्यापारों को त्याग कर धर्मस्थान में रहना और धर्मध्यान में लीन रहकर शुभ भावों से उक्त काल को व्यतीत करना, पौषधोपवास व्रत है। इस व्रत में पौषध के १८ दोषों का त्याग करना चाहिए।

(४) अतिथि संविभाग व्रतः–पञ्च महाव्रतधारी साधुओं को उनके कल्प के अनुसार निर्दोष अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादपोञ्छन, पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक, औषध और भेषज यह चौदह प्रकार की वस्तु निष्काम बुद्धिपूर्वक आत्म कल्याण की भावना से देना तथा दान का संयोग न मिलने पर सदा ऐसी भावना रखना, अतिथि संविभाग व्रत है।

(प्रथम पंचाशक, गाथा २५ से ३२ तक)

(हरिभद्रीयावश्यक प्रत्याख्यानाध्ययन, पृष्ठ ८३०)

१८७-विश्राम चारः-

भार को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने वाले पुरुष के लिए चार विश्राम होते हैं।

(१) भार को एक कंधे से दूसरे कंधे पर लेना एक विश्राम है।

(२) भार रखकर टट्टी–पेशाब करना दूसरा विश्राम है।

(३) नागकुमार सुपर्णकुमार आदि के देहरे में या अन्य स्थान पर रात्रि के लिए विश्राम करना तीसरा विश्राम है।

(४) जहाँ पहुंचना है, वहां पहुंच कर सदा के लिए विश्राम करना चौथा विश्राम है।

(ठाणांग ४, सूत्र ३१४)

१८८-श्रावक के चार विश्रामः-

(१) पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत एवं अन्य त्याग प्रत्याख्यान का अंगीकार करना पहला विश्राम है।

(२) सामायिक, देशावकाशिक व्रतों का पालन करना तथा अन्य ग्रहण किए हुए व्रतों में रक्खी हुई मर्यादा का प्रतिदिन संकोच करना एवं उन्हें सम्यक् पालन करना दूसरा विश्राम है।

(३) अष्टमी, चतुर्दशी, अमावस्या और पूर्णिमा के दिन प्रतिपूर्ण पौषध व्रत का सम्यक् प्रकार पालन करना तीसरा विश्राम है।

(४) अन्त समय में संलेखना अंगीकार कर, आहार पानी का त्याग कर, निश्चेष्ट रहते हुए और मरण की इच्छा न करते हुए रहना चौथा विश्राम है।

(ठाणांग ४, सूत्र ३१४)

१८९-सद्दहणा चारः-

(१) परमार्थ का अर्थात् जीवादि तत्त्वों का परिचय करना।

(२) परमार्थ अर्थात् जीवादि के स्वरूप को भली प्रकार जानने वाले आचार्य्य आदि की सेवा करना।

(३) जिन्होंने सम्यक्त्व का वमन कर दिया है, ऐसे निह्नवादि की संगति का त्याग करना।

(४) कुदृष्टि अर्थात् कुदर्शनियों की संगति का त्याग करना।

(उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन २८, गाथा २८) (धर्मसंग्रह, अधिकार १)

१९०-सामायिक की व्याख्या और उसके भेदः-

सामायिकः– सर्व सावद्य व्यापारों का त्याग करना और निरवद्य

व्यापारों में प्रवृत्ति करना सामायिक है।

(धर्मरत्न प्रकरण) (धर्मसंग्रह)

अथवाः—

सम अर्थात् रागद्वेष रहित पुरुष की प्रतिक्षण कर्म निर्जरा से होने वाली अपूर्व शुद्धि सामायिक है। सम अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र की प्राप्ति सामायिक है।

अथवाः—

सम का अर्थ है जो व्यक्ति राग-द्वेष से रहित होकर सर्व प्राणियों को आत्मवत् समझता है। ऐसी आत्मा को सम्यग्ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यग् चारित्र की प्राप्ति होना सामायिक है। ये ज्ञानादि रत्नत्रय भवाटवी भ्रमण के दुःख का नाश करने वाले हैं। कल्पवृक्ष, कामधेनु और चिन्तामणि से भी बढ़कर हैं और अनुपम सुख के देने वाले हैं।

सामायिक के चार भेदः—

(१) सम्यक्त्व सामायिक (२) श्रुत सामायिक

(३) देशविरति सामायिक (४) सर्वविरति सामायिक

(१) सम्यक्त्व सामायिकः—देव नारकी की तरह निसर्ग अर्थात् स्वभाव से होने वाला एवं अधिगम अर्थात् तीर्थंकरादि के समीप धर्म श्रवण से होने वाला तत्त्वश्रद्धान सम्यक्त्व सामायिक है।

(२) श्रुत सामायिकः—गुरु के समीप में सूत्र, अर्थ या इन दोनों का विनयादिपूर्वक अध्ययन करना श्रुत सामायिक है।

(३) देशविरति सामायिकः—श्रावक का अणुव्रत आदि रूप एक देश विषयक चारित्र; देशविरति सामायिक है।

(४) सर्वविरति सामायिकः—साधु का पंच महाव्रत रूप सर्वविरति चारित्र सर्वविरति सामायिक है।

(विशेषावश्यक भाष्य, गाथा २६७३ से २६७७)

१६१-वादी के चार भेदः-

(१) क्रियावादी (२) अक्रियावादी

(३) विनयवादी (४) अज्ञानवादी

क्रियावादीः—इसकी भिन्न—२ व्याख्याएं हैं। यथाः—

(१) कर्त्ता के बिना क्रिया संभव नहीं है। इसलिए क्रिया के कर्त्ता रूप से आत्मा के अस्तित्व को मानने वाले क्रियावादी हैं।

(२) क्रिया ही प्रधान है और ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है; इस प्रकार क्रिया को प्रधान मानने वाले क्रियावादी हैं।

(३) जीव–अजीव आदि पदार्थों के अस्तित्व को एकान्त रूप से मानने वाले क्रियावादी हैं। क्रियावादी के १८० प्रकार हैं:–

जीव, अजीव, आश्रव, बंध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष, इन नव पदार्थों के स्व और पर से १८ भेद हुए। इन अठारह के नित्य, अनित्य रूप से ३६ भेद हुए। इन में के प्रत्येक के काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा की अपेक्षा पाँच–पाँच भेद करने से १८० भेद हुए। जैसे–जीव, स्व रूप से काल की अपेक्षा नित्य है। जीव स्व रूप से काल की अपेक्षा अनित्य है। जीव पर रूप से काल की अपेक्षा नित्य है। जीव पर रूप से काल की अपेक्षा अनित्य है। इस प्रकार काल की अपेक्षा चार भेद हैं। इसी प्रकार नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा की अपेक्षा जीव के चार–चार भेद होंगे। इस तरह जीव आदि नव तत्त्वों के प्रत्येक के बीस–बीस भेद हुए और कुल १८० भेद हुए।

अक्रियावादी:–अक्रियावादी की भी अनेक व्याख्याएं हैं।

यथा:–

(१) किसी भी अनवस्थित पदार्थ में क्रिया नहीं होती है। यदि पदार्थ में क्रिया होगी तो वह अनवस्थित न होगा। इस प्रकार पदार्थों को अनवस्थित मान कर उनमें क्रिया का अभाव मानने वाले अक्रियावादी कहलाते हैं।

(२) क्रिया की क्या जरूरत है? केवल चित्त की पवित्रता होनी चाहिए। इस प्रकार ज्ञान ही से मोक्ष की मान्यता वाले अक्रियावादी कहलाते हैं।

(३) जीवादि के अस्तित्व को न मानने वाले अक्रियावादी कहलाते हैं। अक्रियावादी के ८४ भेद हैं। यथा:–

जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों के स्व और पर के भेद से १४ भेद हुए। काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा इन छहों की अपेक्षा १४ भेदों का विचार करने से ८४ भेद होते हैं। जैसे–जीव स्वतः काल से नहीं है। जीव परतः काल से नहीं है। इस प्रकार काल की अपेक्षा जीव के दो भेद हैं। काल की तरह यदृच्छा, नियति आदि की अपेक्षा भी

जीव के दो–दो भेद होंगे। इस प्रकार जीव के १२ भेद हुए। जीव की तरह शेष तत्त्वों के भी बारह–बारह भेद हैं। इस तरह कुल ८४ भेद हुए।

अज्ञानवादीः–जीवादि अतीन्द्रिय पदार्थों को जानने वाला कोई नहीं है। न उनके जानने से कुछ सिद्धि ही होती है। इसके अतिरिक्त समान अपराध में ज्ञानी को अधिक दोष माना है और अज्ञानी को कम। इसलिए अज्ञान ही श्रेय रूप है। ऐसा मानने वाले अज्ञानवादी हैं।

अज्ञानवादी के ६७ भेद हैं। यथाः–

जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा, और मोक्ष इन नव तत्त्वों के सद्, असद्, सदसद्, अवक्तव्य, सदवक्तव्य, असद्वक्तव्य, सदसद्वक्तव्य, इन सात भाँगों से ६३ भेद हुए और उत्पत्ति के सद्, असद् और अवक्तव्य की अपेक्षा से चार भंग हुए। इस प्रकार ६७ भेद अज्ञानवादी के होते हैं। जैसे–जीव सद् है, यह कौन जानता है ? और इसके जानने का क्या प्रयोजन है ?

विनयवादीः–स्वर्ग, अपवर्ग आदि के कल्याण की प्राप्ति विनय से ही होती है। इसलिए विनय ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार विनय को प्रधान रूप से मानने वाले विनयवादी कहलाते हैं।

विनयवादी के ३२ भेद हैं:–

देव, राजा, यति, ज्ञाति, स्थविर, अधम, माता और पिता इन आठों का मन, वचन, काया, और दान, इन चार प्रकारों से विनय होता है। इस प्रकार आठ को चार से गुणा करने से ३२ भेद होते हैं।

(भगवती शतक ३०, उद्देशा १ की टिप्पणी)

(आचारांग, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अध्ययन १, उद्देशा १)

(सूयगडांग, प्रथम श्रुतस्कन्ध, अध्ययन १२)

ये चारों वादी मिथ्या दृष्टि हैं।

क्रियावादी जीवादि पदार्थों के अस्तित्व को ही मानते हैं। इस प्रकार एकान्त अस्तित्व को मानने से इनके मत में पर रूप की अपेक्षा से नास्तित्व नहीं माना जाता। पर रूप की अपेक्षा से वस्तु में नास्तित्व न मानने से वस्तु में स्व रूप की तरह पर रूप का भी अस्तित्व रहेगा। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में सभी वस्तुओं का अस्तित्व रहने से एक ही वस्तु सर्व रूप हो जायेगी जो कि प्रत्यक्ष

बाधित है। इस प्रकार क्रियावादियों का मत मिथ्यात्वपूर्ण है।

अक्रियावादी जीवादि पदार्थ नहीं हैं। इस प्रकार असद्भूत अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। इसलिए वे भी मिथ्या दृष्टि हैं। एकान्त रूप से जीव के अस्तित्व का प्रतिषेध करने से उनके मत में निषेधकर्त्ता का भी अभाव हो जाता है। निषेधकर्त्ता के अभाव से सभी का अस्तित्व स्वतःसिद्ध हो जाता है।

अज्ञानवादी अज्ञान को श्रेय मानते हैं। इसलिए वे भी मिथ्या दृष्टि हैं और उनका कथन स्ववचन बाधित है। क्योंकि "अज्ञान श्रेय है" यह बात भी वे बिना ज्ञान के कैसे जान सकते हैं और बिना ज्ञान के वे अपने मत का समर्थन भी कैसे कर सकते हैं ? इस प्रकार अज्ञान की श्रेयता बताते हुए उन्हें ज्ञान का आश्रय लेना ही पड़ता है।

विनयवादीः—केवल विनय से ही स्वर्ग, मोक्ष पाने की इच्छा रखने वाले विनयवादी मिथ्या दृष्टि हैं। क्योंकि ज्ञान और क्रिया दोनों से मोक्ष की प्राप्ति होती है, केवल ज्ञान या केवल क्रिया से नहीं। ज्ञान को छोड़कर एकान्त रूप से केवल क्रिया के एक अङ्ग का आश्रय लेने से वे सत्यमार्ग से परे हैं।

(सूयगडांग प्रथम श्रुतस्कन्ध, अध्ययन १२, टीका)

१६२-वादी चारः-

(१) आत्मवादी (२) लोकवादी

(३) कर्मवादी (४) क्रियावादी

(१) आत्मवादीः—जो नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देवगति आदि भाव दिशाओं तथा पूर्व, पश्चिम आदि द्रव्य दिशाओं में आने—जाने वाले अक्षणिक, अमूर्त्त आदि स्वरूप वाले आत्मा को मानता है, वह आत्मवादी है और आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने वाला है।

जो उक्त स्वरूप वाले आत्मा को नहीं मानते, वे अनात्मवादी हैं। सर्वव्यापी, एकान्त, नित्य या क्षणिक आत्मा को मानने वाले भी अनात्मवादी ही हैं। क्योंकि सर्वव्यापी, नित्य या क्षणिक आत्मा मानने पर उसका पुनर्जन्म सम्भव नहीं है।

(२) लोकवादीः—आत्मवादी ही वास्तव में लोकवादी है। लोक अर्थात् प्राणिगण को मानने वाला लोकवादी है अथवा विशिष्ट आकाश खण्ड, जहाँ जीवों का गमनागमन संभव है, ऐसे लोक को

मानने वाला लोकवादी है। लोकवादी अनेक आत्माओं का अस्तित्व स्वीकार करता है क्योंकि आत्माद्वैत के एकात्मवाद के साथ लोक का स्वरूप और लोक में जीवों का गमनागमन आदि बातों का मेल नहीं खाता।

(३) कर्मवादीः—जो आत्मवादी और लोकवादी है, वही कर्मवादी है। ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का अस्तित्व मानने वाला कर्मवादी कहलाता है। उसके अनुसार आत्मा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से गति, शरीर आदि के योग्य कर्म बाँधता है और फिर स्वकृत कर्मानुसार भिन्न–भिन्न योनियों में उत्पन्न होता है। यदृच्छा, नियति और ईश्वर जगत् की विचित्रता करने वाले हैं और जगत् चलाने वाले हैं। ऐसा मानने वाले यदृच्छा, नियति और ईश्वरवादी के मतों को कर्मवादी असत्य समझता है।

(४) क्रियावादीः—जो कर्मवादी है वही क्रियावादी है। अर्थात् कर्म के कारण भूत आत्मा के व्यापार यानि क्रिया को मानने वाला है। कर्म कार्य्य है और कार्य्य का कारण है योग अर्थात् मन, वचन और काया का व्यापार। इसलिए जो कर्मरूप कार्य्य को मानता है, वह उसके कारणरूप क्रिया को भी मानता है। सांख्य लोग आत्मा को निष्क्रिय अर्थात् क्रिया रहित मानते हैं। वह मत क्रियावादियों के मतानुसार अप्रामाणिक है।

(आचारांग २, श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन १, उद्देशा १ की टीका)

१६३-शूर पुरुष के चार प्रकारः-

(१) क्षमा-शूर (२) तप-शूर

(३) दान-शूर (४) युद्ध-शूर

(१) क्षमा-शूर अरिहन्त भगवान होते हैं। जैसे—भगवान् महावीर स्वामी।

(२) तप-शूर अनगार होते हैं। जैसे—धन्नाजी और दृढ़प्रहारी अनगार। दृढ़प्रहारी ने चोर अवस्था में दृढ़ प्रहार आदि से उपार्जित कर्मों का अन्त दीक्षा देकर तप द्वारा छः मास में कर दिया। द्रव्य शत्रुओं की तरह भाव शत्रु अर्थात् कर्मों के लिये भी उसने अपने आप को दृढप्रहारी सिद्ध कर दिया।

(३) दान-शूर वैश्रमण देवता होते हैं। ये उत्तर दिशा के लोकपाल हैं। ये तीर्थंकर भगवान् के जन्म और पारणे आदि के

समय रत्नों की वृष्टि करते हैं।

(४) युद्ध-शूर वासुदेव होते हैं। जैसे—कृष्ण महाराज। कृष्णजी ने ३६० युद्धों में विजय प्राप्त की थी।

(ठाणांग ४, उद्देशा ४, सूत्र ३१७)

१६४-पुरुषार्थ के चार भेदः-

पुरुष का प्रयोजन ही पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ चार हैं—

(१) धर्म (२) अर्थ

(३) काम (४) मोक्ष

(१) धर्मः—जिससे सब प्रकार के अभ्युदय एवं मोक्ष की सिद्धि हो, वह धर्म है। धर्म पुरुषार्थ अन्य सब पुरुषार्थों की प्राप्ति का मूल कारण है। धर्म से पुण्य एवं निर्जरा होती है। पुण्य से अर्थ और काम की प्राप्ति तथा निर्जरा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इसलिए पुरुषाभिमानी सभी पुरुषों को सदा धर्म की आराधना करनी चाहिये।

(२) अर्थः—जिससे सब प्रकार के लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि हो, वह अर्थ है। अभ्युदय के चाहने वाले गृहस्थ को न्यायपूर्वक अर्थ का उपार्जन करना चाहिये। स्वामीद्रोह, मित्रद्रोह, विश्वासघात, जूआ, चोरी आदि निन्दनीय उपायों का आश्रय न लेते हुए अपने जाति, कुल की मर्यादा के अनुसार नीतिपूर्वक उपार्जित अर्थ (धन) इहलोक और परलोक दोनों में हितकारी होता है। न्यायोपार्जित धन का सत्कार्य में व्यय हो सकता है। अन्यायोपार्जित धन इहलोक और परलोक दोनों में दुःख का कारण होता है।

(३) कामः—मनोज्ञ विषयों की प्राप्ति द्वारा इन्द्रियों का तृप्त होना काम है। अमर्यादित और स्वच्छन्द कामाचार का सर्वत्र निषेध है।

(४) मोक्षः—राग—द्वेष द्वारा उपार्जित कर्म--बंधन से आत्मा को स्वतन्त्र करने के लिये संवर और निर्जरा में उद्यम करना मोक्ष पुरुषार्थ है।

इन चारों पुरुषार्थों में मोक्ष ही परम पुरुषार्थ माना गया है। इसीके आराधक पुरुष, उत्तम पुरुष माने जाते हैं।

जो मोक्ष की परम उपादेयता स्वीकार करते हुए भी मोह की प्रबलता से उसके लिये उचित प्रयत्न नहीं कर सकते तथा धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों में अविरुद्ध रीति से उद्यम करते

हैं, वे मध्यम पुरुष हैं। जो मोक्ष और धर्म की उपेक्षा करके, केवल अर्थ और काम पुरुषार्थ में ही अपनी शक्ति का व्यय करते हैं, वे अधम पुरुष हैं। वे लोग बीज को खा जाने वाले किसान परिवार के सदृश हैं जो भविष्य में धर्मोपार्जित पुण्य के नष्ट हो जाने पर दुःख भोगते हैं।

(पुरुषार्थ दिग्दर्शन के आधार से)

१६५-मोक्षमार्ग के चार भेदः-

(१) ज्ञान (२) दर्शन

(३) चारित्र (४) तप

(१) ज्ञानः—ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से उत्पन्न होकर वस्तु के स्वरूप को जानने वाला मति आदि पांच भेद वाला आत्मपरिणाम ज्ञान कहलाता है। यह सम्यग्ज्ञान रूप है।

(२) दर्शनः—दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने पर वीतराग प्ररूपित नव तत्त्व आदि भावों पर रुचि एवं श्रद्धा होने, रूप आत्मा का शुभ भाव दर्शन कहलाता है। यही दर्शन सम्यग्दर्शन रूप है।

(३) चारित्रः—चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम होने पर सत्क्रिया में प्रवृत्ति और असत्क्रिया से निवृत्ति कराने वाला, सामायिक, छेदोपस्थापनिक, परिहार विशुद्धि, सूक्ष्म सम्पराय और यथाख्यात स्वरूप पांच भेद वाला आत्मा का शुभ परिणाम चारित्र है। यह चारित्र सम्यग् चारित्र रूप है एवं जीव को मोक्ष में पहुँचाने वाला है।

नोटः—ज्ञान, दर्शन और चारित्र की व्याख्या ७६ वें बोल में भी दी गई है।

(४) तपः—पूर्वोपार्जित कर्मों को क्षय करने वाला, बाह्य और आभ्यन्तर भेद वाला आत्मा का विशेष व्यापार तप कहलाता है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप ये चारों मिल कर ही मोक्ष का मार्ग हैं, पृथक्--पृथक् नहीं। ज्ञान द्वारा आत्मा जीवादि तत्त्वों को जानता है। दर्शन द्वारा उन पर श्रद्धा करता है। चारित्र की सहायता से आते हुए नवीन कर्मों को रोकता है एवं तप द्वारा पूर्व संचित कर्मों का क्षय करता है।

(उत्तराध्ययन, अध्ययन २८)

१६६-धर्म के चार प्रकारः-

(१) दान (२) शील

(३) तप (४) भावना (भाव)

जैसा कि सत्तरीसय ठाणावृत्ति ४१ वें द्वार में कहा हैः–

दाणं सीलं च तवो भावो, एवं चउव्विहो धम्मो।

सव्व जिणेहिं भणिओ, तहा दुहा सुयचारितेहिं।।२६६।।

(अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग ४, पृष्ठ २२८६)

(१) दानः–स्व और पर के उपकार के लिए अर्थी अर्थात् जरूरत वाले पुरुष को जो दिया जाता है, वह दान कहलाता है। अभयदान, सुपात्रदान, अनुकम्पा दान, ज्ञानदान आदि दान के अनेक भेद हैं। इनका पालन करना दानधर्म कहलाता है।

(सूयागडांग श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन ६, गाथा २३)

(अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग ४, पृष्ठ २४८६)

(पंचाशक, ६ वां पंचाशक, गाथा ६)

दान के प्रभाव से धन्नाजी और शालिभद्रजी ने अखूट लक्ष्मी पाई और भोग भोगे। शालिभद्रजी सर्वार्थसिद्ध से आकर सिद्धि (मोक्ष) पावेंगे और धन्नाजी तो सिद्ध हो चुके। यह जानकर प्रत्येक व्यक्ति को सुपात्रदान आदि दानधर्म का सेवन करना चाहिए।

(२) शील (ब्रह्मचर्य्य):–दिव्य एवं औदारिक कामों का तीन करण और तीन योग से त्याग करना शील है अथवा मैथुन का त्याग करना शील है। शील का पालन करना शीलधर्म है। शील सर्व विरति और देश विरति रूप से दो प्रकार का है। देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी मैथुन का सर्वथा तीन करण, तीन योग से त्याग करना सर्व विरति शील है। स्वदार संतोष और परस्त्री विवर्जन रूप ब्रह्मचर्य्य एकदेश शील है।

शील के प्रभाव से सुदर्शन सेठ के लिए शूली का सिंहासन हो गया। कलावती के कटे हुए हाथ नवीन उत्पन्न हो गये। इसलिए शुद्ध शील का पालन करना चाहिये।

(३) तपः–जो आठ प्रकार के कर्मों एवं शरीर की सात धातुओं को जलाता है, वह तप है। तप बाह्य और आभ्यन्तर रूप से दो प्रकार का है। अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रसपरित्याग, कायक्लेश और प्रतिसंलीनता ये ६ बाह्य तप हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य,

स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग ये ६ आभ्यन्तर तप हैं।

(भगवती शतक २५, उद्देशा ७)

(उत्तराध्ययन, अध्ययन ३०)

तप के प्रभाव से धन्नाजी, दृढ़प्रहारी, हरिकेशी मुनि और ढंढणजी प्रमुख मुनीश्वरों ने सकल कर्मों का क्षय कर सिद्ध पद को प्राप्त किया। इसलिए तप का सेवन करना चाहिये।

(४) भावना (भाव):–मोक्षाभिलाषी आत्मा अशुभ भावों को दूर कर मन को शुभ भावों में लगाने के लिए जो संसार की अनित्यता आदि का विचार करता है, वही भावना है। अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाएं हैं। मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ ये भी चार भावनाएं हैं। व्रतों को निर्मलता से पालन करने के लिए व्रतों की पृथक्–पृथक् भावनाएं बतलाई गई हैं। मन को एकाग्र कर इन शुभ भावनाओं में लगा देना ही भावना धर्म है।

भावना के प्रभाव से मरुदेवी माता, भरत चक्रवर्ती, प्रसन्नचन्द्र राजर्षि, इलायचीकुमार, कपिलमुनि, स्कन्धक प्रमुख मुनि केवल ज्ञान प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त हुए। इसलिए शुभ भावना भावनी चाहिए।

(अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग ५, पृष्ठ १५०५)

१६७-दान के चार प्रकार:-

(१) ज्ञानदान (२) अभयदान

(३) धर्मोपकरण दान (४) अनुकम्पा दान

(१) ज्ञानदान:–ज्ञान पढ़ाना, पढ़ने और पढ़ाने वालों की सहायता करना आदि ज्ञानदान है।

(२) अभयदान:–दु:खों से भयभीत जीवों को भयरहित करना, अभयदान है।

(३) धर्मोपकरण दान:–छ: काय के आरंभ से निवृत्त, पञ्च महाव्रतधारी साधुओं को आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि धर्म–सहायक धर्मोपकरण देना धर्मोपकरण दान है।

(४) अनुकम्पा दान:–अनुकम्पा के पात्र दीन, अनाथ, रोगी, संकट में पड़े हुए व्यक्तियों को अनुकम्पा भाव से दान देना अनुकम्पा दान है।

(धर्मरत्न, प्रकरण ७०)

१९८-भाव प्राण की व्याख्या और भेदः-

भाव प्राणः--आत्मा के निज गुणों को भाव प्राण कहते हैं। भाव प्राण चार प्रकार के होते हैं।

(१) ज्ञान (२) दर्शन

(३) सुख (४) वीर्य

सकल कर्म से रहित सिद्ध भगवान् इन्हीं चार भाव प्राणों से युक्त होते हैं।

(पन्नवणा, पद १ टीका)

१९९-दर्शन के चार भेदः-

(१) चक्षु दर्शन (२) अचक्षु दर्शन

(३) अवधि दर्शन (४) केवल दर्शन

चक्षु दर्शनः—चक्षु दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर चक्षु द्वारा जो पदार्थों के सामान्य धर्म का ग्रहण होता है। उसे चक्षु दर्शन कहते हैं।

अचक्षु दर्शनः—अचक्षु दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर चक्षु के सिवा शेष, स्पर्श, रसना, घ्राण और श्रोत्र इन्द्रिय तथा मन से जो पदार्थों के सामान्य धर्म का प्रतिभास होता है। उसे अचक्षु दर्शन कहते हैं।

अवधि दर्शनः—अवधि दर्शनावरणीय कर्म के क्षयोपशम होने पर इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना, आत्मा को रूपी द्रव्य के सामान्य धर्म का जो बोध होता है, उसे अवधि दर्शन कहते हैं।

केवल दर्शनः—केवल दर्शनावरणीय कर्म के क्षय होने पर आत्मा द्वारा संसार के सकल पदार्थों का जो सामान्य ज्ञान होता है, उसे केवल दर्शन कहते हैं।

(ठाणांग ४, उद्देशा ४, सूत्र ३६५) (कर्मग्रन्थ ४, गाथा १२)

२००-मति ज्ञान के चार भेदः-

(१) अवग्रह (२) ईहा

(३) अवाय (४) धारणा

अवग्रहः—इन्द्रिय और पदार्थों के योग्य स्थान में रहने पर सामान्य प्रतिभास रूप दर्शन के बाद होने वाले अवान्तर सत्ता सहित वस्तु के सर्वप्रथम ज्ञान को अवग्रह कहते हैं। जैसे—दूर से किसी चीज का ज्ञान होना।

ईहाः–अवग्रह से जाने हुए पदार्थ के विषय में उत्पन्न हुए संशय को दूर करते हुए विशेष की जिज्ञासा को ईहा कहते हैं। जैसे–अवग्रह से किसी दूरस्थ चीज का ज्ञान होने पर संशय होता है कि यह दूरस्थ चीज मनुष्य है या स्थाणु ? ईहा ज्ञानवान् व्यक्ति विशेष धर्म विषयक विचारणा द्वारा इस संशय को दूर करता है और यह जान लेता है कि यह मनुष्य होना चाहिए। यह ज्ञान दोनों पक्षों में रहने वाले संशय को दूर कर एक ओर झुकता है। परन्तु इतना कमजोर होता है कि ज्ञाता को इससे पूर्ण निश्चय नहीं होता और उसको तद्विषयक निश्चयात्मक ज्ञान की आकांक्षा बनी ही रहती है।

अवायः–ईहा से जाने हुए पदार्थों में 'यह वही है, अन्य नहीं है' ऐसे निश्चयात्मक ज्ञान को अवाय कहते हैं। जैसे–यह मनुष्य ही है।

धारणाः–अवाय से जाना हुआ पदार्थों का ज्ञान इतना दृढ़ हो जाय कि कालान्तर में भी उसका विस्मरण न हो तो उसे धारणा कहते हैं।

(ठाणांग ४, सूत्र ३६४)

२०१-बुद्धि के चार भेदः-

(१) औत्पातिकी (२) वैनयिकी
(३) कार्मिकी (४) पारिणामिकी

औत्पातिकीः–नटपुत्र रोह की बुद्धि की तरह जो बुद्धि बिना देखे, सुने और सोचे हुए, पदार्थों को सहसा ग्रहण करके, कार्य को सिद्ध कर देती है, उसे औत्पातिकी बुद्धि कहते हैं।

(नन्दी सूत्र की कथा)

वैनयिकीः–नैमित्तिक सिद्ध पुत्र के शिष्यों की तरह गुरुओं की सेवा–शुश्रूषा से प्राप्त होने वाली बुद्धि वैनयिकी है।

कार्मिकीः–कर्म अर्थात् सतत् अभ्यास और विचार से विस्तार को प्राप्त होने वाली बुद्धि कार्मिकी है। जैसे–सुनार, किसान आदि कर्म करते–करते अपने धन्धे में उत्तरोत्तर विशेष दक्ष हो जाते हैं।

पारिणामिकीः–अति दीर्घकाल तक पूर्वापर पदार्थों के देखने आदि से उत्पन्न होने वाला आत्मा का धर्म परिणाम कहलाता है। उस परिणाम कारणक बुद्धि को पारिणामिकी कहते हैं। अर्थात् वयोवृद्ध व्यक्ति को बहुत काल तक संसार के अनुभव से प्राप्त होने वाली बुद्धि पारिणामिकी बुद्धि कहलाती है।

(ठाणांग ४, सूत्र ३६४)

२०२-प्रमाण चारः-

(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान
(३) उपमान (४) आगम

प्रत्यक्षः—अक्ष शब्द का अर्थ आत्मा और इन्द्रिय है। इन्द्रियों की सहायता बिना, जीव के साथ सीधा सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण है। जैसे—अवधिज्ञान, मनःपर्यर्यज्ञान और केवलज्ञान। इन्द्रियों से सीधा सम्बन्ध रखने वाला अर्थात् इन्द्रियों की सहायता द्वारा जीव के साथ सम्बन्ध रखने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। जैसे—इन्द्रिय प्रत्यक्ष। निश्चय में अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष हैं और व्यवहार में इन्द्रियों की सहायता से होने वाला ज्ञान भी प्रत्यक्ष है।

अनुमानः—लिङ्ग अर्थात् हेतु के ग्रहण और सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति के स्मरण के पश्चात् जिससे पदार्थ का ज्ञान होता है, उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। अर्थात् साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं।

उपमानः—जिसके द्वारा सदृशता से उपमेय पदार्थों का ज्ञान होता है। उसे उपमान प्रमाण कहते हैं। जैसे—गवय गाय के समान होता है।

आगमः—शास्त्र द्वारा होने वाला ज्ञान आगम प्रमाण कहलाता है।

(भगवती शतक ५, उद्देशा ४)

(अनुयोग द्वार सूत्र, पृष्ठ २११ से २१६, आगमोदय समिति)

२०३-उपमा संख्या की व्याख्या और भेदः-

उपमा संख्याः—उपमा से वस्तु के निर्णय को उपमा संख्या कहते हैं।

उपमा संख्या के चार भेदः—

(१) सत् की सत् से उपमा
(२) सत् की असत् से उपमा
(३) असत् की सत् से उपमा
(४) असत् की असत् से उपमा

सत् की सत् से उपमाः—सत् अर्थात् विद्यमान पदार्थ की विद्यमान पदार्थ से उपमा दी जाती है। जैसे—विद्यमान तीर्थंकर के वक्षस्थल की विशालता के लिये विद्यमान नगर के दरवाजे से

उपमा दी जाती है। उनकी भुजाएं अर्गला के समान एवं शब्द देव दुन्दुभि के समान कहे जाते हैं।

सत् की असत् से उपमाः—विद्यमान वस्तु की अविद्यमान वस्तु से उपमा दी जाती है। जैसेः—विद्यमान नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव की आयु पल्योपम और सागरोपम परिमाण आयु को अविद्यमान योजन परिमाण कूप के बालाग्रादि से उपमा दी जाती है।

असत् की सत् से उपमाः—अविद्यमान वस्तु की विद्यमान से उपमा दी जाती है। जैसेः—वसन्त के समय में जीर्णप्रायः, पका हुआ, शाखा से चलित, काल प्राप्त, गिरते हुए पत्र की किसलय (नवीन उत्पन्न पत्र) के प्रति उक्तिः—

"जैसे तुम हो वैसे हम भी थे और तुम भी हमारे जैसे हो जाओगे" इत्यादि।

उपर्युक्त वार्तालाप किसलय और जीर्णपत्र के बीच में न कभी हुआ और न होगा। भव्य जीवों को सांसारिक समृद्धि से निर्वेद हो, इस आशय से इस वार्तालाप की कल्पना की गई है।

"जैसे तुम हो वैसे हम भी थे" इस वाक्य में किसलय पत्र की वर्तमान अवस्था की उपमा दी गई है। किसलय उपमान है जो कि विद्यमान है और पाण्डु पत्र की अतीत किसलय अवस्था उपमेय है जो कि अभी अविद्यमान है। इस प्रकार यहाँ असत् की सत् से उपमा दी गई है।

"तुम भी हमारी तरह हो जाओगे" इस वाक्य में भी पाण्डु पत्र की वर्तमान अवस्था से किसलय पत्र की भविष्यकालीन अवस्था की उपमा दी गई है। पाण्डुपत्र उपमान है जो कि विद्यमान है। किसलय की भविष्यकालीन पाण्डु अवस्था उपमेय है जो कि अभी मौजूद नहीं है। इस प्रकार यहाँ पर भी असत् की सत् से उपमा दी गई है।

असत् की असत् से उपमाः—अविद्यमान वस्तु की अविद्यमान से उपमा दी जाती है। जैसेः—यह कहना कि गधे का सींग शश (खरगोश) के सींग जैसा है। यहाँ उपमान गधे का सींग और उपमेय शश का सींग दोनों ही असत् हैं।

(अनुयोगद्वार, पृष्ठ २३१-२३२, आगमोदय समिति)

२०४-चार मूल सूत्रः-

(१) उत्तराध्ययन सूत्र (२) दशवैकालिक सूत्र

(३) नन्दी सूत्र (४) अनुयोगद्वार सूत्र

(१) उत्तराध्ययन–

इस सूत्र में विनयश्रुत आदि ३६ उत्तर अर्थात् प्रधान अध्ययन हैं, इसलिए यह सूत्र उत्तराध्ययन कहलाता है। अथवा आचाराङ्ग सूत्र के बाद में यह सूत्र पढ़ाया जाता है, इसलिए यह उत्तराध्ययन कहलाता है। यह सूत्र अङ्गबाह्य कालिक श्रुत है। इस सूत्र के ३६ अध्ययन निम्नलिखित हैं:–

१. विनयश्रुतः–

विनीत के लक्षण, अविनीत के लक्षण और उसका परिणाम, साधक का कठिन कर्त्तव्य, गुरुधर्म, शिष्यशिक्षा, चलते, उठते, बैठते तथा भिक्षा लेने के लिए जाते हुए साधु का आचरण।

२. परिषहः–

भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में भिन्न–भिन्न प्रकार के आये हुए आकस्मिक संकटों के समय भिक्षु किस प्रकार सहिष्णु एवं शान्त बना रहे, आदि बातों का स्पष्ट उल्लेख।

३. चतुरङ्गीयः–

मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, श्रद्धा, संयम में पुरुषार्थ करना इन चार आत्म विकास के अङ्गों का क्रमपूर्वक निर्देश, संसार चक्र में फिरने का कारण, धर्म कौन पाल सकता है ? शुभ कर्मों का सुन्दर परिणाम।

४. असंस्कृतः–

जीवन की चंचलता, दुष्ट कर्म का दुःखद परिणाम, कर्मों के करने वाले को ही उनके फल भोगने पड़ते हैं। प्रलोभनों में जागृति, स्वच्छन्द वृत्ति को रोकने में ही मुक्ति है।

५. अकाम मरणीयः–

अज्ञानी का ध्येयशून्य मरण, क्रूरकर्मी का विलाप, भोगों की आसक्ति का दुष्परिणाम, दोनों प्रकार के रोगों की उत्पत्ति, मृत्यु के समय दुराचारी की स्थिति, गृहस्थ साधक की योग्यता। सच्चे संयम का प्रतिपादन, सदाचारी की गति, देवगति के सुखों का वर्णन, संयमी का सफल मरण।

६. क्षुल्लक निर्ग्रन्थः–

धन, स्त्री, पुत्र, परिवार आदि सब कर्मों से पीड़ित

मनुष्य को शरणभूत नहीं होते। बाह्य परिग्रह का त्याग, जगत् के सर्व प्राणियों पर मैत्रीभाव, आचारशून्य वाग्वैदग्ध्य एवं विद्वत्ता व्यर्थ है। संयमी की परिमितता।

७. एलकः–

भोगी की बकरे के साथ तुलना, अधम गति में जाने वाले जीव के विशिष्ट लक्षण, लेशमात्र भूल का अति दुःखद परिणाम, मनुष्य जीवन का कर्त्तव्य, काम-भोगों की चंचलता।

८. कापिलिकः–

कपिल मुनि के पूर्व जन्म का वृत्तान्त, शुभ भावना के अंकुर के कारण पतन में से विकास, भिक्षुकों के लिए इनका सदुपदेश, सूक्ष्म अहिंसा का सुन्दर प्रतिपादन, जिन विद्याओं से मुनि का पतन हो, उनका त्याग, लोभ का परिणाम, तृष्णा का हूबहू चित्र, स्त्री-संग का त्याग।

९. नमि प्रव्रज्याः–

निमित्त मिलने से नमि राजा का अभिनिष्क्रमण, नमि राजा के निष्क्रमण से मिथिला नगरी में हाहाकार, नमि राजा के साथ इन्द्र का तात्त्विक प्रश्नोत्तर और उनका सुन्दर समाधान।

१०. द्रुमपत्रकः–

वृक्ष के पके हुए पत्र से मनुष्य जीवन की तुलना, जीवन की उत्क्रान्ति का क्रम, मनुष्य जीवन की दुर्लभता, भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न आयु स्थिति का परिमाण, गौतम स्वामी को उद्देश कर भगवान् महावीर स्वामी का अप्रमत्त रहने का उपदेश, गौतम स्वामी पर उसका प्रभाव और उनको निर्वाण की प्राप्ति होना।

११. बहुश्रुतपूज्यः–

ज्ञानी एवं अज्ञानी के लक्षण, सच्चे ज्ञानी की मनोदशा, ज्ञान का सुन्दर परिणाम, ज्ञानी को सर्वोच्च उपमा।

१२. हरिकेशीयः–

जातिवाद का खण्डन, जाति मद का दुष्परिणाम, तपस्वी की त्याग दशा, शुद्ध तपश्चर्य्या का दिव्य प्रभाव, सच्ची शुद्धि किस में है ?

१३. चित्त संभूतीयः–

संस्कृति एवं जीवन का सम्बन्ध, प्रेम का आकर्षण,

चित्त और संभूति इन दोनों भाइयों का पूर्व इतिहास, छोटी-सी वासना के लिए भोग, पुनर्जन्म क्यों ? प्रलोभन के प्रबल निमित्त मिलने पर भी त्यागी की दशा, चित्त और संभूति का परस्पर मिलना, चित्त मुनि का उपदेश, संभूति का न मानना, निदान (नियाणा) का दुष्परिणाम, सम्भूति का घोर दुर्गति में जाकर पड़ना।

१४. इषुकारीयः—

ऋणानुबन्ध किसे कहते हैं। छः साथी जीवों का पूर्ण वृत्तान्त और इषुकार नगर में उनका पुनः इकट्ठा होना, संस्कार की स्फूर्ति, परम्परागत मान्यताओं का जीवन पर प्रभाव, गृहस्थाश्रम किसलिए ? सच्चे वैराग्य की कसौटी, आत्मा की नित्यता का मार्मिक वर्णन। अन्त में पुरोहित के दो पुत्र, पुरोहित एवं उसकी पत्नी, इषुकार राजा और रानी इन छः ही जीवों का एक-दूसरे के निमित्त से संसार त्याग और मुक्ति प्राप्ति।

१५. स-भिक्खुः—

आदर्श भिक्षु कैसा हो ? इसका स्पष्ट तथा हृदयस्पर्शी वर्णन।

१६. ब्रह्मचर्य समाधि के स्थानः—

मन, वचन, काया से शुद्ध ब्रह्मचर्य किस तरह पाला जा सकता है ? उसके लिए १० हितकारी वचन। ब्रह्मचर्य की क्या आवश्यकता है ? ब्रह्मचर्य पालन का फल आदि के विस्तृत वर्णन।

१७. पाप श्रमणीयः—

पापी श्रमण किसे कहते हैं ? श्रमण जीवन को दूषित करने वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म दोषों का भी चिकित्सापूर्ण वर्णन।

१८. संयतीयः—

कम्पिला नगरी के राजा संयति का शिकार के लिए उद्यान में जाना, मृग पर बाण चलाना, एक छोटे-से मौज-मजा में पश्चात्ताप का होना, गर्दभाली मुनि के उपदेश का प्रभाव, संयति राजा का गृहत्याग, संयति तथा क्षत्रिय मुनि का समागम, जैन शासन की उत्तमता किस में है ? शुद्ध अन्तःकरण से पूर्व—जन्म का स्मरण होना, चक्रवर्ती की अनुपम विभूति के धारक अनेक महापुरुषों का आत्मसिद्धि के लिए त्याग मार्ग का अनुसरण कर आत्मकल्याण करना। उन सब की नामावली।

१६. मृगापुत्रीयः–

सुग्रीव नगर के बलभद्र राजा के तरुण युवराज मृगापुत्र को एक मुनि के देखने से भोग विलासों से वैराग्यभाव का पैदा होना, पुत्र का कर्त्तव्य, माता–पिता का वात्सल्य भाव, दीक्षा लेने के लिए आज्ञा प्राप्त करते समय उनकी तात्त्विक चर्चा, पूर्व जन्मों में नीच गतियों में भोगे हुए दुःखों की वेदना का वर्णन, आदर्श त्याग, संयम स्वीकार कर सिद्ध गति को प्राप्त करना।

२०. महा निर्ग्रन्थीयः–

श्रेणिक महाराज और अनाथी मुनि का आश्चर्य्यकारक संयोग, अशरण भावना, अनाथता और सनाथता का विस्तृत वर्णन, कर्म का कर्त्ता तथा भोक्ता आत्मा ही है। इसकी प्रतीति, आत्मा ही अपना शत्रु और आत्मा ही अपना मित्र है। सन्त के समागम से मगधपति को पैदा हुआ आनन्द।

२१. समुद्रपालीयः–

चम्पा नगरी में रहने वाले, भगवान् महावीर के शिष्य पालित श्रावक का चरित्र, उसके पुत्र समुद्रपाल को एक चोर की दशा देखते ही उत्पन्न हुआ वैराग्यभाव, उनकी अडिग तपश्चर्य्या, त्याग का वर्णन।

२२. रथनेमीयः–

भगवान् अरिष्टनेमि का पूर्व जीवन, तरुण वय में ही योग संस्कार की जागृति, विवाह के लिए जाते हुए मार्ग में एक छोटा-सा निमित्त मिलना यानि दीन एवं मूक पशु–पक्षियों से भरे हुए बाड़े को देखकर तथा ये बरातियों के भोजनार्थ मारे जावेंगे ऐसा सारथि से जानकर, उन पर करुणा कर, उन्हें बन्धन से मुक्त करवाना, पश्चात् वैराग्य भाव का उत्पन्न होना, संयम स्वीकार करना, स्त्रीरत्न राजमती का अभिनिष्क्रमण, रथनेमि तथा राजमती का एकान्त में आकस्मिक मिलन, रथनेमि का कामातुर होना, राजमती की अडिगता, राजमती के उपदेश से संयम से विचलित रथनेमि का पुनः संयम में स्थिर होना, स्त्रीशक्ति का ज्वलन्त दृष्टान्त।

२३. केशी गौतमीयः–

श्रावस्ती नगरी में महामुनि केशी श्रमण से ज्ञानी मुनि

गौतम स्वामी का मिलना, गम्भीर प्रश्नोत्तर, समय धर्म की महत्ता, प्रश्नोत्तरों से सब का समाधान और केशी श्रमण का भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित आचार का ग्रहण।

२४. समितियां:–

आठ प्रवचन माताओं का वर्णन, सावधानी एवं संयम का सम्पूर्ण वर्णन, कैसे चलना, बोलना, भिक्षा प्राप्त करना, व्यवस्था रखना, मन, वचन और काय संयम की रक्षा आदि का विस्तृत वर्णन।

२५. यज्ञीय:–

याजक कौन है ? यज्ञ कौन-सा ठीक है ? अग्नि कैसी होनी चाहिए ? ब्राह्मण किसे कहते हैं ? वेद का असली रहस्य, सच्चा यज्ञ, जातिवाद का पूर्ण खण्डन, कर्मवाद का मण्डन, श्रमण, मुनि, तपस्वी किसे कहते हैं ? संसाररूपी रोग की सच्ची चिकित्सा, सच्चे उपदेश का प्रभाव।

२६. समाचारी:–

साधक भिक्षु की दिनचर्य्या, उसके दस भेदों का वर्णन, दिवस का समय विभाग, समय धर्म को पहिचान कर काम करने की शिक्षा, सावधानी रखने पर विशेष जोर, घड़ी बिना दिवस तथा रात्रि जानने की समयपद्धति।

२७. खलुङ्कीय:–

गणधर गर्गाचार्य का साधक जीवन, गलियार बैलों के साथ शिष्यों की तुलना, स्वच्छन्दता का दुष्परिणाम, शिष्यों की आवश्यकता कहाँ तक है ? गर्गाचार्य का अपने सब शिष्यों को निरासक्त भाव से छोड़कर एकान्त आत्म–कल्याण करना।

२८. मोक्षमार्ग गति:–

मोक्षमार्ग के साधनों का स्पष्ट वर्णन, संसार के समस्त तत्त्वों के सात्त्विक लक्षण, आत्म विकास का मार्ग सरलता से कैसे मिल सकता है ?

२९. सम्यक्त्व पराक्रम:–

जिज्ञासा की सामान्य भूमिका से लेकर अन्तिम साध्य (मोक्ष) प्राप्ति तक होने वाली समस्त भूमिकाओं का मार्मिक एवं सुन्दर वर्णन, उत्तम ७३ बोलों की पृच्छा, उनके गुण और लाभ।

३०. तपोमार्गः—

कर्मरूपी ईंधन को जलाने वाली अग्नि कौन—सी है ? तपश्चर्य्या का वैदिक, वैज्ञानिक तथा आध्यात्मिक इन तीन दृष्टियों से निरीक्षण, तपश्चर्य्या के भिन्न—भिन्न प्रकार के प्रयोगों का वर्णन और उनका शारीरिक तथा मानसिक प्रभाव।

३१. चरण विधिः—

यह संसार, पाठ सीखने की शाला है। प्रत्येक वस्तु में कुछ ग्रहण करने योग्य, कुछ त्यागने योग्य और कुछ उपेक्षणीय गुण हुआ करते हैं। उनमें से यहाँ एक से लेकर तेतीस संख्या तक की वस्तुओं का वर्णन किया गया है। उपयोग यही धर्म है।

३२. प्रमाद स्थानः—

प्रमाद स्थानों का चिकित्सापूर्ण वर्णन, व्याप्त दुःख से छूटने का एक मार्ग, तृष्णा, मोह और क्रोध का जन्म कहाँ से ? राग तथा द्वेष का मूल क्या है ? मन तथा इन्द्रियों के असंयम के दुष्परिणाम, मुमुक्षु की कार्य दिशा।

३३. कर्म प्रकृतिः—

जन्म—मरण के दुःखों का मूल कारण क्या है ? आठ कर्मों के नाम, भेद, उपभेद तथा उनकी भिन्न—भिन्न स्थिति एवं परिणाम का संक्षिप्त वर्णन।

३४. लेश्याः—

सूक्ष्म शरीर के भाव अथवा शुभाशुभ कर्मों के परिणाम, छः लेश्याओं के नाम, रंग, रस, गन्ध, स्पर्श, परिणाम, लक्षण, स्थान, स्थिति, गति, जघन्य, उत्कृष्ट, स्थिति आदि का विस्तृत वर्णन। किन—किन दोषों एवं गुणों से असुन्दर एवं सुन्दर भाव पैदा होते हैं। स्थूल क्रिया से सूक्ष्म मन का सम्बन्ध, कलुषित अथवा अप्रसन्न मन का आत्मा पर क्या असर पड़ता है ? मृत्यु से पहले जीवन कार्य्य के फल का विचार।

३५. अणगाराध्ययनः—

गृह—संसार का मोह, संयमी की जवाबदारी, त्याग की सावधानी, प्रलोभन तथा दोष के निमित्त मिलने पर समभाव कौन रख सकता है ? निरासक्ति की वास्तविकता, शरीर ममत्व का त्याग।

३६. जीवाजीव विभक्तिः—

सम्पूर्ण लोक के पदार्थों का विस्तृत वर्णन, मुक्ति की योग्यता, संसार का इतिहास, शुद्ध चैतन्य की स्थिति, संसारी जीवों की भिन्न–भिन्न गतियों में क्या दशा होती है ? एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय तथा पञ्चेन्द्रिय जीवों के भेद–प्रभेदों का विस्तृत वर्णन, जड़ पदार्थों का वर्णन, सब की पृथक्–पृथक् स्थिति, जीवात्मा पर आत्मा का क्या असर पड़ता है ? फलहीन तथा सफल मृत्यु की साधना की कलुषित तथा सुन्दर भावना का वर्णन।

इन सब बातों का वर्णन कर भगवान् महावीर स्वामी का मोक्ष–गमन।

(२) दशवैकालिक सूत्रः—

शयंभव स्वामी ने अपने पुत्र मनक शिष्य की केवल ६ मास आयु शेष जान कर विकाल अर्थात् दोपहर से लगा कर थोड़ा दिन शेष रहने तक चौदह पूर्व तथा अङ्ग शास्त्रों से दस अध्ययन निकाले। इसलिए यह सूत्र दशवैकालिक कहा जाता है। आत्म प्रवाद पूर्व में से "छज्जीवणीय" अध्ययन, कर्म प्रवाद में से पिण्डैषणा, सत्य प्रवाद में से वाक्यशुद्धि, और प्रथम, द्वितीय आदि अध्ययन नववें प्रत्याख्यान पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत किये गये हैं। इस सूत्र में दस अध्ययन और दो चूलिकायें हैं।

अध्ययनों के नाम इस प्रकार हैंः—

१. द्रुमपुष्पिकाः—

धर्म की वास्तविक व्याख्या, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा आध्यात्मिक दृष्टियों से उसकी उपयोगिता और उसका फल, भिक्षु तथा भ्रमर–जीवन की तुलना, भिक्षु की भिक्षावृत्ति सामाजिक जीवन पर भार रूप न होने का कारण।

२. श्रामण्यपूर्वकः—

वासना एवं विकल्पों के आधीन हो कर क्या साधुता की आराधना हो सकती है ? आदर्श त्यागी कौन ? आत्मा में बीज रूप में छिपी हुई वासनाओं से जब चित्त चंचल हो उठे तब उसे रोकने के सरल एवं सफल उपाय, रथनेमि और राजमती का मार्मिक प्रसङ्ग, रथनेमि की उद्दीप्त काम वासना, किन्तु राजमती की निश्चलता, प्रबल प्रलोभनों में से रथनेमि का उद्धार, स्त्री-शक्ति का ज्वलन्त उदाहरण।

३. क्षुल्लकाचारः–

भिक्षु के संयमी जीवन को सुरक्षित रखने के लिए महर्षियों द्वारा प्ररूपित चिकित्सापूर्ण ५२ निषेधात्मक नियमों का निदर्शन, अपने कारण किसी जीव को थोड़ा-सा भी कष्ट न पहुँचे, उस वृत्ति से जीवन निर्वाह करना। आहार शुद्धि, अपरिग्रह बुद्धि, शरीर सत्कार का त्याग, गृहस्थ के साथ अति परिचय बढ़ाने का निषेध, अनुपयोगी वस्तुओं तथा क्रियाओं का त्याग।

४. षड् जीवनिकाः–

गद्य विभागः–श्रमण जीवन की भूमिका में प्रवेश करने वाले साधक की योग्यता कैसी और कितनी होनी चाहिए ? श्रमण जीवन की प्रतिज्ञा के कठिन व्रतों का सम्पूर्ण वर्णन, उन्हें प्रसन्नतापूर्वक पालने के लिए जाग्रत वीर साधक की प्रबल अभिलाषा।

पद्य विभागः–काम करने पर भी पापकर्म का बन्ध न होने के सरल मार्ग का निर्देश, अहिंसा एवं संयम में विवेक की आवश्यकता, ज्ञान से लेकर मुक्त होने तक की समस्त भूमिकाओं का क्रमपूर्वक विस्तृत वर्णन, कौन-सा साधक दुर्गति अथवा सुगति को प्राप्त होता है। साधक के आवश्यक गुण कौन–कौन–से हैं ?

५. पिण्डैषणाः–

प्रथम उद्देशकः–भिक्षा की व्याख्या, भिक्षा का अधिकारी कौन ? भिक्षा की गवेषणा करने की विधि, किस मार्ग से किस तरह गमनागमन किया जाय ? चलने, बोलने आदि क्रियाओं में कितना सावधान रहना चाहिए ? कहाँ से भिक्षा प्राप्त की जाय और किस प्रकार प्राप्त की जाय ? गृहस्थ के यहाँ जाकर किस तरह से खड़ा होना चाहिए ? निर्दोष भिक्षा किसे कहते हैं ? कैसे दाता से भिक्षा लेनी चाहिए ? भोजन किस तरह करना चाहिए ? प्राप्त भोजन में किस तरह सन्तुष्ट रहा जाय ? इत्यादि बातों का स्पष्ट वर्णन है।

द्वितीय उद्देशकः–भिक्षा के समय ही भिक्षा के लिए जाना चाहिए। थोड़ी-सी भी भिक्षा का असंग्रह। किसी भी भेदभाव के बिना, शुद्ध आचरण एवं नियम वाले घरों से भिक्षा लेना, रस वृत्ति का त्याग।

६. धर्मार्थ कामाध्ययनः–

मोक्षमार्ग का साधन क्या है ? श्रमण जीवन के लिए

आवश्यक १८ नियमों का मार्मिक वर्णन, अहिंसा पालन किस लिए ? सत्य तथा असत्य व्रत की उपयोगिता कैसी और कितनी है ? मैथुन वृत्ति से कौन–कौन से दोष पैदा होते हैं ? ब्रह्मचर्य्य की आवश्यकता। परिग्रह की मार्मिक व्याख्या, रात्रि भोजन किसलिए वर्ज्य है ? सूक्ष्म जीवों की दया किस जीवन में कितनी शक्य है ? भिक्षुओं के लिए कौन–कौन–से पदार्थ अकल्प्य हैं ? शरीर–सत्कार का त्याग क्यों करना चाहिए ?

७. वाक्य शुद्धिः–

वचन शुद्धि की आवश्यकता, वाणी क्या चीज है ? वाणी के अतिव्यय से हानि, भाषा के व्यावहारिक प्रकार, उनमें से कौन–कौन सी भाषाएं वर्ज्य हैं और किसलिये ? कैसी सत्य वाणी बोलनी चाहिए ? किसी का दिल न दुःखे और व्यवहार भी चलता रहे तथा संयमी जीवन में बाधक न हो, ऐसी विवेकपूर्ण वाणी का उपयोग।

८. आचरण प्रणिधिः–

सद्गुणों की सच्ची लगन किसे लगती है ? सदाचार मार्ग की कठिनता, साधक भिन्न–भिन्न कठिनताओं को किस प्रकार पार करे ? क्रोधादि आत्मरिपुओं को किस प्रकार जीता जाय ? मानसिक, वाचिक, तथा कायिक ब्रह्मचर्य्य की रक्षा। अभिमान कैसे दूर किया जाय ? ज्ञान का सदुपयोग। साधु को आदरणीय एवं त्याज्य क्रियाएं, साधु जीवन की समस्याएं और उनका निराकरण।

९. विनय समाधिः–

प्रथम उद्देशकः–विनय की व्यापक व्याख्या, गुरुकुल में गुरुदेव के प्रति श्रमण साधक सदा भक्तिभाव रक्खे। अविनीत साधक अपना पतन स्वयमेव किस तरह करता है ? गुरु को वय अथवा ज्ञान में छोटा जान कर उनकी अविनय करने का भयंकर परिणाम। ज्ञानी साधक के लिये भी गुरुभक्ति की आवश्यकता, गुरुभक्त शिष्य का विकास। विनीत साधक के विशिष्ट लक्षण।

द्वितीय उद्देशकः–वृक्ष के विकास के समान आध्यात्मिक मार्ग के विकास की तुलना, धर्म से लेकर उसके अन्तिम परिणाम तक का दिग्दर्शन, विनय तथा अविनय के परिणाम। विनय के शत्रुओं का मार्मिक वर्णन।

तृतीय उद्देशकः–पूज्यता की आवश्यकता है क्या ? आदर्श

पूज्यता कौन-सी है ? पूज्यता के लिये आवश्यक गुण। विनीत साधक अपने मन, वचन और काया का कैसा उपयोग करे ?

चतुर्थ उद्देशकः—समाधि की व्याख्या और उसके चार साधन, आदर्श ज्ञान, आदर्श विनय, आदर्श तप और आदर्श आचार की आराधना किस प्रकार की जाय ? उनकी साधना में आवश्यक जागृति।

१०. भिक्षु नामः—

सच्चा त्यागभाव कब पैदा होता है ? कनक तथा कामिनी के त्यागी साधक की जवाबदारी, यति जीवन पालने की प्रतिज्ञाओं पर दृढ़ कैसे रहा जाय ? त्याग का सम्बन्ध बाह्य वेश से नहीं किन्तु आत्मविकास के साथ है। आदर्श भिक्षु की क्रियाएं।

११. रति वाक्य (प्रथम चूलिका):—

गृहस्थ जीवन की अपेक्षा साधु जीवन क्यों महत्वपूर्ण है ? भिक्षु परम पूज्य होने पर भी शासन के नियमों को पालने के लिये बाध्य है। वासनामय संस्कारों का जीवन पर असर, संयम से चलित चित्त रूपी घोड़े को रोकने के अठारह उपाय, संयमी जीवन से पतित साधु की भयंकर परिस्थिति। उनकी भिन्न–भिन्न जीवों के साथ तुलना, पतित साधु का पश्चात्ताप, संयमी के दुःख की क्षण-भंगुरता और भ्रष्ट जीवन की भयंकरता, मन स्वच्छ रखने का उपदेश।

१२. विविक्त चर्य्या (द्वितीय चूलिका):—

एकान्त चर्य्या की व्याख्या, संसार के प्रवाह में बहते हुए जीवों की दशा, इस प्रवाह के विरुद्ध जाने का अधिकारी कौन है ? आदर्श एकचर्य्या तथा स्वच्छन्दी एकचर्य्या की तुलना, आदर्श एकचर्य्या के आवश्यक गुण तथा नियम। एकान्तचर्य्या का रहस्य और उसकी योग्यता का अधिकार, मोक्ष-फल की प्राप्ति।

(३) नन्दी सूत्रः—

नन्दी शब्द का अर्थ मंगल या हर्ष है। हर्ष, प्रमोद और मंगल का कारण होने से और पांच ज्ञान का स्वरूप बताने वाला होने से यह सूत्र नन्दी कहा जाता है। इस सूत्र के कर्त्ता देव–वाचक क्षमा श्रमण कहे जाते हैं। इस सूत्र का एक ही अध्ययन है। इसके आरम्भ में स्थविरावली कही गई है। इसके बाद श्रोताओं के

दृष्टान्त दिए गए हैं। बाद में पांच ज्ञान का स्वरूप प्रतिपादन किया गया है। टीका में औत्पातिकी आदि चारों बुद्धियों की रोचक कथाएं दी गई हैं। द्वादशाङ्ग की हुण्डी और कालिक, उत्कालिक शास्त्रों के नाम भी इसमें दिए गए हैं। यह सूत्र उत्कालिक है।

(४) अनुयोगद्वारः–

अणु अर्थात् संक्षिप्त सूत्र को महान् अर्थ के साथ जोड़ना अनुयोग है अथवा अध्ययन के अर्थ-व्याख्यान की विधि को अनुयोग कहते हैं। जिस प्रकार द्वार, नगर–प्रवेश का साधन है। द्वार न होने से नगर में प्रवेश नहीं हो सकता। एक–दो द्वार होने से नगर दुःख से प्रवेशयोग्य होता है। परन्तु चार द्वार एवं उपद्वार वाले नगर में प्रवेश सुगम है। उसी प्रकार शास्त्र रूपी नगर में प्रवेश करने के भी चार द्वार (साधन) हैं। इन द्वारों एवं उपद्वारों से शास्त्र के जटिल अर्थ में सुगमता के साथ गति हो सकती है। इस सूत्र में शास्त्रार्थ के व्याख्यान की विधि के उपायों का दिग्दर्शन है। इसीलिये इसका नाम अनुयोगद्वार दिया गया है। यों तो सभी शास्त्रों का अनुयोग होता है। परन्तु यहाँ आवश्यकता के आधार से अनुयोगद्वार का वर्णन है। इसमें अनुयोग के मुख्य चार द्वार बताये गये हैं:–

(१) उपक्रम (२) निक्षेप (३) अनुगम (४) नय।

नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से तथा आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता, अर्थाधिकार और समवतार के भेद से उपक्रम के छः भेद हैं। आनुपूर्वी के दस भेद बताये गये हैं। इसी प्रकार नाम के भी एक, दो यावत् दस नाम, इस प्रकार दस भेद हैं। इन नामों में एक–दो आदि भेदों का वर्णन करते हुए स्त्री, पुरुष, नपुंसक लिङ्ग, आगम, लोप, प्रकृति, विकार, छः भाव, सात स्वर, आठ विभक्ति, नव रस आदि का वर्णन है। प्रमाण वर्णन के प्रसंग में व्याकरण के तद्धित, समास आदि का वर्णन दिया गया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव प्रमाण के भेदों का स्वरूप बताते हुए, धान्य का मान, हाथ दण्ड, धनुष आदि का नाप, गुंजा, काकणी, माशे आदि का तोल, अंगुल, नारकादि की अवगाहना, समय, आवलिका, पल्योपम, सागरोपम आदि नरकादि की स्थिति, द्रव्य एवं शरीर का वर्णन, बद्ध, मुक्त, औदारिक, वैक्रियक आदि का अधिकार, प्रत्यक्ष अनुमान, आगम, उपमान प्रमाण, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, गुण प्रमाण,

नय प्रमाण, संख्या प्रमाण आदि अनेक विषयों का वर्णन है। इसमें संख्य, असंख्य और अनन्त संख्याओं का अधिकार भी है। आगे वक्तव्यता, अर्थाधिकार और समवतार का वर्णन दिया गया है। बाद में अनुयोग के शेष द्वार, निक्षेप, अनुगम और नयों का वर्णन है। यह सूत्र उत्कालिक है।

२०५-छेद सूत्र चारः-

(१) दशाश्रुत स्कंध (२) वृहत्कल्प सूत्र
(३) निशीथ सूत्र (४) व्यवहार सूत्र

(१) दशाश्रुत स्कंधः—इस सूत्र का विषय यों तो अन्य सूत्रों में प्रतिपादित है। फिर भी शिष्यों की सुगमता के लिए प्रत्याख्यान पूर्व से उद्धृत कर, दस अध्ययन रूप इस सूत्र की रचना की गई है। इसके रचयिता भद्र बाहु स्वामी हैं। ऐसा टीकाओं से ज्ञात होता है। इस सूत्र के दस अध्ययन होने से इसका नाम दशाश्रुत स्कन्ध है। पहली दशा में असमाधि के स्थानों का वर्णन है। दूसरी दशा में इक्कीस शबल दोष दिये गये हैं। तीसरी दशा में तेतीस अशातनाएं प्रतिपादित हैं। चौथी दशा में आचार्य्य की आठ सम्पदाओं का वर्णन है और आचार, श्रुत, विक्षेपणा एवं दोष निर्घातन रूप चार विनय तथा चार विनय प्रतिपत्ति का कथन है। पांचवीं दशा में दस चित्त समाधि आदि का वर्णन है। छठी दशा में श्रावक की ग्यारह प्रतिमाएं और सातवीं दशा में साधु की बारह प्रतिमायें तथा प्रतिमाधारी साधु के कर्तव्याकर्तव्य वर्णित हैं। आठवीं दशा में पंच कल्याण का वर्णन दिया गया है। नवमी दशा में तीस महा मोहनीय कर्म के बोल और उनके त्याग का उपदेश है। दशवीं दशा में नव निदान (नियाणा) का सविस्तार वर्णन एवं निदान न करने का उपदेश है। यह कालिक सूत्र है।

(२) वृहत्कल्प सूत्र—कल्प शब्द का अर्थ मर्यादा है। साधु धर्म की मर्यादा का प्रतिपादक होने से यह वृहत्कल्प के नाम से कहा जाता है। पाप का विनाशक, उत्सर्ग अपवाद रूप मार्गों का दर्शक, साधु के विविध आचार का प्ररूपक, इत्यादि अनेक बातों को बतलाने वाला होने से इसे वृहत्कल्प कहा जाता है। इसमें आहार, उपकरण क्रिया—क्लेश, गृहस्थों के यहाँ जाना, दीक्षा, प्रायश्चित्त, परिहार विशुद्धि चारित्र, दूसरे गच्छ में जाना, विहार, वाचना

स्थानक, सहाय देना और समझाना, इत्यादि विषयक साध्वाचार का कथन है। यह कालिक सूत्र है।

(३) निशीथ सूत्र–निशीथ शब्द का अर्थ है प्रच्छन्न अर्थात् छिपा हुआ। इस शास्त्र में सब को न बतानेयोग्य बातों का वर्णन है। इसलिए इस सूत्र का नाम निशीथ है। अथवा जिस प्रकार निशीथ अर्थात् कतक वृक्ष के फल को पानी में डालने से मैल नीचे बैठ जाता है, उसी प्रकार इस शास्त्र के अध्ययन से भी आठ प्रकार के कर्म रूप पंक का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाता है। इसलिए इसे निशीथ कहते हैं। यह सूत्र नववें प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु के बीसवें प्राभृत से उद्धृत किया गया है। इस सूत्र में बीस उद्देशे हैं। पहले उद्देशे में गुरु मासिक प्रायश्चित्त, दूसरे से पांचवें उद्देशे तक लघु मासिक प्रायश्चित्त, छठे से ग्यारहवें उद्देशे तक गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त, बारहवें से उन्नीसवें उद्देशे तक लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का वर्णन है। बीसवें उद्देशे में प्रायश्चित्त की विधि बतलाई गई है। यह कालिक सूत्र है।

(४) व्यवहार सूत्रः–जिसे जो प्रायश्चित्त आता है, उसे वह प्रायश्चित्त देना व्यवहार है। इस सूत्र में प्रायश्चित का वर्णन है। इसलिए इस सूत्र को व्यवहार सूत्र कहते हैं। इस सूत्र में दस उद्देशे हैं। पहले उद्देशे में निष्कपट और सकपट आलोचना का प्रायश्चित्त, प्रायश्चित्त के भांगे, एकल विहारी साधु, शिथिल होकर वापिस गच्छ में आने वाले, गृहस्थ होकर पुनः साधु बनने वाले, परमत का परिचय करने वाले, आलोचना सुनने के अधिकारी, इत्यादि विषयों का वर्णन है। दूसरे उद्देशे में दो या अधिक समान समाचारी वाले दोषी साधुओं की शुद्धि, सदोषी, रोगी, आदि की वैयावृत्य, अनवस्थितादि का पुनः संयमारोपण, अभ्याख्यान चढ़ाने वाले, गच्छ को त्याग कर फिर गच्छ में आने वाले, एक पाक्षिक साधु और साधुओं का परस्पर संभोग इत्यादि विषयक वर्णन है। तीसरे उद्देशे में गच्छाधिपति होने वाले साधु, पदवीधारक के आचार, थोड़े काल के दीक्षित की पदवी, युवा साधु को आचार्य्य, उपाध्याय आदि से अलग रहने का निषेध, गच्छ में रहकर तथा छोड़कर अनाचार सेवन करने वाले को सामान्य साधु एवं पदवीधारी को पद देने बाबत काल मर्यादा के साथ विधि निषेध, मृषावादी को पद देने का निषेध आदि का वर्णन है।

चौथे उद्देशे में आचार्य्य आदि पदवीधारक का परिवार एवं ग्रामानुग्राम विचरते हुए उनका परिवार, आचार्य्य आदि की मृत्यु पर आचार्य्य आदि स्थापन कर रहना, न रहने पर दोष, युवाचार्य्य की स्थापना, भोगावली कर्म उपशमाने, बड़ी दीक्षा देना, ज्ञानादि के निमित्त अन्य गच्छ में जाना, स्थविर की आज्ञा बिना विचरने का निषेध, गुरु को कैसे रहना, दो साधुओं के समान होकर रहने का निषेध, आदि बातों का वर्णन है। पांचवें उद्देशे में साध्वी का आचार, सूत्र भूलने पर भी स्थविर को पद की योग्यता, साधु–साध्वी के १२ सम्भोग, प्रायश्चित्त देने के योग्य आचार्य्य आदि एवं साधु–साध्वी के परस्पर वैयावृत्य आदि बातों का वर्णन है। छठे उद्देशे में सम्बन्धियों के यहाँ जाने की विधि, आचार्य्य उपाध्याय के अतिशय, पठित–अपठित साधु सम्बन्धी, खुले एवं ढके स्थानक में रहने की विधि, मैथुन की इच्छा का प्रायश्चित्त, अन्य गच्छ से आये हुए साधु साध्वी इत्यादि विषयक वर्णन है।

सातवें उद्देशे में संभोगी साधु–साध्वी का पारस्परिक आचार, किस अवस्था में किस साधु को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष में विसंभोगी करना, साधु का साध्वी को दीक्षा देना, साधु–साध्वी की आचार भिन्नता, रक्तादि के अस्वाध्याय, साधु–साध्वी को पदवी देने का काल, एकाएक साधु, साध्वी की मृत्यु होने पर साधर्मिक साधुओं का कर्तव्य, साधु के रहने के स्थान को बेचने या भाड़े देने पर शय्यातर सम्बन्धी विवेक, राजा का परिवर्तन होने पर नवीन राज्याधिकारियों से आज्ञा मांगना आदि बातों का वर्णन है।

आठवें उद्देशे में चौमासे के लिए शय्या, पाट, पाटलादि माँगने की विधि, स्थविर की उपाधि, प्रतिहारी पाट पाटले लेने की विधि, भूले उपकरण ग्रहण करने एवं अन्य के लिए उपकरण मांगने की विधि का वर्णन है। नववें उद्देशे में शय्यातर के पाहुँने आदि का आहारादि ग्रहण तथा साधु की प्रतिमाओं की विधि का वर्णन है। दसवें उद्देशे में यवमध्य एवं वज्रमध्य प्रतिमाओं की विधि, पांच व्यवहार, विविध चौभङ्गियें, बालक को दीक्षा देने की विधि, दीक्षा लेने के बाद कब सूत्र पढ़ाना, दस प्रकार की वैयावच्च से महानिर्जरा एवं प्रायश्चित्त का स्पष्टीकरण इत्यादि विषयों का वर्णन है। यह सूत्र कालिक है।

२०६-वाचना के चार पात्रः-

(१) विनीत

(२) क्षीरादि विगयों में आसक्ति न रखने वाला

(३) क्रोध को शान्त करने वाला

(४) अमायी माया-कपट न करने वाला

ये चार व्यक्ति वाचना के पात्र हैं

२०७-वाचना के चार अपात्रः-

(१) अविनीत

(२) विगयों में आसक्ति रखने वाला

(३) अशान्त (क्रोधी)

(४) मायावी (छल करने वाला)

ये चार व्यक्ति वाचना के अयोग्य हैं

२०८-अनुयोग के चार द्वारः-

(१) उपक्रम (२) निक्षेप

(३) अनुगम (४) नय

(१) उपक्रमः-दूर रही हुई वस्तु को विभिन्न प्रतिपादन प्रकारों से समीप लाना और उसे निक्षेपयोग्य करना उपक्रम कहलाता है अथवा प्रतिपाद्य वस्तु को निक्षेपयोग्य करने वाले गुरु के वचनों को उपक्रम कहते हैं।

(२) निक्षेपः-प्रतिपाद्य वस्तु का स्वरूप समझाने के लिए नाम, स्थापना आदि भेदों से स्थापन करना निक्षेप है।

(३) अनुगमः-सूत्र के अनुकूल अर्थ का कथन अनुगम कहलाता है अथवा सूत्र का व्याख्यान करने वाला वचन अनुगम कहलाता है।

(४) नयः-अनन्त धर्म वाली वस्तु के अनन्त धर्मों में से इतर धर्मों में उपेक्षा रखते हुए विवक्षित धर्म रूप एकांश को ग्रहण करने वाला ज्ञान नय कहलाता है।

निक्षेप की योग्यता को प्राप्त वस्तु का निक्षेप किया जाता है। इसलिए निक्षेप की योग्यता कराने वाला उपक्रम प्रथम दिया गया है और उसके बाद निक्षेप। नामादि भेदों से व्यवस्थापित पदार्थों का ही व्याख्यान होता है। इसलिए निक्षेप के बाद अनुगम दिया गया है। व्याख्यात वस्तु ही नयों से विचारी जाती है, इसलिए अनुगम के पश्चात् नय दिया गया है। इस प्रकार अनुयोग

व्याख्यान का क्रम होने से प्रस्तुत चारों द्वारों का उपर्युक्त क्रम दिया गया है।

(अनुयोगद्वार, सूत्र ५६)

२०६-निक्षेप चारः-

यावन् मात्र पदार्थों के जितने निक्षेप हो सकें, उतने ही करने चाहिए। यदि विशेष निक्षेप करने की शक्ति न हो तो चार निक्षेप तो अवश्य करने चाहियें। ये चार भेद नीचे दिये जाते हैं:-

(१) नाम निक्षेप (२) स्थापना निक्षेप
(३) द्रव्य निक्षेप (४) भाव निक्षेप

नाम निक्षेपः-लोक व्यवहार चलाने के लिए किसी दूसरे गुणादि निमित्त की अपेक्षा न रखकर, किसी पदार्थ की कोई संज्ञा रखना नाम निक्षेप है। जैसे-किसी बालक का नाम महावीर रखना। यहाँ बालक में वीरता आदि गुणों का ख्याल किए बिना ही 'महावीर' शब्द का संकेत किया गया है। कई नाम गुण के अनुसार भी होते हैं। परन्तु नाम निक्षेप गुण की अपेक्षा नहीं करता।

स्थापना निक्षेपः-प्रतिपाद्य वस्तु के सदृश अथवा विसदृश आकार वाली वस्तु में प्रतिपाद्य वस्तु की स्थापना करना, स्थापना निक्षेप कहलाता है। जैसे-जम्बू द्वीप के चित्र को जम्बू द्वीप कहना या शतरंज के मोहरों को हाथी, घोड़ा, वजीर आदि कहना।

द्रव्य निक्षेपः-किसी पदार्थ के भूत और भविष्यत्कालीन पर्याय के नाम का वर्तमान काल में व्यवहार करना द्रव्य निक्षेप है। जैसे-राजा के मृतक शरीर में "यह राजा है" इस प्रकार भूत-कालीन राजा पर्याय का व्यवहार करना, अथवा भविष्य में राजा होने वाले युवराज को राजा कहना।

कोई शास्त्रादि का ज्ञाता जब उस शास्त्र के उपयोग से शून्य होता है, तब उसका ज्ञान द्रव्य ज्ञान कहलायेगा।

"अनुपयोगो द्रव्यमिति वचनात्"

अर्थात् उपयोग न होना द्रव्य है। जैसे-सामायिक का ज्ञाता जिस समय सामायिक के उपयोग से शून्य है, उस समय उसका सामायिक ज्ञान, द्रव्य सामायिक ज्ञान कहलायेगा।

भाव निक्षेपः-पर्याय के अनुसार वस्तु में शब्द का प्रयोग करना

भाव निक्षेप है। जैसे–राज्य करते हुए मनुष्य को राजा कहना। सामायिक के उपयोग वाले को सामायिक का ज्ञाता कहना।

(अनुयोगद्वार सूत्र निक्षेपाधिकार)

(न्यायप्रदीप)

२१०-वस्तु के स्व पर चतुष्टय के चार भेदः-

(१) द्रव्य (२) क्षेत्र (३) काल (४) भाव

जैन दर्शन अनेकान्त दर्शन है। इसके अनुसार वस्तु में अनेक धर्म रहते है एवं अपेक्षा–भेद से परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों का भी एक ही वस्तु में सामञ्जस्य होता है। जैसे–अस्तित्व और नास्तित्व। ये दोनों धर्म यों तो परस्पर विरुद्ध हैं। परन्तु अपेक्षा–भेद से एक ही वस्तु में सिद्ध हैं। जैसे–घट पदार्थ स्व चतुष्टय की अपेक्षा अस्ति धर्म वाला है और पर चतुष्टय की अपेक्षा नास्ति धर्म वाला है। स्व चतुष्टय से वस्तु के निजी द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव लिए जाते हैं और पर चतुष्टय से परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव लिये जाते हैं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सामान्य व्याख्या सोदाहरण निम्न प्रकार हैः–

द्रव्यः–गुणों के समूह को द्रव्य कहते हैं–जैसे–जड़ता आदि घट के गुणों के समूह रूप से घट है। परन्तु चैतन्य आदि जीव के गुणों के समूह रूप से वह नहीं है। इस प्रकार घट स्व द्रव्य की अपेक्षा से अस्ति धर्म वाला है एवं पर द्रव्य (जीव द्रव्य) की अपेक्षा वह नास्ति धर्म वाला है।

क्षेत्रः–निश्चय से द्रव्य के प्रदेशों को क्षेत्र कहते हैं। जैसे–घट के प्रदेश घट का क्षेत्र हैं और जीव के प्रदेश जीव का क्षेत्र हैं। घट अपने प्रदेशों में रहता है इसलिए वह स्व क्षेत्र की अपेक्षा सत् एवं जीव प्रदेशों में न रहने से जीव के क्षेत्र की अपेक्षा से असत् है। व्यवहार में वस्तु के आधारभूत आकाश प्रदेशों को जिन्हें वह अवगाहती है, क्षेत्र कहते हैं। जैसे–व्यवहार दृष्टि से क्षेत्र की अपेक्षा घट अपने क्षेत्र में रहता है। पर क्षेत्र की अपेक्षा जीव के क्षेत्र में वह नहीं रहता है।

कालः–वस्तु के परिणमन को काल कहते हैं। जैसे–घट स्वकाल से वसन्त ऋतु का है और शिशर ऋतु का नहीं है।

भावः–वस्तु के गुण या स्वभाव को भाव कहते हैं। जैसे–घट स्वभाव की अपेक्षा से जलधारण स्वभाव वाला है। किन्तु वस्त्र की तरह आवरण स्वभाव वाला नहीं है अथवा घटत्व की अपेक्षा सद् रूप और पटत्व की अपेक्षा असद्रूप है।

इस प्रकार प्रत्येक वस्तु स्व चतुष्टय की अपेक्षा सद्रूप एवं पर चतुष्टय की अपेक्षा असद्रूप है।

(न्यायप्रदीप, अध्याय ७)

(रत्नाकरावतारिका, परिच्छेद ४, सूत्र १५ की टीका)

२११-अनुयोग के चार भेदः-

(१) चरण करणानुयोग (२) धर्म कथानुयोग
(३) गणितानुयोग (४) द्रव्यानुयोग

चरण करणानुयोगः–व्रत, श्रमण धर्म, संयम, वैयावृत्य, गुप्ति, क्रोधनिग्रह आदि चरण हैं। पिण्ड विशुद्धि, समिति, पडिमा आदि करण हैं। चरण करण का वर्णन करने वाले आचाराङ्गादि शास्त्रों को चरण करणानुयोग कहते हैं।

धर्म कथानुयोगः–धर्म कथा का वर्णन करने वाले ज्ञाताधर्मकथाङ्ग, उत्तराध्ययन आदि शास्त्र धर्म कथानुयोग हैं।

गणितानुयोगः–सूर्यप्रज्ञप्ति आदि गणित प्रधान शास्त्र गणितानुयोग कहलाते हैं।

द्रव्यानुयोगः–द्रव्य, पर्याय आदि का व्याख्यान करने वाले दृष्टिवाद आदि द्रव्यानुयोग हैं।

(दशवैकालिक सूत्र सटीक, पृष्ठ ३, निर्युक्ति गाथा ३)

२१२-काव्य के चार भेदः-

(१) गद्य (२) पद्य (३) कथ्य (४) गेय

गद्यः–जो काव्य छन्दबद्ध न हो वह गद्य काव्य है।

पद्यः–छन्दबद्ध काव्य पद्य है।

कथ्यः–कथा प्रधान काव्य कथ्य है।

गेयः–गायन के योग्य काव्य को गेय कहते हैं।

कथ्य और गेय काव्य का गद्य और पद्य में समावेश हो जाने पर भी कथा और गान धर्म की प्रधानता होने से ये अलग गिनाए गए हैं।

(ठाणांग ४, सूत्र ३७६)

२१३-चार शुभ और चार अशुभ गणः-

तीन अक्षर के समूह को गण कहते हैं। आदि, मध्य और अन्त अक्षरों के गुरु–लघु के विचार से गणों के आठ भेद हैं।

नीचे लिखे सूत्र से आठ गण सरलता से याद किए जा सकते हैं।

"य मा ता रा ज भा न स ल ग म्"

य (यगण) मा (मगण)

ता (तगण) रा (रगण)

ज (जगण) भा (भगण)

न (नगण) स (सगण)

ये आठ गण हैं।

'ल' लघु के लिए और 'ग' गुरु के लिए है।

जिस गण को जानना हो, ऊपर के सूत्र में गण के अक्षर के साथ आगे के दो और अक्षर मिलाने से वह गण बन जायगा। जैसे–यगण पहचानने के लिए 'य' के आगे के दो अक्षर और मिलाने से यमाता हुआ। इसमें 'य' लघु है, 'मा' और 'ता' गुरु हैं। अर्थात् आदि अक्षर के लघु और शेष दो अक्षरों के गुरु होने से यगण (।SS) होता है।

यदि नगण जानना हो, तो न के आगे के दो अक्षर "स ल" मिलाने से "नसल" हुआ अर्थात् जिसमें तीनों अक्षर लघु हों, वह नगण जानना चाहिए।

संक्षेप में यों कह सकते हैं कि भगण में आदि गुरु, जगण में मध्य गुरु और सगण में अन्त गुरु और शेष अक्षर लघु होते हैं। (S) यह निशान गुरु का है और (।) यह निशान लघु का है। जैसेः–

भगण S।। यथाः–भारत

जगण ।S। यथाः–बरात

सगण ।।S यथाः–भरती

यगण में आदि लघु, रगण में मध्य लघु और तगण में अन्त लघु और शेष अक्षर गुरु होते हैंः–

यगण ।SS यथाः–बराती

रगण S।S यथाः–भारती

तगण SS। यथाः–मायालु

मगण में तीनों अक्षर गुरु और नगण में तीनों अक्षर लघु होते हैं। जैसे:—

मगण SSS यथा:—जामाता

नगण ||| यथा:—भरत

संक्षेप में इन आठ गणों का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है। यथा:—

आदिमध्यावसानेषु, भजसा यान्ति गौरवम्।
यरता लाघवं यान्ति, मनौ तु गुरुलाघवम्।।१।।

अर्थात्:—भगण, जगण और सगण, आदि मध्य और अवसान (अन्त) में गुरु होते हैं और यगण, रगण और तगण आदि मध्य, अवसान में लघु होते हैं। मगण सर्व गुरु और नगण सर्व लघु होता है।

पिङ्गल शास्त्र के अनुसार इन आठ गणों में यगण, मगण, भगण, और नगण ये शुभ और जगण, रगण, सगण और तगण ये अशुभ माने गये हैं।

(सरल पिङ्गल)

२१४-चार इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं:-

विषय को प्राप्त करके अर्थात् विषय से सम्बद्ध हो कर उसे जानने वाली इन्द्रियां प्राप्यकारी कहलाती हैं।

प्राप्यकारी इन्द्रियां चार हैं:—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय (२) घ्राणेन्द्रिय
(३) रसनेन्द्रिय (४) स्पर्शनेन्द्रिय

(ठाणांग ४, सूत्र ३३६)

नोट—वैशेषिक, नैयायिक, मीमांसक और सांख्य दर्शन सभी इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं। बौद्ध दर्शन में श्रोत्र और चक्षु अप्राप्यकारी, और शेष तीन इन्द्रियाँ प्राप्यकारी मानी गई हैं। जैन दर्शन के अनुसार चक्षु अप्राप्यकारी और शेष चार इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं।

(रत्नाकरावतारिका, परिच्छेद २)

२१५-ध्यान की व्याख्या और भेद:-

ध्यान:—एक लक्ष्य पर चित्त को एकाग्र करना ध्यान है।

अथवा छद्मस्थों का अन्तर्मुहूर्त्त परिमाण एक वस्तु में चित्त को

स्थिर रखना ध्यान कहलाता है। एक वस्तु से दूसरी वस्तु में ध्यान के संक्रमण होने पर ध्यान का प्रवाह चिर काल तक भी हो सकता है। जिन भगवान् का तो योगों का निरोध करना ध्यान कहलाता है। ध्यान के चार भेद हैं:–

(१) आर्त्तध्यान (२) रौद्रध्यान

(३) धर्मध्यान (४) शुक्लध्यान

(१) आर्त्तध्यान–ऋत अर्थात् दुःख के निमित्त या दुःख में होने वाला ध्यान आर्त्तध्यान कहलाता है अथवा आर्त्त अर्थात् दुःखी प्राणी का ध्यान आर्त्तध्यान कहलाता है।

(ठाणांग ४, सूत्र २४७)

अथवा:–

मनोज्ञ वस्तु के वियोग एवं अमनोज्ञ वस्तु के संयोग आदि कारण से चित्त की घबराहट आर्त्तध्यान है।

(समवायांग सूत्र, समवाय ४)

अथवा:–

जीव मोहवश राज्य का उपभोग, शयन, आसन, वाहन, स्त्री, गंध, माला, मणि, रत्न विभूषणों में जो अतिशय इच्छा करता है, वह आर्त्तध्यान है।

(दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन १ की टीका)

(२) रौद्रध्यान:–हिंसा, झूठ, चोरी, धन रक्षा में मन को जोड़ना रौद्रध्यान है।

(समवायांग सूत्र, ४ समवाय)

अथवा:–

हिंसादि विषय का अतिक्रूर परिणाम रौद्रध्यान है।

(ठाणांग ४, सूत्र २४७)

अथवा:–

हिंसोन्मुख आत्मा द्वारा प्राणियों को रुलाने वाले व्यापार का चिन्तन करना रौद्रध्यान है।

(प्रवचन सारोद्धार)

अथवा:–

छेदना, भेदना, काटना, मारना, वध करना, प्रहार करना, दमन करना, इनमें जो राग करता है और जिसमें अनुकम्पा भाव नहीं है,

उस पुरुष का ध्यान रौद्रध्यान कहलाता है।

(दशवैकालिक अध्ययन १ टीका)

(३) धर्मध्यानः—धर्म अर्थात् आज्ञादि पदार्थ स्वरूप के पर्यालोचन में मन को एकाग्र करना धर्मध्यान है।

(समवायांग सूत्र, समवाय ४)

अथवाः—

श्रुत और चारित्र धर्म से सहित ध्यान धर्मध्यान कहलाता है।

(ठाणांग ४, सूत्र २४७)

अथवाः—

सूत्रार्थ की साधना करना, महाव्रतों को धारण करना, बन्ध और मोक्ष तथा गति—आगति के हेतुओं का विचार करना, पञ्च इन्द्रियों के विषय से निवृत्ति और प्राणियों में दया भाव, इनमें मन की एकाग्रता का होना धर्मध्यान है।

(दशवैकालिक अध्ययन १ टीका)

अथवाः—

जिन भगवान् और साधु के गुणों का कथन करने वाला, उनकी प्रशंसा करने वाला, विनीत, श्रुतिशील और संयम में अनुरक्त आत्मा धर्मध्यानी है। उसका ध्यान धर्मध्यान कहलाता है।

(आवश्यक अध्ययन ४)

(४) शुक्ल ध्यानः—पूर्व विषयक श्रुत के आधार से मन की अत्यन्त स्थिरता और योग का निरोध शुक्लध्यान कहलाता है।

(समवायांग सूत्र, समवाय ४)

अथवाः—

जो ध्यान आठ प्रकार के कर्म मल को दूर करता है अथवा जो शोक को नष्ट करता है, वह ध्यान शुक्ल ध्यान है।

(ठाणांग ४, सूत्र २४७)

पर—अवलम्बन बिना शुक्ल—निर्मल आत्मस्वरूप का तन्मयता—पूर्वक चिन्तन करना शुक्लध्यान कहलाता है।

(आगमसार)

अथवाः—

जिस ध्यान में विषयों का सम्बन्ध होने पर भी वैराग्य बल से चित्त बाहरी विषयों की ओर नहीं जाता तथा शरीर का छेदन—भेदन

होने पर भी स्थिर हुआ चित्त ध्यान से लेश मात्र भी नहीं डिगता, उसे शुक्ल ध्यान कहते हैं।

(कर्त्तव्य कौमुदी, दूसरा भाग, श्लोक २११)

२१६-आर्त्तध्यान के चार प्रकारः-

(१) अमनोज्ञ वियोग चिन्ताः—अमनोज्ञ शब्द, रूप, गंध, रस, स्पर्श, विषय एवं उनकी साधनभूत वस्तुओं का संयोग होने पर उनके वियोग की चिन्ता करना तथा भविष्य में भी उनका संयोग न हो, ऐसी इच्छा रखना, आर्त्त ध्यान का प्रथम प्रकार है। इस आर्त्तध्यान का कारण द्वेष है।

(२) रोग चिन्ताः—शूल, सिर दर्द आदि रोग आतङ्क के होने पर उनकी चिकित्सा में व्यग्र प्राणी का उनके वियोग के लिए चिन्तन करना तथा रोगादि के अभाव में भविष्य के लिए रोगादि के संयोग न होने की चिन्ता करना आर्त्तध्यान का दूसरा प्रकार है।

(३) संयोग चिन्ता मनोज्ञः—पांचों इन्द्रियों के विषय एवं उनके साधन, रूप, स्व, माता, पिता, भाई, स्वजन, स्त्री, पुत्र और धन, तथा साता वेदना के संयोग में, उनका वियोग न होने का अध्यवसाय करना तथा भविष्य में भी उनके संयोग की इच्छा करना आर्त्तध्यान का तीसरा प्रकार है। राग इसका मूल कारण है।

(४) निदान (नियाणा):—देवेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव के रूप गुण और ऋद्धि को देख या सुन कर उनमें आसक्ति लाना और यह सोचना कि मैंने जो तप, संयम आदि धर्मकृत्य किये हैं, उनके फलस्वरूप मुझे भी उक्त गुण एवं ऋद्धि प्राप्त हो। इस प्रकार अधम निदान की चिन्ता करना आर्त्तध्यान का चौथा प्रकार है। इस आर्त्तध्यान का मूल कारण अज्ञान है। क्योंकि अज्ञानियों के सिवा औरों को सांसारिक सुखों में आसक्ति नहीं होती। ज्ञानी पुरुषों के चित्त में तो सदा मोक्ष की लगन बनी रहती है।

राग–द्वेष और मोह से युक्त प्राणी का यह चार प्रकार का आर्त्त ध्यान संसार को बढ़ाने वाला और सामान्यतः तिर्यञ्च गति में ले जाने वाला है।

(ठाणांग ४, सूत्र २४७) (आवश्यक अध्ययन ४)

२१७-आर्त्तध्यान के चार लिङ्गः-

(१) आक्रन्दन (२) शोचन

(३) परिदेवना (४) तेपनता

ये चार आर्त्तध्यान के चिह्न हैं।

ऊँचे स्वर से रोना और चिल्लाना आक्रन्दन है।

आंखों में आंसू लाकर दीनभाव धारण करना शोचन है।

बार–बार क्लिष्ट भाषण करना, विलाप करना परिदेवना है।

आंसू गिराना तेपनता है।

इष्ट वियोग, अनिष्ट संयोग और वेदना के निमित्त से ये चार चिह्न आर्त्तध्यानी के होते हैं।

(आवश्यक अध्ययन ४) (ठाणांग ४, उद्देशा १, सूत्र २४७)

(भगवती शतक २५, उद्देशा ७)

२१८-रौद्रध्यान के चार प्रकारः-

(१) हिंसानुबन्धी (२) मृषानुबन्धी

(३) चौर्य्यानुबन्धी (४) संरक्षणानुबन्धी

हिंसानुबन्धीः–प्राणियों को चाबुक, लात आदि से मारना, कील आदि से नाक वगैरह बींधना, रस्सी, जंजीर आदि से बांधना, अग्नि में जलाना, डाम लगाना, तलवार आदि से प्राण वध करना अथवा उपर्युक्त व्यापार न करते हुए भी क्रोध के वश होकर निर्दयतापूर्वक निरन्तर इन हिंसाकारी व्यापारों को करने का चिन्तन करना हिंसानुबन्धी रौद्रध्यान है।

मृषानुबन्धीः–मायावी–दूसरों को ठगने की प्रवृत्ति करने वाले तथा छिप कर पापाचरण करने वाले पुरुषों के अनिष्टसूचक वचन, असभ्य वचन, असत् अर्थ का प्रकाशन, सत् अर्थ का अपलाप, एवं एक के स्थान पर दूसरे पदार्थ आदि का कथन रूप असत्य वचन, एवं प्राणियों के उपघात करने वाले वचन कहना या कहने का निरन्तर चिन्तन करना मृषानुबन्धी रौद्रध्यान है।

चौर्य्यानुबन्धीः–तीव्र क्रोध एवं लोभ से व्यग्र चित्त वाले पुरुष की प्राणियों के उपघातक, अनार्य काम जैसे–परद्रव्य हरण आदि में निरन्तर चित्तवृत्ति का होना, चौर्य्यानुबन्धी रौद्रध्यान है।

संरक्षणानुबन्धीः–शब्दादि पांच विषय के साधन रूप धन की रक्षा करने की चिन्तना करना, एवं न मालूम दूसरा क्या करेगा, इस आशंका से दूसरों का उपघात करने की कषायमयी चित्तवृत्ति रखना संरक्षणानुबन्धी रौद्रध्यान है।

हिंसा, मृषा, चौर्य, एवं संरक्षण स्वयं करना, दूसरों से कराना एवं करते हुए की अनुमोदना (प्रशंसा) करना, इन तीनों कारण विषयक चिन्तना करना रौद्रध्यान है। राग–द्वेष एवं मोह से आकुल जीव के यह चारों प्रकार का रौद्रध्यान होता है। यह ध्यान संसार बढ़ाने वाला एवं नरक गति में ले जाने वाला है।

(ठाणांग ४, सूत्र २४७)

२१६-रौद्रध्यान के चार लक्षणः-

(१) ओसन्न दोष (२) बहुदोष (बहुलदोष)
(३) अज्ञान दोष (नानादोष) (४) आमरणान्त दोष

(१) ओसन्न दोषः–रौद्रध्यानी हिंसादि से निवृत्त न होने से बहुलतापूर्वक हिंसादि में से किसी एक में प्रवृत्ति करता है। यह ओसन्न दोष है।

(२) बहुल दोषः–रौद्रध्यानी सभी हिंसादि दोषों में प्रवृत्ति करता है। यह बहुल दोष है।

(३) अज्ञान दोषः–अज्ञान से कुशास्त्र के संस्कार से नरकादि के कारण अधर्म स्वरूप हिंसादि में धर्म बुद्धि से उन्नति के लिए प्रवृत्ति करना अज्ञान दोष है।

अथवाः–

नानादोष–विविध हिंसादि के उपायों में अनेक बार प्रवृत्ति करना नानादोष है।

(४) आमरणान्त दोषः–मरणपर्यन्त क्रूर हिंसादि कार्यों में अनुताप (पछतावा) न होना, एवं हिंसादि में प्रवृत्ति करते रहना आमरणान्त दोष है। जैसे–काल सौकरिक कसाई।

(ठाणांग ४, सूत्र २४७)

(भगवती शतक २५, उद्देशा ७)

कठोर एवं संक्लिष्ट परिणाम वाला रौद्रध्यानी दूसरे के दुःख से प्रसन्न होता है। ऐहिक एवं पारलौकिक भय से रहित होता है। उसके मन में अनुकम्पा भाव लेशमात्र भी नहीं होता। अकार्य करके भी इसे पश्चाताप नहीं होता। पाप करके भी वह प्रसन्न होता है।

(आवश्यक अध्ययन ४)

२२०-धर्मध्यान के चार प्रकारः-

(१) आज्ञा विचय (२) अपाय विचय

(३) विपाक विचय (४) संस्थान विचय

(१) आज्ञा विचय–सूक्ष्म तत्त्वों के उपदर्शक होने से अति निपुण, अनादि अनन्त, प्राणियों के वास्ते हितकारी, अनेकान्त का ज्ञान कराने वाली, अमूल्य, अपरिमित, जैनेतर प्रवचनों से अपराभूत, महान् अर्थवाली, महाप्रभावशाली एवं महान् विषय वाली, निर्दोष, नयभंग एवं प्रमाण से गहन, अतएव अकुशल जनों के लिए दुर्ज्ञेय ऐसी जिनाज्ञा (जिन प्रवचन) को सत्य मान कर उस पर श्रद्धा करे एवं उसमें प्रतिपादित तत्त्वों का चिन्तन और मनन करे। वीतराग के प्रतिपादित तत्त्व के रहस्य को समझाने वाले, आचार्य्य महाराजा के न होने से, ज्ञेय की गहनता से अर्थात् ज्ञानावरणीय कर्म के उदय से और मति दौर्बल्य से जिन प्रवचन प्रतिपादित तत्त्व सम्यग् रूप से समझ में न आवे अथवा किसी विषय में हेतु उदाहरण के संभव न होने से वह बात समझ में न आवे तो यह विचार करे कि ये वचन वीतराग, सर्वज्ञ भगवान् श्री जिनेश्वर द्वारा कथित हैं। इसलिए सर्व प्रकारेण सत्य ही हैं। इसमें सन्देह नहीं। अनुपकारी जन के उपकार में तत्पर रहने वाले, जगत में प्रधान, त्रिलोक एवं त्रिकाल के ज्ञाता, राग–द्वेष और मोह के विजेता श्री जिनेश्वर देव के वचन सत्य ही होते हैं क्योंकि उनके असत्य कथन का कोई कारण ही नहीं है। इस तरह भगवद्–भाषित प्रवचन का चिंतन तथा मनन करना एवं गूढ़ तत्त्वों के विषयों में सन्देह न रखते हुए उन्हें दृढ़तापूर्वक सत्य समझना और वीतराग के वचनों में मन को एकाग्र करना आज्ञाविचय नामक धर्मध्यान है।

(२) अपाय विचय, राग, द्वेष, कषाय, मिथ्यात्व, अविरति आदि आश्रव एवं क्रियाओं से होने वाले ऐहिक–पारलौकिक कुफल और हानियों का विचार करना। जैसे कि–महाव्याधि से पीड़ित पुरुष को अपथ्य अन्न की इच्छा जिस प्रकार हानिप्रद है, उसी प्रकार प्राप्त हुआ राग भी जीव के लिए दुःखदायी होता है।

प्राप्त हुआ द्वेष भी प्राणी को उसी प्रकार तपा देता है जैसे–कोटर में रही हुई अग्नि वृक्ष को शीघ्र ही जला डालती है।

सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग देव ने दृष्टि राग आदि भेदों वाले राग का फल परलोक में दीर्घ संसार बतलाया है।

द्वेषरूपी अग्नि से संतप्त जीव इस लोक में भी दुःखित रहता

है और परलोक में भी वह पापी नरकाग्नि में जलता है।

वश में न किये हुए क्रोध और मान एवं बढ़ते हुए माया और लोभ–ये चारों कषाय संसार रूपी वृक्ष के मूल का सिंचन करने वाले हैं अर्थात् संसार को बढ़ाने वाले हैं।

प्रशम आदि गुणों से शून्य एवं मिथ्यात्व से मूढ़ मतिवाला पापी जीव इस लोक में ही नरक सदृश दुःखों को पाता है।

क्रोध आदि सभी दोषों की अपेक्षा अज्ञान अधिक दुःखदायी है, क्योंकि अज्ञान से आच्छादित जीव अपने हिताहित को भी नहीं पहिचानता।

प्राणिवध से निवृत्त न होने से जीव यहीं पर अनेक दूषणों का शिकार होता है। उसके परिणाम इतने क्रूर हो जाते हैं कि वह लोकनिन्दित स्वपुत्रवध जैसे जघन्य कृत्य भी कर बैठता है।

इसी प्रकार आश्रव से अर्जित पापकर्मों से जीव चिरकाल तक नरकादि नीच गतियों में भ्रमण करता हुआ अनेक अपायों (दुःखों) का भाजन होता है।

कायिकी आदि क्रियाओं में वर्तमान जीव इस लोक एवं परलोक में दुःखी होते हैं। ये क्रियाएं संसार बढ़ाने वाली कही गई हैं।

इस प्रकार राग, द्वेष, कषाय आदि के अपायों के चिंतन करने में मन को एकाग्र करना अपाय विचय धर्मध्यान है।

इन दोषों से होने वाले कुफल का चिन्तन करने वाला जीव इन दोषों से अपनी आत्मा की रक्षा करने में सावधान रहता है एवं इनसे दूर रहता हुआ आत्मकल्याण का साधन करता है।

(३) विपाक विचय–शुद्ध आत्मा का स्वरूप ज्ञान दर्शन सुख आदि रूप है। फिर भी कर्मवश उसके निज गुण दबे हुए हैं एवं वह सांसारिक सुख–दुःख के द्वन्द में रही हुई चार गतियों में भ्रमण कर रही है। संपत्ति, विपत्ति, संयोग, वियोग आदि से होने वाले सुख–दुःख जीव के पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्म के ही फल हैं। आत्मा ही अपने कृत कर्मों से सुख–दुःख पाता है। स्वोपार्जित कर्मों के सिवा और कोई भी आत्मा को सुख–दुःख देने वाला नहीं है। आत्मा की भिन्न–भिन्न अवस्थाओं में कर्मों के भिन्न–भिन्न फल हैं। इस प्रकार कषाय एवं योगजनित शुभाशुभ कर्म प्रकृति बन्ध, स्थिति बन्ध, अनुभाग बन्ध, प्रदेश बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता

इत्यादि कर्म विषयक चिन्तन में मन को एकाग्र करना विपाक विचय धर्मध्यान है।

(४) संस्थान विचय—धर्मास्तिकाय आदि द्रव्य एवं उनकी पर्याय, जीव—अजीव के आकार, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य, लोक का स्वरूप, पृथ्वी, द्वीप, सागर, नरक, विमान, भवन आदि के आकार, लोक स्थिति, जीव की गति—आगति, जीवन—मरण आदि सभी सिद्धान्त के अर्थ का चिन्तन करे तथा जीव एवं उसके कर्म से पैदा किए हुए जन्म, जरा एवं मरण रूपी जल से परिपूर्ण क्रोधादि कषाय रूप पाताल वाले, विविध दुःख रूपी नक्र मकर से भरे हुए, अज्ञान रूपी वायु से उठने वाली, संयोग—वियोग रूप लहरों सहित इस अनादि अनन्त संसार सागर का चिन्तन करे। इस संसार सागर को तिराने में समर्थ, सम्यग्दर्शन रूपी मजबूत बन्धनों वाली, ज्ञान रूपी नाविक से चलाई जाने वाली चारित्र रूपी नौका है। संवर से निश्छिद्र, तप रूपी पवन से वेग को प्राप्त, वैराग्य मार्ग पर रही हुई एवं अपध्यान रूपी तरंगों से न डिगने वाली बहुमूल्य शील रत्न से परिपूर्ण नौका पर चढ़ कर मुनि रूपी व्यापारी शीघ्र ही, बिना विघ्नों के निर्वाण रूपी नगर को पहुँच जाते हैं। वहाँ पर वे अक्षय, अव्याबाध, स्वाभाविक, निरुपम सुख पाते हैं इत्यादि रूप से सम्पूर्ण जीवादि पदार्थों के विस्तार वाले, सब नय समूह रूप सिद्धान्तोक्त अर्थ के चिन्तन में मन को एकाग्र करना, संस्थान विचय धर्मध्यान है।

(ठाणांग ४, सूत्र २४७) (आवश्यक अध्ययन ४)

(अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग ४, पृष्ठ १६६६ से ६८)

२२१-धर्मध्यान के चार लिङ्गः-

(१) आज्ञा रुचि (२) निसर्ग रुचि

(३) सूत्र रुचि (४) अवगाढ़ रुचि (उपदेश रुचि)

(१) आज्ञा रुचिः—सूत्र में प्रतिपादित अर्थों पर रुचि धारण करना, आज्ञा रुचि है।

(२) निसर्ग रुचिः—स्वभाव से ही, बिना किसी उपदेश के, जिन—भाषित तत्त्वों पर श्रद्धा करना निसर्ग रुचि है।

(३) सूत्र रुचिः—सूत्र अर्थात् आगम द्वारा वीतराग प्ररूपित द्रव्यादि पदार्थों पर श्रद्धा करना, सूत्र रुचि है।

(४) अवगाढ़ रुचि (उपदेश रुचि):—द्वादशाङ्ग का विस्तारपूर्वक

ज्ञान करके जो जिन–प्रणीत भावों पर श्रद्धा होती है, वह अवगाढ़ रुचि है। अथवा साधु के समीप रहने वाले को साधु के सूत्रानुसारी उपदेश से जो श्रद्धा होती है, वह अवगाढ़ रूचि (उपदेश रुचि) है।

तात्पर्य यह है कि तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यक्त्व ही धर्मध्यान का लिङ्ग है।

जिनेश्वर देव एवं साधु मुनिराज के गुणों का कथन करना, भक्तिपूर्वक उनकी प्रशंसा और स्तुति करना, गुरु आदि का विनय करना, दान देना, श्रुत, शील एवं संयम में अनुराग रखना–ये धर्मध्यान के चिह्न हैं। इनसे धर्मध्यानी पहचाना जाता है।

(ठाणांग ४, सूत्र २४७)

(अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग ४, पृष्ठ १६६३)

२२२-धर्मध्यान रूपी प्रासाद (महल) पर चढ़ने के चार आलम्बनः-

(१) वाचना (२) पृच्छना

(३) परिवर्तना (४) अनुप्रेक्षा

(१) वाचना–निर्जरा के लिए शिष्य को सूत्र आदि पढ़ाना वाचना है।

(२) पृच्छना–सूत्र आदि में शङ्का होने पर उसका निवारण करने के लिए गुरु महाराज से पूछना, पृच्छना है।

(३) परिवर्तना–पहले पढ़े हुए सूत्रादि भूल न जाएं इसलिए तथा निर्जरा के लिए उनकी आवृत्ति करना, अभ्यास करना, परिवर्तना है।

(४) अनुप्रेक्षा–सूत्र अर्थ का चिन्तन एवं मनन करना, अनुप्रेक्षा है।

(ठाणांग ४, सूत्र २४७)

२२३-धर्मध्यान की चार भावनाएंः-

(१) एकत्व भावना (२) अनित्यत्व भावना

(३) अशरण भावना (४) संसार भावना

(१) एकत्व भावना–"इस संसार में मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है और न मैं ही किसी का हूँ। ऐसा भी कोई व्यक्ति नहीं दिखाई देता जो भविष्य में मेरा होने वाला हो अथवा मैं जिसका बन सकूँ।" इत्यादि रूप से आत्मा के एकत्व अर्थात् असहायपन की भावना करना एकत्व भावना है।

(२) अनित्य भावना–"शरीर अनेक विघ्न–बाधाओं एवं रोगों का स्थान है, सम्पत्ति–विपत्ति का स्थान है। संयोग के साथ वियोग है। उत्पन्न होने वाला प्रत्येक पदार्थ नश्वर है।" इस प्रकार शरीर,

जीवन तथा संसार के सभी पदार्थों के अनित्य स्वरूप पर विचार करना, अनित्यत्व भावना है।

(३) अशरण भावना–जन्म, जरा, मृत्यु के भय से पीड़ित, व्याधि एवं वेदना से व्यथित इस संसार में आत्मा का त्राण रूप कोई नहीं है। यदि कोई आत्मा का त्राण करने वाला है तो जिनेन्द्र भगवान् का प्रवचन ही एक त्राण शरण रूप है। इस प्रकार आत्मा के त्राण शरण के अभाव की चिन्ता करना, अशरण भावना है।

(४) संसार भावना–इस संसार में माता बन कर वही जीव, पुत्री, बहिन एवं स्त्री बन जाता है और पुत्र का जीव पिता, भाई यहाँ तक कि शत्रु बन जाता है। इस प्रकार चार गति में, सभी अवस्थाओं में संसार के विचित्रतापूर्ण स्वरूप का विचार करना, संसार भावना है।

(ठाणांग ४, सूत्र २४७)

२२४-धर्मध्यान के चार भेदः-

(१) पिण्डस्थ (२) पदस्थ

(३) रूपस्थ (४) रूपातीत

(१) पिण्डस्थ–पार्थिवी, आग्नेयी आदि पांच धारणाओं का एकाग्रता से चिन्तन करना, पिण्डस्थ ध्यान है।

(२) पदस्थ–नाभि में सोलह पांखड़ी के, हृदय में चौबीस पांखड़ी के तथा मुख पर आठ पांखड़ी के कमल की कल्पना करना और प्रत्येक पांखड़ी पर वर्णमाला के अ, आ, इ, ई आदि अक्षरों की अथवा पञ्च परमेष्ठि मंत्र के अक्षरों की स्थापना करके एकाग्रता–पूर्वक उनका चिन्तन करना अर्थात् किसी पद के आश्रित होकर मन को एकाग्र करना, पदस्थ ध्यान है।

(३) रूपस्थ–शास्त्रोक्त अरिहन्त भगवान् की शान्त दशा को हृदय में स्थापित करके, स्थिर चित्त से उसका ध्यान करना, रूपस्थ ध्यान है।

(४) रूपातीत–रूपरहित निरंजन, निर्मल, सिद्ध भगवान् का आलंबन लेकर, उसके साथ आत्मा की एकता का चिन्तन करना, रूपातीत ध्यान है।

(ज्ञानार्णव) (योगशास्त्र)

(कर्त्तव्य कौमुदी भाग २, श्लोक २०८, २०६, पृष्ठ १२७–२८)

२२५-शुक्ल ध्यान के चार भेदः-

(१) पृथक्त्व वितर्क सविचारी
(२) एकत्व वितर्क अविचारी
(३) सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती
(४) समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती

(१) पृथक्त्व वितर्क सविचारी–एक द्रव्य विषयक अनेक पर्यायों का पृथक्–पृथक् रूप से विस्तारपूर्वक पूर्वगत श्रुत के अनुसार द्रव्यार्थिक, पर्यायार्थिक आदि नयों से चिन्तन करना, पृथक्त्व वितर्क सविचारी है। यह ध्यान विचारसहित होता है। विचार का स्वरूप है अर्थ, व्यञ्जन (शब्द) एवं योगों में संक्रमण। अर्थात् इस ध्यान में अर्थ से शब्द में, और शब्द से अर्थ में, और शब्द से शब्द में, अर्थ से अर्थ में एवं एक योग से दूसरे योग में संक्रमण होता है।

पूर्वगत श्रुत के अनुसार विविध नयों से पदार्थों की पर्यायों का भिन्न–भिन्न रूप से चिन्तन रूप यह शुक्ल ध्यान पूर्वधारी को होता है और मरुदेवी माता की तरह जो पूर्वधर नहीं हैं, उन्हें अर्थ, व्यञ्जन एवं योगों में परस्पर संक्रमण रूप यह शुक्लध्यान होता है।

(२) एकत्व वितर्क अविचारी–पूर्वगत श्रुत का आधार लेकर उत्पाद आदि पर्यायों के एकत्व अर्थात् अभेद से किसी एक पदार्थ अथवा पर्याय का स्थिर चित्त से चिन्तन करना, एकत्व वितर्क है। इस ध्यान में अर्थ, व्यञ्जन एवं योगों का संक्रमण नहीं होता। निर्वात गृह में रहे हुए दीपक की तरह, इस ध्यान में चित्त विक्षेप रहित अर्थात् स्थिर रहता है।

(३) सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती–निर्वाण गमन के पूर्व केवली भगवान् मन, वचन, योगों का निरोध कर लेते हैं और अर्द्ध काययोग का भी निरोध कर लेते हैं। उस समय केवली के कायिकी उच्छ्वास आदि सूक्ष्म क्रिया ही रहती है। परिणामों के विशेष बढ़े–चढ़े रहने से यहाँ से केवली पीछे नहीं हटते। यह तीसरा, सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती शुक्लध्यान है।

(४) समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती–शैलेशी अवस्था को प्राप्त केवली सभी योगों का निरोध कर लेता है। योगों के निरोध से सभी क्रियाएं नष्ट हो जाती हैं। यह ध्यान सदा बना रहता है। इसलिए

इसे समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती शुक्लध्यान कहते हैं।

पृथकत्व वितर्क सविचारी शुक्लध्यान सभी योगों में होता है। एकत्व वितर्क अविचार शुक्लध्यान किसी एक ही योग में होता है। सूक्ष्म क्रिया अनिवर्ती शुक्लध्यान केवल काय योग में होता है। चौथा समुच्छिन्न क्रिया अप्रतिपाती शुक्लध्यान अयोगी को ही होता है। छद्मस्थ के मन को निश्चल करना, ध्यान कहलाता है और केवली की काया को निश्चल करना, ध्यान कहलाता है।

(आवश्यक अध्ययन ४) (कर्त्तव्य कौमुदी, भाग २, श्लोक २११–२१६)
(ठाणांग ४, सूत्र २४१) (ज्ञानार्णव)

२२६-शुक्लध्यान के चार लिङ्ग:-

(१) अव्यथ (२) असम्मोह
(३) विवेक (४) व्युत्सर्ग

(१) शुक्लध्यानी परिषह उपसर्गों से डर कर ध्यान से चलित नहीं होता इसलिए वह अव्यथ लिङ्ग वाला है।

(२) शुक्लध्यानी को सूक्ष्म अत्यन्त गहन विषयों में अथवा देवादि कृत माया में सम्मोह नहीं होता इसलिए वह असम्मोह लिङ्ग वाला है।

(३) शुक्लध्यानी आत्मा को देह से भिन्न एवं सर्व संयोगों को आत्मा से भिन्न समझता है इसलिए वह विवेक लिङ्ग वाला है।

(४) शुक्लध्यानी निःसंग रूप से देह एवं उपधि का त्याग करता है इसलिए वह व्युत्सर्ग लिङ्ग वाला है।

(आवश्यक अध्ययन ४) (ठाणांग ४, सूत्र २४७)

२२७-शुक्लध्यान के चार आलम्बन:-

जिन मत में प्रधान क्षमा, मार्दव, आर्जव, मुक्ति इन चारों आलम्बनों से जीव शुक्लध्यान पर चढ़ता है।

क्रोध न करना, उदय में आये हुए क्रोध को दबाना, इस प्रकार क्रोध का त्याग क्षमा है।

मान न करना, उदय में आये हुए मान को विफल करना, इस प्रकार मान का त्याग मार्दव है।

माया न करना, उदय में आई हुई माया को विफल करना, रोकना। इस प्रकार माया का त्याग–आर्जव (सरलता) है।

लोभ न करना, उदय में आये हुए लोभ को विफल करना

(रोकना)। इस प्रकार लोभ का त्याग–मुक्ति (शौच निर्लोभता) है।

(ठाणांग ४, सूत्र २४७) (आवश्यक अध्ययन ४)

(उववाई सूत्र ३०)

२२८-शुक्ल ध्यानी की चार भावनाएं:-

(१) अनन्त वर्तितानुप्रेक्षा (२) विपरिणामानुप्रेक्षा

(३) अशुभानुप्रेक्षा (४) अपायानुप्रेक्षा

(१) अनन्त वर्तितानुप्रेक्षाः–भव परम्परा की अनन्तता की भावना करना–जैसे–यह जीव अनादि काल से संसार में चक्कर लगा रहा है। समुद्र की तरह इस संसार के पर पहुंचना, उसे दुष्कर हो रहा है और वह नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव भवों में लगातार एक के बाद दूसरे में, बिना विश्राम के परिभ्रमण कर रहा है। इस प्रकार की भावना अनन्त वर्तितानुप्रेक्षा है।

(२) विपरिणामानुप्रेक्षाः–वस्तुओं के विपरिणमन पर विचार करना। जैसे–सर्वस्थान अशाश्वत हैं, क्या यहाँ के और क्या देवलोक के। देव एवं मनुष्य आदि की ऋद्धियां और सुख अस्थायी हैं। इस प्रकार की भावना विपरिणामानुप्रेक्षा है।

(३) अशुभानुप्रेक्षाः–संसार के अशुभ स्वरूप पर विचार करना। जैसे कि इस संसार को धिक्कार है, जिसमें एक सुन्दर रूप वाला अभिमानी पुरुष मर कर अपने ही मृत शरीर में कृमि (कीड़े) रूप से उत्पन्न हो जाता है। इत्यादि रूप से भावना करना अशुभानुप्रेक्षा है।

(४) अपायानुप्रेक्षाः–आश्रवों से होने वाले, जीवों को दुःख देने वाले, विविध अपायों का चिन्तन करना, जैसे–वश में नहीं किये हुए क्रोध और मान, बढ़ती हुई माया और लोभ ये चारों कषाय संसार के मूल को सींचने वाले हैं अर्थात् संसार को बढ़ाने वाले हैं। इत्यादि रूप से आश्रव से होने वाले अपायों की चिन्तना अपायानुप्रेक्षा है।

(ठाणांग ४, सूत्र २४७) (आवश्यक अध्ययन ४)

(भगवती शतक २५, उद्देशा ७) (उववाई सूत्र, तप अधिकार)

२२६-चार विनय प्रतिपत्तिः-

आचार्य्य शिष्य को चार प्रकार की प्रतिपत्ति सिखा कर उऋण होता है।

विनय प्रतिपत्ति के चार प्रकारः–

(१) आचार विनय
(२) श्रुत विनय
(३) विक्षेपणा विनय
(४) दोष निर्घातन विनय

(दशाश्रुत स्कन्ध, दशा ४)

२३०-आचार विनय के चार प्रकार:-

(१) संयम समाचारी (२) तप समाचारी
(३) गण समाचारी (४) एकाकी विहार समाचारी

(१) संयम समाचारीः-संयम के भेदों का ज्ञान करना, सत्तरह प्रकार के संयम को स्वयं पालन करना, संयम में उत्साह देना, संयम में शिथिल होने वाले को स्थिर करना, संयम समाचारी है।

(२) तप समाचारीः-तप के बाह्य और आभ्यन्तर भेदों का ज्ञान करना, स्वयं तप करना, तप करने वालों को उत्साह देना, तप में शिथिल होते हों, उन्हें स्थिर करना, तप समाचारी है।

(३) गण समाचारीः-गण (समूह) के ज्ञान, दर्शन, चारित्र की वृद्धि करते रहना, सारणा, वारणा आदि द्वारा भलीभांति रक्षा करना, गण में स्थित रोगी, बाल, वृद्ध एवं दुर्बल साधुओं की यथोचित व्यवस्था करना, गण समाचारी है।

(४) एकाकी विहार समाचारीः-एकाकी विहार प्रतिमा का भेदोपभेद सहित सांगोपाङ्ग ज्ञान करना, उसकी विधि को ग्रहण करना, स्वयं एकाकी विहार प्रतिमा का अंगीकार करना एवं दूसरे को ग्रहण करने के लिए उत्साहित करना आदि एकाकी विहार समाचारी है।

(दशाश्रुत स्कन्ध, दशा ४)

२३१-श्रुतविनय के चार प्रकार:-

(१) मूलसूत्र पढ़ाना।

(२) अर्थ पढ़ाना।

(३) हित वाचना देना अर्थात् शिष्य की योग्यता के अनुसार सूत्र अर्थ उभय पढ़ाना।

(४) निःशेष वाचना देना अर्थात् नय प्रमाण आदि द्वारा व्याख्या करते हुए शास्त्र की समाप्तिपर्यन्त वाचना देना।

(दशाश्रुत स्कन्ध, दशा ४)

२३२-विक्षेपणा विनय के चार प्रकार:-

(१) जिसने पहले धर्म नहीं जाना है एवं सम्यग्दर्शन का लाभ नहीं किया है, उसे प्रेमपूर्वक सम्यग्दर्शन रूप धर्म दिखा कर सम्यक्त्वधारी बनाना।

(२) जो सम्यक्त्वधारी है, उसे सर्व विरति रूप चारित्र धर्म की शिक्षा देकर सहधर्मी बनाना।

(३) जो धर्म से भ्रष्ट हों, उन्हें धर्म में स्थिर करना।

(४) चारित्र धर्म की जैसे वृद्धि हो, वैसी प्रवृत्ति करना। जैसे एषणीय आहार ग्रहण करना, अनेषणीय आहार का त्याग करना एवं चारित्र धर्म की वृद्धि के लिये हितकारी, सुखकारी, इहलोक–परलोक में समर्थ, कल्याणकारी एवं मोक्ष में ले जाने वाले अनुष्ठान के लिए तत्पर रहना।

(दशाश्रुत स्कन्ध, दशा ४)

२३३-दोषनिर्घातन विनय के चार प्रकार:-

(१) मीठे वचनों से क्रोध त्यागने का उपदेश देकर क्रोधी के क्रोध को शान्त करना।

(२) दोषी पुरुष के दोषों को दूर करना।

(३) उचित कांक्षा वाले की कांक्षा को अभिलषित वस्तु की प्राप्ति द्वारा या अन्य वस्तु दिखा कर निवृत्त करना।

(४) क्रोध, दोष, कांक्षा आदि में प्रवृत्ति न करते हुए, आत्मा को सुमार्ग पर लगाना।

(दशाश्रुत स्कन्ध, दशा ४)

२३४-विनय प्रतिपत्ति के चार प्रकार:-

(१) उपकरणोत्पादनता

(२) सहायता

(३) वर्ण संज्वलनता (गुणानुवादकता)

(४) भार प्रत्यवरोहणता

गुणवान् शिष्य की उपरोक्त चार प्रकार की विनय प्रतिपत्ति है।

(दशाश्रुत स्कन्ध, दशा ४)

२३५-अनुत्पन्न उपकरणोत्पादन विनय के चार प्रकार:-

अनुत्पन्न अर्थात् अप्राप्त आवश्यक उपकरणों के सम्यक् प्रकार:–

(१) एषणा शुद्धि से प्राप्त करना।

(२) पुराने उपकरणों की यथोचित रक्षा करना, जीर्ण वस्त्रों को सीना, सुरक्षित स्थान में रखना आदि।

(३) देशान्तर से आया हुआ अथवा समीपस्थ स्वधर्मी अल्प उपधि वाला हो तो उसे उपधि देकर उसकी सहायता करना।

(४) यथाविधि आहार, पानी एवं वस्त्रादि का विभाग करना, ग्लान, रोगी आदि कारणिक साधुओं के लिए उनके योग्य वस्त्रादि उपकरण जुटाना।

(दशाश्रुत स्कन्ध, दशा ४)

२३६-सहायता विनय के चार प्रकारः-

(१) अनुकूल एवं हितकारी वचन बोलना—गुरु की आज्ञा को आदरपूर्वक सुनना एवं विनय के साथ अङ्गीकार करना।

(२) काया से गुरु की अनुकूलतापूर्वक सेवा करना अर्थात् गुरु जिस अङ्ग की सेवा करने के लिए फरमावे, उस अङ्ग की काया से विनय—भक्तिपूर्वक सेवा करना।

(३) जिस प्रकार सामने वाले को सुख पहुंचे, उसी प्रकार उनके अङ्गोपाङ्गादि की वैयावच्च करना।

(४) सभी बातों में कुटिलता त्याग कर सरलतापूर्वक अनुकूल प्रवृत्ति करना।

(दशाश्रुत स्कन्ध, दशा ४)

२३७-वर्ण संज्वलनता विनय के चार प्रकारः-

(१) भव्य जीवों के समीप आचार्य्य महाराज के गुण, जाति आदि की प्रशंसा करना।

(२) आचार्य्य आदि के अपयश कहने वाले के कथन का युक्ति आदि से खण्डन कर उसे निरुत्तर करना।

(३) आचार्य्य महाराज की प्रशंसा करने वाले को धन्यवाद देकर उसे उत्साहित करना, प्रसन्न करना।

(४) इङ्गित (आकार) द्वारा आचार्य्य महाराज के भाव जान कर, उनकी इच्छानुसार स्वयं भक्तिपूर्वक सेवा करना।

(दशाश्रुत स्कन्ध, दशा ४)

२३८-भार प्रत्यवरोहणता विनय के चार प्रकारः-

(१) क्रोधादि वश गच्छ से बाहर जाने वाले शिष्य को मीठे वचनों से समझा—बुझा कर पुनः गच्छ में रखना।

(२) अव्युत्पन्न एवं नवदीक्षित शिष्य को ज्ञानादि आचार तथा भिक्षाचारी वगैरह का ज्ञान सिखाना।

(३) साधर्मिक अर्थात् समान श्रद्धा एवं समान समाचारी वाले ग्लान हों अथवा ऐसे ही गाढ़ागाढ़ी कारणों से आहारादि के बिना दुःख पा रहे हों, उनके आहार आदि लाने, वैद्य से बताई हुई औषधि करने, उबटन करने, संथारा बिछाने, पडिलेहना करने आदि में यथाशक्ति तत्पर रहना।

(४) साधर्मियों में परस्पर विरोध उत्पन्न होने पर राग–द्वेष का त्याग कर, किसी भी पक्ष का ग्रहण न करते हुए मध्यस्थ भाव से सम्यग् न्यायसंगत व्यवहार का पालन करते हुए, उस विरोध के क्षमापन एवं उपशम के लिए सदैव उद्यत रहना और यह भावना करते रहना कि किसी प्रकार ये मेरे साधर्मिक बन्धु राग–द्वेष, कलह एवं कषाय से रहित हों। इनमें परस्पर "तू तू, मैं मैं" न हो। ये संवर एवं समाधि की बहुलता वाले हों। अप्रमादी हों एवं संयम तथा तप से अपनी आत्मा को भावते हुए विचरें।

(दशाश्रुत स्कन्ध, दशा ४)

२३९-उपसर्ग चारः-

(१) देव सम्बन्धी
(२) मनुष्य सम्बन्धी
(३) तिर्यञ्च सम्बन्धी
(४) आत्मसंवेदनीय

(ठाणांग ४, सूत्र ३६१) (सूयगडांग श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन ३)

२४०-देव सम्बन्धी चार उपसर्गः-

देव चार प्रकार से उपसर्ग देते हैं।

(१) हास्य
(२) प्रद्वेष
(३) परीक्षा
(४) विमात्रा

विमात्रा का अर्थ है विविध मात्रा अर्थात् कुछ हास्य, कुछ प्रद्वेष कुछ परीक्षा के लिए उपसर्ग देना अथवा हास्य से प्रारम्भ कर द्वेष से उपसर्ग देना आदि।

(ठाणांग ४, सूत्र ३६१) (सूयगडांग श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन ३)

२४१-मनुष्य सम्बन्धी उपसर्ग के भी चार प्रकारः-

(१) हास्य
(२) प्रद्वेष
(३) परीक्षा
(४) कुशील प्रतिसेवना

(ठाणांग ४, सूत्र ३६१)
(सूयगडांग श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन ३)

२४२-तिर्यञ्च सम्बन्धी उपसर्ग के चार प्रकारः-

तिर्यञ्च चार बातों से उपसर्ग देते हैं।

(१) भय से
(२) प्रद्वेष से
(३) आहार के लिये
(४) संतान एवं अपने लिए रहने के स्थान की रक्षा के लिए।

(ठाणांग ४, सूत्र ३६१)
(सूयगडांग सूत्र श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन ३)

२४३-आत्मसंवेदनीय उपसर्ग के चार प्रकारः-

अपने ही कारण से होने वाला उपसर्ग आत्मसंवेदनीय है। इसके चार भेद हैं:-

(१) घट्टन (२) प्रपतन
(३) स्तम्भन (४) श्लेषण

(१) घट्टनः-अपने ही अङ्ग यानि अंगुली आदि की रगड़ से होने वाला घट्टन उपसर्ग है। जैसे-आँखों में धूल पड़ गई। आँख को हाथ से रगड़ा। इससे आँख दुःखने लग गई।

(२) प्रपतनः-बिना यतना के चलते हुए गिर जाने से चोट आदि का लग जाना।

(३) स्तम्भनः-हाथ पैर आदि अवयवों का सुन्न हो जाना।

(४) श्लेषणः-अंगुली आदि अवयवों का आपस में चिपक जाना। वात, पित्त कफ एवं सन्निपात (वात, पित्त, कफ का संयोग) से होने वाला उपसर्ग श्लेषण है।

ये सभी आत्मसंवेदनीय उपसर्ग हैं।

(ठाणांग ४, सूत्र ३६१)
(सूयगडांग सूत्र श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन ३)

२४४-दोष चारः-

(१) अतिक्रम (२) व्यतिक्रम
(३) अतिचार (४) अनाचार

अतिक्रमः—लिये हुए व्रत पच्चक्खाण या प्रतिज्ञा को भंग करने का संकल्प करना या भंग करने के संकल्प अथवा कार्य का अनुमोदन करना अतिक्रम है।

व्यतिक्रमः—व्रत भंग करने के लिए उद्यत होना व्यतिक्रम है।

अतिचारः—व्रत अथवा प्रतिज्ञा भंग करने के लिए सामग्री एकत्रित करना तथा एक देश से व्रत या प्रतिज्ञा खंडित करना अतिचार है।

अनाचारः—सर्वथा व्रत को भंग करना अनाचार है।

आधाकर्मी आहार की अपेक्षा अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार का स्वरूप इस प्रकार हैः—

साधु का अनुरागी कोई श्रावक आधाकर्मी आहार तैयार कर साधु को निमन्त्रण देता है। उस निमन्त्रण की स्वीकृति कर आहार लाने के लिए उठना, पात्र लेकर गुरु के पास आज्ञादि लेने पर्यन्त अतिक्रम दोष है। आधाकर्मी ग्रहण करने के लिए उपाश्रय से बाहर पैर रखने से लेकर घर में प्रवेश करने, आधाकर्मी आहार लेने के लिए झोली खोल कर पात्र फैलाने तक व्यतिक्रम दोष है। आधाकर्मी आहार ग्रहण करने से लेकर वापिस उपाश्रय में आने, गुरु के समक्ष आलोचना करने एवं खाने की तैयारी करने तक अतिचार दोष है। खा लेने पर अनाचार दोष लगता है।

(पिण्ड निर्युक्ति)

अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार में उत्तरोत्तर दोष की अधिकता है। क्योंकि एक से दूसरे का प्रायश्चित्त अधिक है।

मूल गुणों में अतिक्रम, व्यतिक्रम और अतिचार से चारित्र में मलीनता आती है और उसकी आलोचना, प्रतिक्रमण आदि से शुद्धि हो जाती है। अनाचार से मूल गुण सर्वथा भङ्ग हो जाते हैं। इसलिए नये सिरे से उन्हें ग्रहण करना चाहिए। उत्तर गुणों में अतिक्रमादि चारों से चारित्र की मलीनता होती है परन्तु व्रत भङ्ग नहीं होते।

(धर्म संग्रह, अधिकार ३)

२४५-(क) प्रायश्चित्त चारः-

सञ्चित पाप को छेदन करना–प्रायश्चित्त है।

अथवाः–

अपराध मलीन चित्त को प्रायः शुद्ध करने वाला जो कृत्य है, वह प्रायश्चित्त है।

प्रायश्चित्त चार प्रकार के हैं:–

(१) ज्ञान प्रायश्चित्त (२) दर्शन प्रायश्चित्त

(३) चारित्र प्रायश्चित्त (४) व्यक्तकृत्य प्रायश्चित्त

ज्ञान प्रायश्चित्तः–पाप को छेदने एवं चित्त को शुद्ध करने वाला होने से ज्ञान ही प्रायश्चित्त रूप है। अतः इसे ज्ञान प्रायश्चित्त कहते हैं। अथवा ज्ञान के अतिचारों की शुद्धि के लिए जो आलोचना आदि प्रायश्चित्त कहे गये हैं, वह ज्ञान प्रायश्चित्त है। इसी प्रकार दर्शन और चारित्र प्रायश्चित्त का स्वरूप भी समझना चाहिये।

व्यक्तकृत्य प्रायश्चित्तः–गीतार्थ मुनि छोटे–बड़े का विचार कर जो कुछ करता है, वह सभी पाप विशोधक है। इसलिये व्यक्त अर्थात् गीतार्थ का जो कृत्य है, वह व्यक्तकृत्य प्रायश्चित्त है।

(ठाणांग ४, सूत्र २६३)

२४५-(ख) प्रायश्चित्त के अन्य प्रकार से चार भेदः-

(१) प्रतिसेवना प्रायश्चित्त (२) संयोजना प्रायश्चित्त

(३) आरोपणा प्रायश्चित्त (४) परिकुञ्चना प्रायश्चित्त

(१) प्रतिसेवना प्रायश्चित्तः–प्रतिषिद्ध का सेवन करना अर्थात् अकृत्य का सेवन करना प्रतिसेवना है। इसमें जो आलोचना आदि प्रायश्चित्त है, वह प्रतिसेवना प्रायश्चित्त है।

(२) संयोजना प्रायश्चित्तः–एक जातीय अतिचारों का मिल जाना संयोजना है। जैसे–कोई साधु शय्यातर पिण्ड लाया, वह भी गीले हाथों से, वह भी सामने लाया हुआ और वह भी आधाकर्मी। इसमें जो प्रायश्चित्त होता है, वह संयोजना प्रायश्चित्त है।

(३) आरोपणा प्रायश्चित्तः–एक अपराध का प्रायश्चित्त करने पर बार–बार उसी अपराध को सेवन करने से विजातीय प्रायश्चित्त का आरोप करना आरोपणा प्रायश्चित्त है। जैसे–एक अपराध के लिये पाँच दिन का प्रायश्चित्त आया। फिर उसी के सेवन करने पर दस दिन का, फिर सेवन करने पर १५ दिन का। इस प्रकार ६ मास

तक लगातार प्रायश्चित्त देना। छः मास से अधिक तप का प्रायश्चित्त नहीं दिया जाता।

(४) परिकुञ्चना प्रायश्चित्तः—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा अपराध को छिपाना या उसे दूसरा रूप देना परिकुञ्चना है। इसका प्रायश्चित्त परिकुञ्चना प्रायश्चित्त कहलाता है।

(ठाणांग ४, सूत्र २६३)

२४६-चार भावनाः-

(१) मैत्री भावना (२) प्रमोद भावना
(३) करुणा भावना (४) माध्यस्थ भावना

(१) मैत्री भावनाः—विश्व के समस्त प्राणियों के साथ मित्र जैसा व्यवहार करना, वैर भाव का सर्वथा त्याग करना मैत्री भावना है। वैर भाव दुःख, चिन्ता और भय का स्थान है। यह राग—द्वेष को बढ़ाता है एवं चित्त को विक्षिप्त रखता है। उसके विपरीत मैत्री—भाव चिन्ता एवं भय को मिटा कर अपूर्व शान्ति और सुख का देने वाला है। मैत्री भाव से सदा मन स्वस्थ एवं प्रसन्न रहता है।

जगत् के सभी प्राणियों के साथ हमारा माता—पिता, भाई, पुत्र, स्त्री आदि का सम्बन्ध रह चुका है। उसे स्मरण करके मैत्री भाव को पुष्ट करना चाहिए। अपकारियों के साथ भी यह सोच कर मैत्री भाव बनाये रखना चाहिये कि यदि घर के लोग बुरे भी होते हैं तो भी वे हमारे ही रहते हैं और हम निरन्तर सद्भावना के साथ उनके हितसाधन में तत्पर रहते हैं। विश्व के प्राणी भी हमारे घर वाले रह चुके हैं और भविष्य में रह सकते हैं। फिर उनके साथ भी हमारा वैसा ही व्यवहार होना चाहिए। न जाने हम इस संसार में भ्रमण करते हुए कितनी बार विश्व के प्राणियों से उपकृत हो चुके हैं। फिर उन उपकारियों के साथ मित्र भाव रखना ही हमारा फर्ज है। यदि वर्तमान में वे हानि पहुँचाते हों तो भी हमें तो उपकारों का स्मरण कर अपना कर्त्तव्य पालन करना ही चाहिये। अपने विषैले डंक से काटते हुए चंडकौशिक का उद्धार करने वाले भगवान् श्री महावीर स्वामी की जगत् के उद्धार की भावना का सदा ध्यान रखना चाहिये। यदि हमारी ओर से किसी का अहित हो जाय या प्रतिकूल व्यवहार हो, तो हमें उससे तत्काल शुद्ध भाव से क्षमा याचना करनी चाहिये। इससे पारस्परिक भेद—भाव नष्ट हो जाता

है। इससे सामने वाला हमारे अहित का प्रयत्न नहीं करता है और हमारा चित्त भी शुद्ध हो जाता है एवं उसकी ओर से हानि पहुँचने की आशङ्का मिट जाती है।

यह मैत्री भाव मनुष्य का स्वाभाविक गुण है। वैर करना पशुता है। मैत्री भाव का पूर्ण विकास होने पर समीपस्थ प्राणी भी पारस्परिक वैरभाव भूल जाते हैं। तो शत्रुओं का मित्र होना तो साधारण-सी बात है। मैत्री भाव के विकास के लिए चित्त को निर्मल तथा विशद् बनाना आवश्यक है। घर के लोगों से मैत्री भाव का प्रारम्भ होता है और बढ़ते-बढ़ते सारे संसार में इस भाव का प्रसार हो जाता है। तब विश्वभर में आत्मा का कोई शत्रु नहीं रहता। इस कोटि पर पहुँच कर आत्मा पूर्ण शान्ति का अनुभव करता है। अतएव सदा इस भावना में दत्तचित्त रहकर वैर भाव को भुलाना चाहिए और मैत्री भाव की वृद्धि करना चाहिये। आत्मा की तरह जगत् के जीवों की सांसारिक दुःखद्वन्द्वों से मुक्ति हो, एवं जो हम अपने लिए चाहें, वही विश्व के समस्त प्राणियों के लिए चाहें एवं संसार के सभी प्राणी मित्र रूप में दिखाई देने लगें। इस प्रकार की भावना ही मैत्री भावना है।

(२) प्रमोद भावनाः—अधिक गुणसम्पन्न महापुरुषों को और उनके मान, पूजा, सत्कार आदि को देखकर हर्षित होना, प्रमोद भावना है। चिरकाल के अशुभ संस्कारों से यह मन ईर्ष्यालु हो गया है। इस प्रकार दूसरे की बढ़ती को वह सहन नहीं कर सकता। परन्तु ईर्ष्या महादुर्गुण है। इससे जीव दूसरों को गिरते देखकर प्रसन्न होना चाहता है। किन्तु उसके चाहने से किसी का पतन संभव नहीं। बिल्ली के चाहने से सींका (छींका) नहीं टूटता। परन्तु यह मलीन भावना अपने स्वामी को मलीन कर गिरा देती है एवं सद्गुणों को हर लेती है। ईर्ष्यालु आत्मा सभी को, सब बातों में अपने से नीचे देखना चाहता है। परन्तु यह संभव नहीं है। इसके फलस्वरूप वह सदा जलता रहता है एवं अपने स्वास्थ्य और गुणों का नाश करता है। यदि हम यह चाहते हैं कि हमारी सम्पत्ति में सभी हर्षित हों, हमारी उन्नति से सभी प्रसन्न हों, हमारे गुणों से सभी को प्रेम हो तो यह इच्छा तभी पूर्ण हो सकती है, जब हम भी दूसरों के प्रति ईर्ष्या छोड़कर उनके गुणों से प्रेम करेंगे। उनकी

उन्नति से प्रसन्न होंगे। इससे यह लाभ होगा कि हमारे प्रति भी कोई ईर्ष्या न करेगा एवं जिन अच्छे गुणों से हम प्रसन्न होंगे, वे गुण हमें भी प्राप्त होंगे। इसलिए सदा गुणवान पुरुष–जैसे–अरिहन्त भगवान्, साधु महाराज आदि के गुणानुवाद करना, श्रावक वर्ग में दानी, परोपकारी आदि का गुणानुवाद करना, उनके गुणों पर प्रसन्नता प्रगट करना, उनकी उन्नति से हर्षित होना, उनकी प्रशंसा सुनकर फूलना आदि प्रमोद भावना हैं।

(३) करुणा भावनाः–शारीरिक, मानसिक दुःखों से दुःखित प्राणियों के दुःख को दूर करने की इच्छा रखना करुणा भावना है। दीन, अपङ्ग, रोगी, निर्बल लोगों की सेवा करना, वृद्ध, विधवा और अनाथ बालकों को सहायता देना, अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि दुर्भिक्ष के समय अन्न–जल बिना दुःख पाने वालों के लिए खाने–पीने की व्यवस्था करना, बेघरबार लोगों को शरण देना, महामारी आदि के समय लोगों को औषधि पहुँचाना, स्वजनों से वियुक्त लोगों को उनके स्वजनों से मिला देना, भयभीत प्राणियों के भय को दूर करना, वृद्ध और रोगी पशुओं की सेवा करना। यथाशक्ति प्राणियों के दुःख दूर करना, समर्थ मानवों का कर्त्तव्य है। धन तथा शारीरिक और मानसिक बल का होना तभी सार्थक है जबकि वह उपर्युक्त दुःखी जीवों के उद्धार के लिए लगा दिए जावें। संसार में जो सुख–ऐश्वर्य दिखाई देता है, वह सभी इस करुणा–जनित पुण्य के फलस्वरूप है। भविष्य में इनकी प्राप्ति पुण्य बल पर ही होगी। जो लोग पूर्व पुण्य के बल से तपबल, धनबल एवं मनोबल पाकर उसका उपयोग दूसरों के दुःख दूर करने में नहीं करते, वे भविष्य में आने वाले सुखों को अपने ही हाथों रोकते हैं।

करुणा–दया भाव, जैन दर्शन में सम्यग्दर्शन का लक्षण माना गया है। अन्य धर्मों में भी इसे धर्म रूप वृक्ष का मूल बताया गया है। दया के बिना धर्माराधन असम्भव है। इसलिए धर्मार्थी एवं सुखार्थी समर्थ आत्माओं को यथाशक्ति दुःखी प्राणियों के दुःखों को दूर करना चाहिए। असमर्थ जनों को भी दुःख दूर करने की भावना अवश्य रखनी चाहिए। अवसर आने पर उसे क्रियात्मक रूप भी देना चाहिए। इस प्रकार धनहीन, दुःखी, भयभीत आत्माओं के दुःख को दूर करने की बुद्धि करुणा भावना है।

(४) माध्यस्थ भावनाः–मनोज्ञ–अमनोज्ञ पदार्थ एवं इष्ट–अनिष्ट मानवों के संयोग–वियोग में राग–द्वेष न करना माध्यस्थ भावना है। यह भावना आत्मा को पूर्ण शान्ति देने वाली है। मध्यस्थ भाव से भावित आत्मा पर भले–बुरे का कोई भी असर ठीक उसी प्रकार नहीं होता। जिस प्रकार दर्पण पर प्रतिबिम्बित पदार्थों का असर नहीं होता, अर्थात्–जैसे दर्पण पहाड़ का प्रतिबिम्ब ग्रहण करके भी पहाड़ के भार से नहीं दबता या समुद्र का प्रतिबिम्ब ग्रहण कर भीग नहीं जाता। वैसे ही राग–द्वेष त्याग कर माध्यस्थ भावना का आलम्बन लेने वाला आत्मा अच्छे–बुरे पदार्थ एवं संयोगों को कर्म का खेल समझ कर समभाव से उनका सामना करता है। किन्तु उनसे आत्म भाव को चञ्चल नहीं होने देता। संसार के सभी पदार्थ विनश्वर हैं। संयोग अस्थायी है। मनुष्य भी भले के बुरे और बुरे के भले होते रहते हैं। फिर राग–द्वेष के पात्र हैं ही क्या ?

दूसरी बात यह है कि इष्ट, अनिष्ट पदार्थों की प्राप्ति, संयोग वियोग आदि शुभाशुभ कर्मजनित हैं, वे तो नियतकाल तक हो कर ही रहेंगे। राग करने से कोई पदार्थ हमेशा के लिए हमारे साथ न रह सकेगा। न द्वेष करने से ही किसी पदार्थ का हमारे से वियोग हो जायेगा। यदि प्राणी अशुभ को नहीं चाहते तो उन्हें अशुभ कर्म नहीं करने थे। अशुभ कर्म करने के बाद अशुभ फल को रोकना प्राणियों की शक्ति के बाहर है। जबान पर मिर्च रखकर उसके तिक्तपन से मुक्ति चाहने की तरह यह अज्ञानता है। शुभाशुभ कर्म जनित इष्ट–अनिष्ट पदार्थ एवं संयोगों में राग–द्वेष का त्याग करना (उपेक्षा भाव रखना) ही माध्यस्थ भावना है।

जगत् के जो प्राणी विपरीत वृत्ति वाले हैं। उन्हें सुधारने के लिए प्रयत्न करना मानव कर्त्तव्य है। ऐसा करने से हम उनका ही सुधार नहीं करते बल्कि उनके कुमार्गगामी होने से उत्पन्न हुई अव्यवस्था एवं अपने साथियों की असुविधाओं को मिटाते हैं। इसके लिये प्रत्येक मनुष्य को सहनशील बनना चाहिए। कुमार्गगामी पुरुष हमारी सुधार भावना को विपरीत रूप देकर हमें भला–बुरा कह सकता है। हानि पहुँचाने का प्रयत्न भी कर सकता है। उस समय सहनशीलता धारण करना, सुधारक का कर्त्तव्य है। यह सहनशीलता कमजोरी नहीं किन्तु आत्म–बल का प्रकाशन है। उस समय यह

सोच कर सुधारक में सुधार भाव और भी ज्यादा दृढ़ होना चाहिए कि जब वह अपने बुरे स्वभाव को नहीं छोड़ता है तब मैं अपने अच्छे स्वभाव को क्यों छोड़ दूँ ? यदि सुधारक सहनशील न हुआ तो वह अपने उद्देश्य से नीचे गिर जायेगा। पाप से घृणा होनी चाहिए, पापी से नहीं। इसलिए घृणायोग्य पाप को दूर करने का प्रयत्न करना, परन्तु पापी को किसी प्रकार कष्ट न पहुँचाना चाहिए। मलीन वस्त्र की शुद्धि उसको फाड़ देने से नहीं होती, परन्तु पानी द्वारा कोमल करके की जाती है। इसी तरह पापी का सुधार कोमल उपायों से करना चाहिए, कठिन उपायों से नहीं। यदि कठोर उपाय का आश्रय लेना ही पड़े तो वह कठोरता बाह्य होनी चाहिए, अन्तर में तो कोमलता ही रहनी चाहिए। इस तरह विपरीत वृत्ति वाले पतित आत्माओं के सुधार की चेष्टा करनी चाहिए। यदि सुधार में सफलता मिलती न दिखाई दे तो सामने वाले के अशुभ कर्मों की प्रबलता समझ कर उदासीनता धारण करनी चाहिए। यही माध्यस्थ भावना है।

(भावना शतक) (कर्त्तव्य कौमुदी, भाग २, श्लोक ३५ से ५५)

(चतुर्भावना पाठमाला के आधार पर)

२४७-बन्ध की व्याख्या और उसके भेदः-

(१) जैसे कोई व्यक्ति शरीर पर तेल लगा कर धूलि में लेटे, तो धूलि उसके शरीर पर चिपक जाती है, उसी प्रकार मिथ्यात्व, कषाय योग आदि से जीव के प्रदेशों में जब हलचल होती है तब जिस आकाश में आत्मा के प्रदेश हैं, वहीं के अनन्त–अनन्त कर्म योग्य पुद्‌गल परमाणु जीव के एक–एक प्रदेश के साथ बंध जाते हैं। कर्म और आत्मप्रदेश इस प्रकार मिल जाते हैं जैसे–दूध और पानी तथा आग और लोह पिण्ड परस्पर एक हो कर मिल जाते हैं। आत्मा के साथ कर्मों का जो यह सम्बन्ध होता है, वही बन्ध कहलाता है।

बंध के चार भेद हैं:–

(१) प्रकृति बन्ध (२) स्थिति बन्ध

(३) अनुभाग बन्ध (४) प्रदेश बन्ध

(१) प्रकृति बन्ध–जीव के द्वारा ग्रहण किए हुए कर्म पुद्‌गलों में जुदे–जुदे स्वभावों का अर्थात् शक्तियों का पैदा होना प्रकृति बन्ध कहलाता है।

(२) स्थिति बन्ध–जीव के द्वारा ग्रहण किए हुए कर्म पुद्‌गलों में अमुक काल तक अपने स्वभावों को त्याग न करते हुए जीव के साथ रहने की काल–मर्यादा को स्थिति बन्ध कहते हैं।

(३) अनुभाग बन्ध–अनुभाग बन्ध को अनुभाव बन्ध और अनुभव बन्ध भी कहते हैं। जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म पुद्‌गलों में से इसके तरतम भाव का अर्थात् फल देने की न्यूनाधिक शक्ति का होना अनुभाग बन्ध कहलाता है।

(४) प्रदेश बन्ध–जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म स्कन्धों का सम्बन्ध होना प्रदेश बन्ध कहलाता है।

(ठाणांग ४, सूत्र २९६) (कर्मग्रन्थ, भाग १)

२४८-चारों बन्धों का स्वरूप समझाने के लिए मोदक (लड्‌डू) का दृष्टान्तः-

जैसे–सोंठ, पीपल, मिर्च, आदि से बनाया हुआ मोदक वायु नाशक होता है। इसी प्रकार पित्तनाशक पदार्थों से बना हुआ मोदक पित्त का एवं कफनाशक पदार्थों से बना हुआ मोदक कफ का नाश करने वाला होता है। इसी प्रकार आत्मा से ग्रहण किए हुए कर्म पुद्‌गलों में से किन्हीं में ज्ञान गुण को आच्छादन करने की शक्ति पैदा होती है, किन्हीं में दर्शन गुण घात करने की। कोई कर्म–पुद्‌गल, आत्मा के आनन्द गुण का घात करते हैं तो कोई आत्मा की अनन्त शक्ति का। इस तरह भिन्न–भिन्न कर्म पुद्‌गलों में भिन्न–भिन्न प्रकार की प्रकृतियों के बन्ध होने को प्रकृति बन्ध कहते हैं। जैसे–कोई मोदक एक सप्ताह, कोई एक पक्ष, कोई एक मास तक निजी स्वभाव को रखते हैं। इसके बाद में छोड़ देते हैं अर्थात् विकृत हो जाते हैं। मोदकों की काल–मर्यादा की तरह कर्मों की भी काल–मर्यादा होती है। वही स्थिति बन्ध है। स्थिति पूर्ण होने पर कर्म आत्मा से जुदे हो जाते हैं।

कोई मोदक रस में अधिक मधुर होते हैं तो कोई कम। कोई रस में अधिक कटु होते हैं, कोई कम। इस प्रकार मोदकों में जैसे रसों की न्यूनाधिकता होती है उसी प्रकार कुछ कर्म दलों में शुभ रस अधिक और कुछ में कम। कुछ कर्म दलों में अशुभ रस अधिक और कुछ में अशुभ रस कम होता है। इसी प्रकार कर्मों में तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम शुभाशुभ रसों का बन्ध

होना, रस बन्ध है। यही बन्ध अनुभाग बन्ध भी कहलाता है।

कोई मोदक परिमाण में दो तोले का, कोई पांच तोले और कोई पावभर का होता है। इसी प्रकार भिन्न–भिन्न कर्म दलों में परमाणुओं की संख्या का न्यूनाधिक होना प्रदेश बन्ध कहलाता है।

यहाँ यह भी जान लेना चाहिए कि जीव संख्यात्–असंख्यात् और अनन्त परमाणुओं से बने हुए कार्माण स्कन्ध को ग्रहण नहीं करता परन्तु अनन्तानन्त परमाणु वाले स्कन्ध को ग्रहण करता है।

(ठाणांग ४, सूत्र २६६) (कर्मग्रन्थ, भाग पहला)

प्रकृति बन्ध और प्रदेश बन्ध योग के निमित्त से होते हैं। स्थिति बन्ध तथा अनुभाग बन्ध कषाय के निमित्त से बंधते हैं।

२४६-उपक्रम की व्याख्या और भेदः-

उपक्रम का अर्थ आरम्भ है। वस्तु परिकर्म एवं वस्तु विनाश को भी उपक्रम कहा जाता है। उपक्रम के चार भेद हैं।

(१) बन्धनोपक्रम (२) उदीरणोपक्रम

(३) उपशमनोपक्रम (४) विपरिणामनोपक्रम

(१) बन्धनोपक्रमः–कर्म पुद्गल और जीव प्रदेशों के परस्पर सम्बन्ध होने को बन्धन कहते हैं। उसके आरम्भ को बन्धनोपक्रम कहते हैं अथवा बिखरी हुई अवस्था में रहे हुए कर्मों को आत्मा से सम्बन्धित अवस्था वाले कर देना बन्धनोपक्रम है।

(२) उदीरणोपक्रमः–विपाक अर्थात् फल देने का समय न होने पर भी कर्मों का फल भोगने के लिए प्रयत्न विशेष से उन्हें उदय अवस्था में प्रवेश कराना उदीरणा है। उदीरणा के प्रारम्भ को उदीरणोपक्रम कहते हैं।

(३) उपशमनोपक्रमः–कर्म उदय, उदीरणा, निधत्त करण और निकाचना करण के अयोग्य हो जायें, इस प्रकार उन्हें स्थापन करना उपशमना है। इसका आरम्भ उपशमनोपक्रम है। इसमें आवर्त्तन, उद्वर्त्तन और संक्रमण–ये तीन करण होते हैं।

(४) विपरिणामनोपक्रमः–सत्ता, उदय, क्षय, क्षयोपशम, उद्वर्त्तना, अपवर्त्तना आदि द्वारा कर्मों के परिणाम को बदल देना विपरिणामना है। अथवा गिरिनदीपाषाण की तरह स्वाभाविक रूप से या द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि से अथवा करण विशेष से कर्मों का एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बदल जाना विपरिणामना है। इसका

उपक्रम (आरम्भ) विपरिणामनोपक्रम है।

(ठाणांग ४, सूत्र २९६)

२५०-संक्रम (संक्रमण) की व्याख्या और उसके भेदः-

जीव जिस प्रकृति को बांध रहा है, उसी विपाक में वीर्य विशेष से दूसरी प्रकृति के दलिकों (कर्म पुद्गलों) को परिणत करना संक्रम कहलाता है।

(ठाणांग ४, सूत्र २९६)

जिस वीर्य विशेष से कर्म एक स्वरूप को छोड़कर दूसरे सजातीय स्वरूप को प्राप्त करता है। उस वीर्य विशेष का नाम संक्रमण है। इसी तरह एक कर्म प्रकृति का दूसरी सजातीय कर्म प्रकृति रूप बन जाना भी संक्रमण है। जैसे–मति ज्ञानावरणीय का श्रुत ज्ञानावरणीय अथवा श्रुत ज्ञानावरणीय का मति ज्ञानावरणीय कर्म रूप में बदल जाना। ये दोनों कर्म प्रकृतियाँ ज्ञानावरणीय कर्म के भेद होने से आपस में सजातीय हैं।

(कर्मग्रन्थ, भाग २)

इसके चार भेद हैं:–

(१) प्रकृति संक्रम (२) स्थिति संक्रम

(३) अनुभाग संक्रम (४) प्रदेश संक्रम

(ठाणांग ४, सूत्र २९६)

२५१-निधत्त की व्याख्या और भेदः-

उद्वर्त्तना और अपवर्तना करण के सिवाय विशेष करणों के अयोग्य कर्मों को रखना निधत्त कहा जाता है। निधत्त अवस्था में उदीरणा, संक्रमण वगैरह नहीं होते हैं। तपा कर निकाली हुई लोह शलाका के सम्बन्ध के समान पूर्वबद्ध कर्मों को परस्पर मिलाकर धारण करना निधत्त कहलाता है। इसके भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप से चार भेद होते हैं।

(ठाणांग ४, सूत्र २९६)

२५२-निकाचित की व्याख्या और भेदः-

जिन कर्मों का फल बन्ध के अनुसार निश्चय ही भोगा जाता है, जिन्हें बिना भोगे छुटकारा नहीं होता, वे निकाचित कर्म कहलाते हैं। निकाचित कर्म में कोई भी करण नहीं होता। तपा कर निकाली हुई लोह शलाकायें (सुइयें) घन से कूटने पर जिस तरह एक हो

जाती हैं। उसी प्रकार इन कर्मों का भी आत्मा के साथ गाढ़ा सम्बन्ध हो जाता है। निकाचित कर्म के भी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश के भेद से चार भेद हैं।

(ठाणांग ४, सूत्र २९६)

२५३-कर्म की चार अवस्थाएं:-

(१) बन्ध (२) उदय

(३) उदीरणा (४) सत्ता

(१) बन्धः—मिथ्यात्व आदि के निमित्त से ज्ञानावरणीय आदि रूप में परिणत होकर कर्म पुद्गलों का आत्मा के साथ दूध—पानी की तरह मिल जाना बन्ध कहलाता है।

(२) उदयः—उदय काल अर्थात् फलदान का समय आने पर कर्मों के शुभाशुभ फल का देना उदय कहलाता है।

(३) उदीरणाः—आबाध काल व्यतीत हो चुकने पर भी जो कर्म—दलिक पीछे से उदय में आने वाले हैं, उनको प्रयत्न विशेष से खींच कर उदय प्राप्त दलिकों के साथ भोग लेना उदीरणा है।

बंधे हुए कर्मों से जितने समय तक आत्मा को आबाधा नहीं होती अर्थात् शुभाशुभ फल का वेदन नहीं होता, उतने समय को आबाधा काल समझना चाहिए।

(४) सत्ता—बंधे हुए कर्मों का अपने स्वरूप को न छोड़ कर आत्मा के साथ लगे रहना, सत्ता कहलाता है।

(कर्मग्रन्थ, भाग २, गाथा १)

२५४-अन्तक्रियाएं चारः-

कर्म अथवा कर्म कारणक भव का अन्त करना अन्तक्रिया है। यों तो अन्तक्रिया एक ही स्वरूप वाली होती है किन्तु सामग्री के भेद से चार प्रकार की बताई गई हैं।

(१) प्रथम अन्तक्रियाः—कोई जीव अल्प कर्म वाला हो कर मनुष्य भव में उत्पन्न हुआ। उसने मुंडित हो कर गृहस्थ से साधुपने की प्रव्रज्या ली। वह प्रचुर संयम, संवर और समाधि सहित होता है। वह शरीर और मन से रूक्ष द्रव्य और भाव से स्नेह रहित संसार समुद्र के पार पहुँचने की इच्छा वाला, उपधान तप वाला, दुःख एवं उसके कारणभूत कर्मों का क्षय करने वाला, आभ्यन्तर तप अर्थात् शुभ ध्यान वाला होता है। वह श्री वर्धमान स्वामी की तरह वैसा घोर

तप नहीं करता, न परिषह उपसर्ग जनित घोर वेदना सहता है। इस प्रकार का वह पुरुष दीर्घ दीक्षा पर्याय पाल कर सिद्ध होता है। बुद्ध होता है। मुक्त होता है। निर्वाण को प्राप्त करता है एवं सभी दुःखों का अन्त करता है। जैसे—भरत महाराज। भरत महाराज लघु कर्म वाले होकर सर्वार्थसिद्ध विमान से चवे, वहाँ से चव कर मनुष्य भव में चक्रवर्ती रूप से उत्पन्न हुए। चक्रवर्ती अवस्था में ही केवलज्ञान उत्पन्न कर उन्होंने एक लाख पूर्व की दीक्षा पाली एवं बिना घोर तप किए और बिना विशेष कष्ट सहन किये ही मोक्ष पधार गये।

(२) दूसरी अन्तक्रियाः—कोई पुरुष महा कर्म वाला होकर मनुष्य भव में उत्पन्न हुआ। वह दीक्षित हो कर यावत् शुभध्यान वाला होता है। महा कर्म वाला होने से उन कर्मों का क्षय करने के लिए वह घोर तप करता है। इसी प्रकार घोर वेदना भी सहता है। उस प्रकार का वह पुरुष थोड़ी ही दीक्षा पर्याय पाल कर सिद्ध हो जाता है। यावत् सभी दुःखों का अन्त कर देता है। जैसे—गज सुकुमार ने भगवान् श्री अरिष्टनेमि के पास दीक्षा लेकर श्मशान भूमि में कायोत्सर्ग रूप महातप प्रारम्भ किया और सिर पर रखे हुए जाज्वल्यमान अङ्गारों से उत्पन्न अत्यन्त ताप वेदना को सहन कर अल्प दीक्षा पर्याय से ही सिद्ध हो गए।

(३) तीसरी अन्तक्रियाः—कोई पुरुष महा कर्म वाला होकर उत्पन्न होता है। वह दीक्षा लेकर यावत् शुभ ध्यान करने वाला होता है। महा कर्म वाला होने से वह घोर तप करता है, एवं घोर वेदना सहता है। इस प्रकार का वह पुरुष दीर्घ दीक्षा पर्याय पाल कर सिद्ध, बुद्ध, यावत् मुक्त होता है। जैसे—सनत्कुमार चक्रवर्ती। सनत्कुमार चक्रवर्ती ने दीक्षा लेकर कर्म क्षय करने के लिए घोर तप किया एवं शरीर में पैदा हुए रोगादि की घोर वेदना सही और दीर्घ काल तक दीक्षा पर्याय पाली। कर्म अधिक होने से बहुत काल तक तपस्या करके मोक्ष प्राप्त किया।

(४) चौथी अन्तक्रियाः—कोई पुरुष अल्प कर्म वाला होकर उत्पन्न होता है। वह दीक्षा लेकर यावत् शुभ ध्यान वाला होता है। वह पुरुष न घोर तप करता है न घोर वेदना सहता है। इस प्रकार वह पुरुष अल्प दीक्षा पर्याय पाल कर ही सिद्ध, बुद्ध, यावत् मुक्त हो जाता है। जैसे—मरुदेवी माता। मरुदेवी माता के कर्म क्षीण

प्रायः थे। अतएव बिना तप किए, बिना वेदना सहे, हाथी पर विराजमान ही सिद्ध हो गईं।

नोटः—उपर्युक्त दृष्टान्त देश दृष्टान्त हैं। इसलिए सभी बातों में साधर्म्य नहीं है। जैसे—मरुदेवी माता मुंडित न हुईं, इत्यादि। किन्तु भाव में समानता है।

(ठाणांग ४, सूत्र २३५)

२५५-भाव दुःख शय्या के चार प्रकारः-

पलङ्ग, बिछौना वगैरह जैसे होने चाहिए, वैसे न हों, दुःखकारी हों, तो ये द्रव्य से दुःख शय्या रूप हैं। चित्त (मन) श्रमण स्वभाव वाला न होकर दुःश्रमणता वाला हो, तो वह भाव से दुःख शय्या है। भाव दुःख शय्या चार हैं।

(१) पहली दुःख शय्याः—किसी गुरु (भारी) कर्म वाले मनुष्य ने मुंडित होकर दीक्षा ली। दीक्षा लेने पर वह निर्ग्रन्थ प्रवचन में शंङ्का, कांक्षा (पर मत अच्छा है। इस प्रकार की बुद्धि), विचिकित्सा (धर्म फल के प्रति सन्देह) करता है, जिन शासन में कहे हुए भाव वैसे ही हैं अथवा दूसरी तरह के हैं ? इस प्रकार चित्त को डांवाडोल करता है। कलुष भाव अर्थात् विपरीत भाव को प्राप्त करता है। वह जिन प्रवचन पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि नहीं रखता। जिन प्रवचन में श्रद्धा, प्रतीति न करता हुआ और रुचि न रखता हुआ मन को ऊँचा—नीचा करता है। इस कारण वह धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। इस प्रकार वह श्रमणता रूपी शय्या में दुःख से रहता है।

(२) दूसरी दुःख शय्याः—कोई कर्मों से भारी मनुष्य प्रव्रज्या लेकर अपने लाभ से सन्तुष्ट नहीं होता। वह असन्तोषी बन कर दूसरे के लाभ में से, वह मुझे देगा, ऐसी इच्छा रखता है। यदि वह देवे तो मैं भोगूँ, ऐसी इच्छा करता है। उसके लिए याचना करता है और अति अभिलाषा करता है। उसके मिल जाने पर और अधिक चाहता है। इस प्रकार दूसरे के लाभ में से आशा, इच्छा, याचना यावत् अभिलाषा करता हुआ वह मन को ऊँचा—नीचा करता है। इस कारण वह धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। यह दूसरी दुःख शय्या है।

(३) तीसरी दुःख शय्याः—कोई कर्मबहुल प्राणी दीक्षित होकर देव तथा मनुष्य सम्बन्धी काम—भोग पाने की आशा करता है। याचना यावत् अभिलाषा करता है। इस प्रकार करते हुए वह अपने

मन को ऊँचा–नीचा करता है और धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। यह तीसरी दुःख शय्या है।

(४) चौथी दुःख शय्याः–कोई गुरु कर्मी जीव साधुपन लेकर सोचता है कि मैं जब गृहस्थ वास में था। उस समय तो मेरे शरीर पर मालिश होती थी। पीठी होती थी। तैलादि लगाए जाते थे और शरीर के अङ्ग–उपाङ्ग धोये जाते थे अर्थात् मुझे स्नान कराया जाता था। लेकिन जब से साधु बना हूँ। तब से मुझे ये मर्दन आदि प्राप्त नहीं हैं। इस प्रकार वह उनकी आशा यावत् अभिलाषा करता है और मन को ऊँचा–नीचा करता हुआ धर्मभ्रष्ट होता है। यह चौथी दुःख शय्या है। श्रमण को ये चारों दुःख शय्या छोड़कर, संयम में मन को स्थिर करना चाहिए।

(ठाणांग ४, सूत्र ३२५)

२५६-सुख शय्या चारः-

ऊपर बताई हुई दुःख शय्या से विपरीत सुख शय्या जाननी चाहिए। वे संक्षेप में इस प्रकार हैंः–

(१) जिन प्रवचन पर शंका, कांक्षा, विचिकित्सा न करता हुआ तथा चित्त को डांवाडोल और कलुषित न करता हुआ साधु निर्ग्रन्थ प्रवचन पर श्रद्धा, प्रतीति और रुचि रखता है और मन को संयम में स्थिर रखता है। वह धर्म से भ्रष्ट नहीं होता अपितु धर्म पर और भी अधिक दृढ़ होता है। यह पहली सुख शय्या है।

(२) जो साधु अपने लाभ से सन्तुष्ट रहता है और दूसरों के लाभ में से आशा, इच्छा, याचना और अभिलाषा नहीं करता। उस सन्तोषी साधु का मन संयम में स्थिर रहता है और वह धर्मभ्रष्ट नहीं होता। यह दूसरी सुख शय्या है।

(३) जो साधु देवता और मनुष्य सम्बन्धी काम–भोगों की आशा यावत् अभिलाषा नहीं करता। उसका मन संयम में स्थिर रहता है और वह धर्म से भ्रष्ट नहीं होता। यह तीसरी सुख शय्या है।

(४) कोई साधु होकर यह सोचता है कि जब हृष्ट, नीरोग, बलवान् शरीर वाले अरिहन्त भगवान् आशंसा दोषरहित अतएव उदार, कल्याणकारी, दीर्घकालीन, महाप्रभावशाली, कर्मों को क्षय करने वाले तप को संयमपूर्वक आदरभाव से अंगीकार करते हैं, तो क्या मुझे केश लोच, ब्रह्मचर्य्य आदि में होने वाली आभ्युपगमिकी

और ज्वर, अतिसार आदि रोगों से होने वाली औपक्रमिकी वेदना को शान्तिपूर्वक, दैन्यभाव न दर्शाते हुए, बिना किसी पर कोप किए सम्यक् प्रकार से समभावपूर्वक न सहना चाहिए ? इस वेदना को सम्यक् प्रकार न सहन कर, मैं एकान्त पाप कर्म के सिवा और क्या उपार्जन करता हूँ ? यदि मैं इसे सम्यक् प्रकार सहन कर लूँ, तो क्या मुझे एकान्त निर्जरा न होगी ? इस प्रकार विचार कर ब्रह्मचर्य्य व्रत के दूषण रूप मर्दन आदि की आशा, इच्छा का त्याग करना चाहिए एवं उनके अभाव से प्राप्त वेदना तथा अन्य प्रकार की वेदना को सम्यक् प्रकार सहना चाहिए। यह चौथी सुख शय्या है।

(ठाणांग ४, सूत्र ३२५)

२५७-चार स्थान से हास्य की उत्पत्तिः-

हास्य मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न हास्य रूप विकार अर्थात् हँसी की उत्पत्ति चार प्रकार से होती है।

(१) दर्शन से (२) भाषण से

(३) श्रवण से (४) स्मरण से

(१) दर्शनः—विदूषक, बहुरूपिये आदि की हँसीजनक चेष्टा देखकर हँसी आ जाती है।

(२) भाषणः—हास्य उत्पादक वचन कहने से हँसी आती है।

(३) श्रवणः—हास्यजनक किसी का वचन सुनने से हँसी की उत्पत्ति होती है।

(४) स्मरणः—हँसी के योग्य कोई बात या चेष्टा को याद करने से हँसी उत्पन्न होती है।

(ठाणांग ३, सूत्र २६६)

२५८-गुणलोप के चार स्थानः-

चार प्रकार से दूसरे के विद्यमान गुणों का लोप किया जाता है।

(१) क्रोध से।

(२) दूसरे की पूजा—प्रतिष्ठा न सहन कर सकने के कारण, ईर्ष्या से।

(३) अकृतज्ञता से।

(४) विपरीत ज्ञान से।

जीव दूसरे के विद्यमान् गुणों का अपलाप करता है।

(ठाणांग ४, सूत्र ३७०)

२५६-गुण प्रकाश के चार स्थानः-

चार प्रकार से दूसरे के विद्यमान गुण प्रकाशित किए जाते हैं।

(१) अभ्यास अर्थात् आग्रहवश अथवा वर्णन किए जाने वाले पुरुष के समीप में रहने से।

(२) दूसरे के अभिप्राय के अनुकूल व्यवहार करने के लिए।

(३) इष्ट कार्य के प्रति दूसरे को अनुकूल करने के लिए।

(४) किये हुए गुण प्रकाश रूप उपकार व अन्य उपकार का बदला चुकाने के लिए।

(ठाणांग ४, सूत्र ३७०)

२६०-चार प्रकार का नरक का आहारः-

(१) अङ्गारों के सदृश आहार-थोड़े काल तक दाह होने से।

(२) भोभर के सदृश आहार-अधिक काल तक दाह होने से।

(३) शीतल आहार-शीत वेदना उत्पन्न करने से।

(४) हिम शीतल आहार-अत्यन्त शीत वेदनाजनक होने से।

(ठाणांग ४, सूत्र ३४०)

२६१-चार प्रकार का तिर्यञ्च का आहारः-

(१) कंकोपम-जैसे-कंक पक्षी को मुश्किल से हज़म होने वाला आहार भी सुभक्ष होता है और सुख से हजम हो जाता है, इसी प्रकार तिर्यञ्च का सुभक्ष और सुखकारी परिणाम वाला आहार कंकोपम आहार है।

(२) बिलोपमः-जो आहार बिल की तरह गले में बिना रस का स्वाद दिए शीघ्र उतर जाता है, वह बिलोपम आहार है।

(३) मातङ्ग मांसोपमः-अर्थात् जैसे चाण्डाल का मांस अस्पृश्य होने से घृणा के कारण बड़ी मुश्किल से खाया जाता है। वैसे ही जो आहार मुश्किल से खाया जा सके, वह मातङ्ग मांसोपम आहार है।

(४) पुत्र मांसोपम-जैसे स्नेह होने से पुत्र का मांस बहुत ही कठिनाई के साथ खाया जाता है। इसी प्रकार जो आहार बहुत ही मुश्किल से खाया जाय, वह पुत्र मांसोपम आहार है।

(ठाणांग ४, सूत्र ३४०)

२६२-चार प्रकार का मनुष्य का आहारः-

(१) अशन (२) पान

(३) खादिम (४) स्वादिम

(१) दाल, रोटी, भात वगैरह आहार अशन कहलाता है।

(२) पानी वगैरह आहार यानि पेय पदार्थ पान है।

(३) फल, मेवा वगैरह आहार खादिम कहलाता है।

(४) पान, सुपारी, इलायची वगैरह आहार स्वादिम है।

(ठाणांग ४, सूत्र ३४०)

२६३-देवता का चार प्रकार का आहारः-

(१) शुभ वर्ण (२) शुभ गन्ध

(३) शुभ रस (४) शुभ स्पर्श

वाला देवता का आहार होता है।

(ठाणांग ४, सूत्र ३४०)

२६४-चार भाण्ड (पण्य वस्तु):-

(१) गणिम—जिस चीज का गिनती से व्यापार होता है वह गणिम है। जैसे—नारियल वगैरह।

(२) धरिम—जिस चीज का तराजू में तोलकर व्यवहार अर्थात् लेन—देन होता है। जैसे—गेहूँ, चावल, शक्कर वगैरह।

(३) मेय—जिस चीज का व्यवहार या लेन—देन पायली आदि से या हाथ, गज आदि से नाप कर होता है, वह मेय है। जैसे—कपड़ा वगैरह। जहाँ पर धान वगैरह पायली आदि से माप कर लिए और दिए जाते हैं, वहां पर वे भी मेय हैं।

(४) परिच्छेद्य—गुण की परीक्षा कर जिस चीज का मूल्य स्थिर किया जाता है और बाद में लेन—देन होता है, उसे परिच्छेद्य कहते हैं। जैसे—जवाहरात।

बढ़िया वस्त्र वगैरह जिनके गुण की परीक्षा प्रधान है, वे भी परिच्छेद्य गिने जाते हैं।

(ज्ञाता सूत्र, प्रथम श्रुत स्कन्ध, अध्याय ८)

२६५-चार व्याधिः-

(१) वात की व्याधि।

(२) पित्त की व्याधि।

(३) कफ की व्याधि।

(४) सन्निपातज व्याधि।

(ठाणांग ४, सूत्र ३४३)

२६६-चार पुद्‌गल परिणामः-

पुद्‌गल का परिणाम अर्थात् एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाना चार प्रकार से होता है।

(१) वर्ण परिणाम।
(२) गन्ध परिणाम।
(३) रस परिणाम।
(४) स्पर्श परिणाम।

(ठाणांग ४, सूत्र २६५)

२६७-चार प्रकार से लोक की व्यवस्था हैः-

(१) आकाश पर घनवात, तनुवात, रूपवात (वायु) रहा हुआ है।
(२) वायु पर घनोदधि रहा हुआ है।
(३) घनोदधि पर पृथ्वी रही हुई है।
(४) पृथ्वी पर त्रस और स्थावर प्राणी रहे हुए हैं।

(ठाणांग ४, सूत्र २८६)

२६८-चार कारणों से जीव और पुद्‌गल लोक के बाहर जाने में असमर्थ हैंः-

(१) गति के अभाव से　　(२) निरुपग्रह होने से
(३) रुक्षता से　　(४) लोक मर्यादा से

(१) गति के अभाव सेः-जीव और पुद्‌गल का लोक से बाहर जाने का स्वभाव नहीं है। जैसे-दीप शिखा स्वभाव से ही नीचे को नहीं जाती।

(२) निरुपग्रह होने सेः-लोक के बाहर धर्मास्तिकाय का अभाव है। जीव और पुद्‌गल के गमन में सहायक धर्मास्तिकाय का अभाव होने से ये लोक् से बाहर नहीं जा सकते। जैसे-बिना गाड़ी के पंगु पुरुष नहीं जा सकता।

(३) रुक्षता सेः-लोक के अन्त तक जाकर पुद्‌गल इस प्रकार से रूखे हो जाते हैं कि आगे जाने के लिए उनमें सामर्थ्य ही नहीं रहता। कर्म पुद्‌गलों के रूखे हो जाने पर जीव भी वैसे ही हो जाते हैं। अतः वे भी लोक के बाहर नहीं जा सकते। सिद्ध जीव तो धर्मास्तिकाय का आधार न होने से ही आगे नहीं जाते।

(४) लोक मर्य्यादा से:—लोक मर्यादा इसी प्रकार की है। जिससे जीव और पुद्गल लोक से बाहर नहीं जाते। जैसे—सूर्य्य मण्डल अपने मार्ग से दूसरी ओर नहीं जाता।

(ठाणांग ४, सूत्र ३३७)

२६६-भाषा के चार भेद:-

(१) सत्य भाषा (२) असत्य भाषा

(३) सत्यामृषा भाषा (मिश्र भाषा)

(४) असत्यामृषा भाषा (व्यवहार भाषा)

(१) सत्य भाषा:—विद्यमान जीवादि पदार्थों का यथार्थ स्वरूप कहना सत्य भाषा है। अथवा सन्त अर्थात् मुनियों के लिए हितकारी निरवद्य भाषा सत्य भाषा कही जाती है।

(२) असत्य भाषा:—जो पदार्थ जिस स्वरूप में नहीं हैं, उन्हें उस स्वरूप से कहना असत्य भाषा है अथवा सन्तों के लिए अहितकारी सावद्य भाषा असत्य भाषा कही जाती है।

(३) सत्यामृषा भाषा (मिश्र भाषा):—जो भाषा सत्य है और मृषा भी है, वह सत्यामृषा भाषा है।

(४) असत्यामृषा भाषा (व्यवहार भाषा):—जो भाषा न सत्य है और न असत्य है, ऐसी आमन्त्रणा, आज्ञापना आदि की व्यवहार भाषा असत्यामृषा भाषा कही जाती है। असत्यामृषा भाषा का दूसरा नाम व्यवहार भाषा है।

(पन्नवणा भाषा, पद ११)

२७०-असत्य वचन के चार प्रकार:-

जो वचन सन्त अर्थात् प्राणी, पदार्थ एवं मुनि के लिए हितकारी न हो वह असत्य वचन है।

अथवा:—

प्राणियों के लिए पीड़ाकारी एवं घातक, पदार्थों का अयथार्थ स्वरूप बताने वाला और मुमुक्षु मुनियों के मोक्ष का घातक वचन असत्य वचन है।

असत्य वचन के चार भेद:—

(१) सद्भाव प्रतिषेध (२) असद्भावोद्भावन

(३) अर्थान्तर (४) गर्हा

(१) सद्भाव प्रतिषेध:—विद्यमान वस्तु का निषेध करना सद्भाव

प्रतिषेध है। जैसे–यह कहना कि आत्मा, पुण्य, पाप आदि नहीं हैं।

(२) असद्भावोद्भावन–अविद्यमान वस्तु का अस्तित्व बताना असद्भावोद्भावन है। जैसे–यह कहना कि आत्मा सर्वव्यापी है, ईश्वर जगत् का कर्त्ता है आदि।

(३) अर्थान्तर–एक पदार्थ को दूसरा पदार्थ बताना अर्थान्तर है। जैसे–गाय को घोड़ा बताना।

(४) गर्हा–दोष प्रकट कर किसी को पीड़ाकारी वचन कहना गर्हा (असत्य) है। जैसे–काणे को काणा कहना।

(दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन ६)

२७१-चतुष्पद तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय के चार भेदः-

(१) एक खुर (२) द्विखुर
(३) गण्डी पद (४) सनख पद

(१) एक खुर–जिसके पैर में एक खुर हो, वह एक खुर चतुष्पद है। जैसे–घोड़ा, गदहा वगैरह।

(२) द्विखुर–जिसके पैर में दो खुर हो, वह द्विखुर चतुष्पद है। जैसे–गाय, भैंस वगैरह।

(३) गण्डीपद–सुनार की एरण के समान चपटे पैर वाले चतुष्पद गण्डीपद कहलाते हैं। जैसे–हाथी, ऊँट वगैरह।

(४) सनख पद–जिनके पैरों में नख हों, वे सनख चतुष्पद कहलाते हैं। जैसे–सिंह, चीता, कुत्ता वगैरह।

(ठाणांग ४, सूत्र ३५०)

२७२-पक्षी चारः-

(१) चर्मपक्षी (२) रोमपक्षी
(३) समुद्गकपक्षी (४) विततपक्षी

(१) चर्मपक्षीः–चर्ममय पंख वाले पक्षी चर्मपक्षी कहलाते हैं। जैसे–चिमगादड़ वगैरह।

(२) रोमपक्षीः–रोममय पंख वाले पक्षी रोमपक्षी कहलाते हैं। जैसे–हंस वगैरह।

(३) समुद्गकपक्षीः–डब्बे की तरह बन्द पंख वाले पक्षी समुद्गकपक्षी कहलाते हैं।

(४) विततपक्षीः–फैले हुए पंख वाले पक्षी विततपक्षी कहलाते हैं। समुद्गकपक्षी और विततपक्षी ये दोनों जाति के पक्षी अढ़ाई द्वीप

के बाहर ही होते हैं।

(ठाणांग ४, सूत्र ३५०)

२७३-जम्बूद्वीप में मेरु पर्वत पर चार वन हैं:-

(१) भद्रशाल वन
(२) नन्दन वन
(३) सौमनस वन
(४) पाण्डक वन

ये चारों वन बड़े ही मनोहर एवं रमणीय हैं।

(ठाणांग ४, सूत्र ३०२)

२७३-(क) चार कषाय का फल:-

(१) क्रोध से आत्मा नीचे गिरता है। (२) मान से अधमगति प्राप्त होती है। (३) माया से सद्गति का नाश होता है। (४) लोभ से इस लोक तथा परलोक में भय प्राप्त होता है।

(उत्तराध्ययन, अध्ययन ६, गा. ५४)

२७३-(ख) समाधि के चार भेद:-

(१) विनय समाधि (२) श्रुत समाधि
(३) तप समाधि (४) आचार समाधि

इन प्रत्येक के फिर चार–चार भेद हैं।

(दश. अध्य. ६, उ. ४)



पाँचवां बोल

(बोल नम्बर २७४ से ४२३ तक)

२७४-पञ्च परमेष्ठीः-

परम (उत्कृष्ट) स्वरूप अर्थात् आध्यात्मिक स्वरूप में स्थित आत्मा परमेष्ठी कहलाता है। परमेष्ठी पांच हैं:-

(१) अरिहन्त (२) सिद्ध
(३) आचार्य्य (४) उपाध्याय
(५) साधु

(१) अरिहन्त—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय रूप चार सर्व घाती कर्म शत्रुओं का नाश करने वाले महापुरुष अरिहन्त कहलाते हैं।

घाती कर्म शत्रु पर विजय प्राप्त करने वाले महापुरुष वन्दना, नमस्कार, पूजा और सत्कार के योग्य होते हैं तथा सिद्धगति के योग्य होते हैं। इसलिये भी वे अरिहन्त कहलाते हैं।

(२) सिद्ध—आठ कर्म नष्ट हो जाने से कृतकृत्य हुए, लोकाग्रस्थित सिद्ध गति में विराजने वाले मुक्तात्मा सिद्ध कहलाते हैं।

(३) आचार्य्य—पञ्च प्रकार के आचार का स्वयं पालन करने वाले एवं अन्य साधुओं से पालन कराने वाले गच्छ के नायक आचार्य्य कहलाते हैं।

(४) उपाध्याय—शास्त्रों को स्वयं पढ़ने एवं दूसरों को पढ़ाने वाले मुनिराज उपाध्याय कहलाते हैं।

(५) साधु—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र द्वारा मोक्ष की साधना करने वाले मुनिराज साधु कहलाते हैं।

(भगवती प्रथम शतक, मंगलाचरण)

२७५-पञ्च कल्याणकः-

तीर्थंकर भगवान् के नियमपूर्वक पांच महाकल्याणक होते हैं। वे दिन तीनों लोकों में आनन्ददायी तथा जीवों के मोक्ष रूप कल्याण के साधक हैं। पञ्च कल्याणक के अवसर पर देवेन्द्र आदि भक्तिभावपूर्वक कल्याणकारी उत्सव मनाते हैं। पञ्च कल्याणक ये हैं—

(१) गर्भ कल्याणक (च्यवन कल्याणक)
(२) जन्म कल्याणक

(३) दीक्षा (निष्क्रमण) कल्याणक
(४) केवलज्ञान कल्याणक
(५) निर्वाण कल्याणक

(पञ्चाशक)

नोटः—गर्भ कल्याणक के अवसर पर देवेन्द्र आदि के उत्सव का वर्णन नहीं पाया जाता है। भगवान् श्री महावीर स्वामी के गर्भापहरण को भी कोई-कोई आचार्य्य कल्याणक मानते हैं। गर्भापहरण कल्याणक की अपेक्षा भगवान् श्री महावीर स्वामी के छः कल्याणक कहलाते हैं।

२७६-पांच अस्तिकायः-

'अस्ति' शब्द का अर्थ 'प्रदेश' है और 'काय' का अर्थ है 'राशि'। प्रदेशों की राशि वाले द्रव्यों को अस्तिकाय कहते हैं।

अस्तिकाय पांच हैं:—

(१) धर्मास्तिकाय
(२) अधर्मास्तिकाय
(३) आकाशास्तिकाय
(४) जीवास्तिकाय
(५) पुद्गलास्तिकाय

(१) धर्मास्तिकायः—गति परिणाम वाले जीव और पुद्गलों की गति में जो सहायक हो उसे, धर्मास्तिकाय कहते हैं। जैसे—पानी, मछली की गति में सहायक होता है।

(२) अधर्मास्तिकायः—स्थिति परिणाम वाले जीव और पुद्गलों की स्थिति में जो सहायक (सहकारी) हो, उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं। जैसे—विश्राम चाहने वाले थके हुए पथिक के ठहरने में छायादार वृक्ष सहायक होता है।

(३) आकाशास्तिकायः—जो जीवादि द्रव्यों को रहने के लिए अवकाश दे, वह आकाशास्तिकाय है।

(४) जीवास्तिकायः—जिसमें उपयोग और वीर्य्य दोनों पाये जाते हैं, उसे जीवास्तिकाय कहते हैं।

(उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन २८, गाथा ११)

(५) पुद्गलास्तिकायः—जिस में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श हों और जो इन्द्रियों से ग्राह्य हो तथा विनाश धर्म वाला हो, वह पुद्गलास्तिकाय है।

(ठाणांग ५, सूत्र ४४१)

२७७-अस्तिकाय के पाँच-पाँच भेदः-

प्रत्येक अस्तिकाय के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण की अपेक्षा से पांच--पांच भेद हैं।

धर्मास्तिकाय के पाँच प्रकार–

(१) द्रव्य की अपेक्षा धर्मास्तिकाय एक द्रव्य है।

(२) क्षेत्र की अपेक्षा धर्मास्तिकाय लोक परिमाण अर्थात् सर्वलोकव्यापी है यानि लोकाकाश की तरह असंख्यात प्रदेशी है।

(३) काल की अपेक्षा धर्मास्तिकाय त्रिकाल स्थायी है। यह भूत काल में रहा है, वर्तमान काल में विद्यमान है और भविष्यत् काल में भी रहेगा। यह ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है, अक्षय एवं अव्यय है तथा अवस्थित है।

(४) भाव की अपेक्षा धर्मास्तिकाय वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श रहित है। अरूपी है तथा चेतनारहित अर्थात् जड़ है।

(५) गुण की अपेक्षा गति गुण वाला है अर्थात् गति परिणाम वाले जीव और पुद्गलों की गति में सहकारी होना इसका गुण है।

(ठाणांग ५, सूत्र ४४१)

अधर्मास्तिकाय के पाँच प्रकार–

अधर्मास्तिकाय द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा धर्मास्तिकाय जैसा ही है।

गुण की अपेक्षा अधर्मास्तिकाय स्थिति गुण वाला है।

आकाशास्तिकाय के पाँच प्रकारः–

आकाशास्तिकाय द्रव्य, काल और भाव की अपेक्षा धर्मास्तिकाय जैसा ही है।

क्षेत्र की अपेक्षा आकाशास्तिकाय लोकालोक व्यापी है और अनन्त प्रदेशी है। लोकाकाश धर्मास्तिकाय की तरह असंख्यात प्रदेशी है।

गुण की अपेक्षा आकाशास्तिकाय अवगाहना गुण वाला है अर्थात् जीव और पुद्गलों को अवकाश देना ही इसका गुण है।

जीवास्तिकाय के पाँच प्रकारः–

१–द्रव्य की अपेक्षा जीवास्तिकाय अनन्त द्रव्य रूप है क्योंकि पृथक्–पृथक् द्रव्य रूप जीव अनन्त है।

२–क्षेत्र की अपेक्षा जीवास्तिकाय लोक परिमाण है। एक जीव

की अपेक्षा जीव असंख्यात प्रदेशी हैं और सब जीवों की अपेक्षा अनन्त प्रदेशी है।

३–काल की अपेक्षा जीवास्तिकाय आदि–अन्त रहित है अर्थात् ध्रुव, शाश्वत और नित्य है।

४–भाव की अपेक्षा जीवास्तिकाय वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श रहित है। अरूपी तथा चेतना गुण वाला है।

५–गुण की अपेक्षा जीवास्तिकाय उपयोग गुण वाला है।

पुद्गलास्तिकाय के पाँच प्रकारः–

१–द्रव्य की अपेक्षा पुद्गलास्तिकाय अनन्त द्रव्य रूप है।

२–क्षेत्र की अपेक्षा पुद्गलास्तिकाय लोक परिमाण है और अनन्त प्रदेशी है।

३–काल की अपेक्षा पुद्गलास्तिकाय आदि–अन्त रहित अर्थात् ध्रुव, शाश्वत और नित्य है।

४–भाव की अपेक्षा पुद्गलास्तिकाय वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श सहित है। यह रूपी और जड़ है।

५–गुण की अपेक्षा पुद्गलास्तिकाय का ग्रहण गुण है अर्थात् औदारिक शरीर आदि रूप से ग्रहण किया जाना या इन्द्रियों से ग्रहण होना अर्थात् इन्द्रियों का विषय होना या परस्पर एक–दूसरे से मिल जाना, पुद्गलास्तिकाय का गुण है।

(ठाणांग ५, सूत्र ४४१)

२७८-गति पाँचः-

(१) नरक गति (२) तिर्यञ्च गति

(३) मनुष्य गति (४) देव गति

(५) सिद्ध गति

नोटः–गति नाम कर्म के उदय से पहले की चार गतियाँ होती हैं। सिद्ध गति, गति नाम कर्म के उदय से नहीं होती क्योंकि सिद्धों के कर्मों का सर्वथा अभाव है। यहाँ गति शब्द का अर्थ, जहाँ जीव जाते हैं, ऐसे क्षेत्र विशेष से है। चार गतियों की व्याख्या १३१ वें बोल में दे दी गई है।

(ठाणाग ५, सूत्र ४४२)

२७९-मोक्ष प्राप्ति के पाँच कारणः-

(१) काल (२) स्वभाव

(३) नियति (४) पूर्वकृत कर्मक्षय

(५) पुरुषकार (उद्योग)

इन पांच कारणों के समुदाय से मोक्ष की प्राप्ति होती है। इनमें से एक के भी न होने पर मोक्ष की प्राप्ति होना सम्भव नहीं है।

बिना काल लब्धि के मोक्ष रूप कार्य की सिद्धि नहीं होती है। भव्य जीव काल (समय) पाकर ही मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसलिए मोक्षप्राप्ति में काल की आवश्यकता है।

यदि काल को ही कारण मान लिया जाय तो अभव्य भी मुक्त हो जाँय। पर अभव्यों में मोक्षप्राप्ति का स्वभाव नहीं है। इसलिए वे मोक्ष नहीं पा सकते। भव्यों के मोक्षप्राप्ति का स्वभाव होने से ही वे मोक्ष पाते हैं।

यदि काल और स्वभाव दोनों ही कारण माने जाँय तो सब भव्य एक साथ मुक्त हो जाँय। परन्तु नियति अर्थात् भवितव्यता (होनहार) का योग न होने से ही सभी भव्य एक साथ मुक्त नहीं होते। जिन्हें काल और स्वभाव के साथ नियति का योग प्राप्त होता है, वे ही मुक्त होते हैं।

काल, स्वभाव और नियति इन तीनों को ही मोक्षप्राप्ति के कारण मान लें तो श्रेणिक राजा मोक्ष प्राप्त कर लेते। परन्तु उन्होंने मोक्ष के अनुकूल उद्योग कर, पूर्वकृत कर्मों का क्षय नहीं किया। इसलिए वे उक्त तीन कारणों का योग प्राप्त होने पर भी मुक्त न हो सके। इसलिए पुरुषार्थ और पूर्वकृत कर्मों का क्षय–ये दोनों भी मोक्ष प्राप्ति के कारण माने गये हैं।

काल, स्वभाव, नियति और पुरुषार्थ से ही मोक्ष प्राप्त हो जाता तो शालिभद्र मुक्त हो जाते। परन्तु पूर्वकृत शुभ कर्म अवशिष्ट रह जाने से वे मुक्त न हो सके। इसलिए पूर्वकृत कर्म–क्षय भी मोक्ष प्राप्ति में पाँचवाँ कारण है।

मरुदेवी माता बिना पुरुषार्थ किये मुक्त हुई हों, यह बात नहीं है। वे भी क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो कर शुक्ल ध्यान रूप अन्तरङ्ग पुरुषार्थ करके ही मुक्त हुई थीं।

इस प्रकार उक्त पाँच कारणों के समवाय से ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

(आगम सार) (भावना शतक)

२८०-पाँच निर्याण मार्गः-

मरण समय में जीव के निकलने का मार्ग निर्याण मार्ग कहलाता है।

निर्याण–मार्ग पाँच हैं:--

(१) दोनों पैर (२) दोनों जानु
(३) छाती (४) मस्तक
(५) सर्व अङ्ग

जो जीव दोनों पैरों से निकलता है वह नरकगामी होता है। दोनों जानुओं से निकलने वाला जीव तिर्यञ्च गति में जाता है।

छाती से निकलने वाला जीव मनुष्य गति में जाता है। मस्तक से निकलने वाला जीव देवों में जाकर पैदा होता है। जो जीव सभी अंगों से निकलता है। वह जीव सिद्ध गति में जाता है।

(ठाणांग ५, सूत्र ४६१)

२८१-जाति की व्याख्या और भेदः-

अनेक व्यक्तियों में एकता की प्रतीति कराने वाले समान धर्म को जाति कहते हैं। जैसे–गोत्व (गायपना) सभी भिन्न–भिन्न वर्ण की गौओं में एकता का बोध कराता है। इसी प्रकार एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय जाति एक इन्द्रिय (स्पर्श इन्द्रिय) वाले, दो इन्द्रिय (स्पर्श और रसना) वाले जीवों में एकता का ज्ञान कराती है। इसलिए एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि जीव के भेद भी जाति कहलाते हैं।

जिस कर्म के उदय से जीव एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि कहे जाय, उस नाम कर्म को जाति कहते हैं।

जाति के पाँच भेदः–

(१) एकेन्द्रिय (२) द्वीन्द्रिय (३) त्रीन्द्रिय
(४) चतुरिन्द्रिय (५) पञ्चेन्द्रिय

(१) एकेन्द्रियः–जिन जीवों के केवल स्पर्शन नामक एक ही इन्द्रिय होती है, वे एकेन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे–पृथ्वी, पानी वगैरह।

(२) द्वीन्द्रियः–(बे–इन्द्रिय) जिन जीवों के स्पर्शन और रसना ये दो इन्द्रियाँ होती हैं, वे द्वीन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे–लट, सीप, अलसिया वगैरह।

(३) त्रीन्द्रियः–जिन जीवों के स्पर्शन, रसना और नासिका–ये

तीन इन्द्रियां हों, वे त्रीन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे–चींटी, मकोड़ा वगैरह।

(४) चतुरिन्द्रियः–जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, नासिका और चक्षु ये चार इन्द्रियां होती हैं, वे चतुरिन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे–मक्खी, मच्छर, भँवरा वगैरह।

(५) पञ्चेन्द्रियः–जिन जीवों के स्पर्शन, रसना, नासिका, चक्षु और श्रोत्र ये पाँचों ही इन्द्रियां हों, वे पञ्चेन्द्रिय हैं। जैसे–मच्छ, मगर, गाय, भैंस, सर्प, पक्षी, मनुष्य वगैरह।

एकेन्द्रिय जीव की उत्कृष्ट अवगाहना कुछ अधिक १००० योजन है। द्वीन्द्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना बारह योजन है। त्रीन्द्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना तीन कोस है। चतुरिन्द्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना चार कोस है। पञ्चेन्द्रिय की उत्कृष्ट अवगाहना १००० योजन है।

(पन्नवणा, पद २३, उद्देशा २)

(प्रवचन सारोद्धार, भाग २, गाथा १०६६ से ११०४)

२८२-समकित के पाँच भेदः-

(१) उपशम समकित (२) सास्वादान समकित

(३) क्षायोपशमिक समकित (४) वेदक समकित

(५) क्षायिक समकित

(१) उपशम समकितः–अनन्तानुबन्धी चार कषाय और दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ–इन सात प्रकृतियों के उपशम से प्रगट होने वाला तत्त्व रुचि रूप आत्म–परिणाम उपशम समकित कहलाता है। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त्त है। इसका अन्तर पड़े तो जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त उत्कृष्ट देशोन अर्द्ध पुद्गल परावर्त्तन काल का। यह समकित जीव को एक भव में जघन्य एक बार, उत्कृष्ट पाँच बार प्राप्त हो सकती है।

(२) सास्वादान समकितः–उपशम समकित से गिर कर मिथ्यात्व की ओर आते हुए जीव के, मिथ्यात्व में पहुँचने से पहले जो परिणाम रहते हैं, वही सास्वादान समकित है। इसकी स्थिति जघन्य एक समय, उत्कृष्ट छः आवलिका और सात समय की होती है। सास्वादान समकित में अनन्तानुबन्धी कषायों का उदय रहने से जीव के परिणाम निर्मल नहीं रहते। इसमें तत्त्वों में अरुचि अव्यक्त (अप्रगट) रहती है और मिथ्यात्व में व्यक्त (प्रकट)। यही

दोनों में अन्तर है। सास्वादान समकित का अन्तर पड़े तो जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट देशोन अर्द्धपुद्गल परावर्तन काल का। यह समकित भी एक भव में जघन्य एक बार, उत्कृष्ट दो बार तथा अनेक भवों में जघन्य एक बार, उत्कृष्ट पाँच बार प्राप्त हो सकती है।

(३) क्षायोपशमिक समकितः—अनन्तानुबन्धी कषाय तथा उदय प्राप्त मिथ्यात्व को क्षय करके अनुदय प्राप्त मिथ्यात्व का उपशम करते हुए या उसे सम्यक्त्व रूप में परिणत करते हुए तथा सम्यक्त्व मोहनीय को वेदते हुए जीव के परिणाम विशेष को क्षायोपशमिक समकित कहते हैं। क्षायोपशमिक समकित की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त और उत्कृष्ट ६६ सागरोपम से कुछ अधिक है। इसका अन्तर पड़े तो जघन्य अन्तर्मुहूर्त्त का उत्कृष्ट देशोन अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल का। यह समकित एक भव में जघन्य एक बार, उत्कृष्ट प्रत्येक हजार बार और अनेक भवों में जघन्य दो बार, उत्कृष्ट असंख्यात बार होती है।

(४) वेदक समकितः—क्षायोपशमिक समकित वाला जीव सम्यक्त्व मोहनीय के पुञ्ज का अधिकांश क्षय करके जब सम्यक्त्व मोहनीय के आखिरी पुद्गलों को वेदता है। उस समय होने वाले आत्म परिणाम को वेदक समकित कहते हैं। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि क्षायिक समकित होने से ठीक अव्यवहित पहले क्षण में होने वाले क्षायोपशमिक समकितधारी जीव के परिणाम को वेदक समकित कहते हैं। वेदक समकित की स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट एक समय की है। एक समय के बाद वेदक समकित क्षायिक समकित में परिणत हो जाता है। इसका अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि वेदक समकित के बाद निश्चयपूर्वक क्षायिक समकित होता ही है। वेदक समकित जीव को एक बार ही आता है।

(५) क्षायिक समकितः—अनन्तानुबन्धी चार कषाय और दर्शन मोहनीय की तीन—इन सात प्रकृतियों के क्षय से होने वाला आत्मा का तत्त्वरुचि रूप परिणाम क्षायिक समकित कहलाता है। क्षायिक समकित सादि अनन्त है। इसका अन्तर नहीं पड़ता। यह समकित जीव को एक ही बार आता है और आने के बाद सदा बना रहता।

(कर्मग्रन्थ, भाग १, गाथा १५)

२८३-समकित के पाँच लक्षणः-

(१) सम (२) संवेग
(३) निर्वेद (४) अनुकम्पा
(५) आस्तिक्य

(१) समः—अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय न होना सम कहलाता है। कषाय के अभाव से होने वाला शान्ति—भाव भी सम कहा जाता है।

(२) संवेगः—मनुष्य एवं देवता के सुखों का परिहार करके मोक्ष के सुखों की इच्छा करना संवेग है।

अथवाः—

विरति परिणाम के कारण रूप मोक्ष की अभिलाषा का अध्यवसाय संवेग है।

(३) निर्वेदः—संसार से उदासीनता रूप वैराग्य भाव का होना निर्वेद कहलाता है।

(४) अनुकम्पाः—निष्पक्षपात होकर दुःखी जीवों के दुःखों को मिटाने की इच्छा अनुकम्पा है। यह अनुकम्पा द्रव्य और भाव से दो प्रकार की है।

शक्ति होने पर दुःखी जीवों के दुःख दूर करना द्रव्य अनुकम्पा है। दुःखी जीवों के दुःख देख कर दया से हृदय का कोमल हो जाना भाव अनुकम्पा है।

(५) आस्तिक्यः—जिनेन्द्र भगवान् के फरमाये हुए अतीन्द्रिय धर्म्मास्तिकाय, आत्मा, परलोक आदि पर श्रद्धा रखना आस्तिक्य है।

(धर्म संग्रह, प्रथम अधिकार)

२८४-समकित के पाँच भूषणः-

(१) जिन—शासन में निपुण होना।

(२) जिन—शासन की प्रभावना करना यानि जिन—शासन के गुणों को दिपाना। जिन—शासन की महत्ता प्रगट हो, ऐसे कार्य्य करना।

(३) चार तीर्थ की सेवा करना।

(४) शिथिल पुरुषों को उपदेशादि द्वारा धर्म में स्थिर करना।

(५) अरिहन्त, साधु तथा गुणवान पुरुषों का आदर, सत्कार करना और उनकी विनय—भक्ति करना।

(धर्म संग्रह, प्रथम अधिकार)

२८५-समकित के पाँच अतिचार:-

(१) शङ्का (२) काँक्षा

(३) विचिकित्सा (४) पर पाषंडी प्रशंसा

(५) पर पाषंडी संस्तव

(१) शङ्का:-बुद्धि के मन्द होने से अरिहन्त भगवान् से निरूपित धर्मास्तिकाय आदि गहन पदार्थों की सम्यक् धारणा न होने पर उनमें संदेह करना शङ्का है।

(२) काँक्षा:-बौद्ध आदि दर्शनों की चाह करना काँक्षा है।

(३) विचिकित्सा:-युक्ति तथा आगम संगत क्रिया विषय में फल के प्रति संदेह करना विचिकित्सा है। जैसे-नीरस तप आदि क्रिया का भविष्य में फल होगा या नहीं ?

शङ्का तत्त्व के विषय में होती है और विचिकित्सा क्रिया के फल के विषय में होती है। यही दोनों में अन्तर है।

(४) पर पाषंडी प्रशंसा:-सर्वज्ञ प्रणीत मत के सिवा अन्य मत वालों की प्रशंसा करना, पर पाषंडी प्रशंसा है।

(५) पर पाषंडी संस्तव:-सर्वज्ञ प्रणीत मत के सिवा अन्य मत वालों के साथ संवास, भोजन, आलाप, संलाप आदि रूप परिचय करना, पर पाषंडी संस्तव कहलाता है।

(उपासक दशांग सूत्र, अध्ययन १)

(हरिभद्रीय आवश्यक, पृष्ठ ८१० से ८१७)

२८६-दुर्लभ बोधि के पाँच कारण:-

पाँच स्थानों से जीव दुर्लभ बोधि योग्य मोहनीय कर्म बाँधता है।

(१) अरिहन्त भगवान् का अवर्ण वाद बोलने से।

(२) अरिहन्त भगवान् द्वारा प्ररूपित श्रुत चारित्र रूप धर्म का अवर्णवाद बोलने से।

(३) आचार्य्य उपाध्याय का अवर्णवाद बोलने से।

(४) चतुर्विध श्री संघ का अवर्णवाद बोलने से।

(५) भवान्तर में उत्कृष्ट तप और ब्रह्मचर्य का अनुष्ठान किये हुए देवों का अवर्णवाद बोलने से।

(ठाणांग ५, सूत्र ४२६)

२८७-सुलभ बोधि के पाँच बोल:-

(१) अरिहन्त भगवान् के गुणग्राम करने से।

(२) अरिहन्त भगवान् से प्ररूपित श्रुत चारित्र धर्म का गुणानुवाद करने से।

(३) आचार्य्य उपाध्याय के गुणानुवाद करने से।

(४) चतुर्विध श्री संघ की श्लाघा एवं वर्णवाद करने से।

(५) भवान्तर में उत्कृष्ट तप और ब्रह्मचर्य का सेवन किये हुए देवों का वर्णवाद, श्लाघा करने से जीव सुलभ बोधि के अनुरूप कर्म बांधते हैं।

(ठाणांग ५, सूत्र ४२६)

२८८-मिथ्यात्व पाँचः-

मिथ्यात्व मोहनीय के उदय से विपरीत श्रद्धान रूप जीव के परिणाम को मिथ्यात्व कहते हैं।

मिथ्यात्व के पांच भेदः–

(१) आभिग्रहिक (२) अनाभिग्रहिक

(३) आभिनिवेशिक (४) सांशयिक

(५) अनाभोगिक

(१) आभिग्रहिक मिथ्यात्वः–तत्त्व की परीक्षा किये बिना ही पक्षपातपूर्वक एक सिद्धान्त का आग्रह करना और अन्य पक्ष का खण्डन करना, आभिग्रहिक मिथ्यात्व है।

(२) अनाभिग्रहिक मिथ्यात्वः–गुण–दोष की परीक्षा किये बिना ही सब पक्षों को बराबर समझना, अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व है।

(३) आभिनिवेशिक मिथ्यात्वः–अपने पक्ष को असत्य जानते हुए भी उसकी स्थापना के लिए दुरभिनिवेश (दुराग्रह–हठ) करना, आभिनिवेशिक मिथ्यात्व है।

(४) सांशयिक मिथ्यात्वः–इस स्वरूप वाला देव होगा या अन्य स्वरूप का ? इसी तरह गुरु और धर्म के विषय में संदेहशील बने रहना, सांशयिक मिथ्यात्व है।

(५) अनाभोगिक मिथ्यात्वः–विचारशून्य एकेन्द्रियादि तथा विशेष ज्ञान विकल जीवों को जो मिथ्यात्व होता है, वह अनाभोगिक मिथ्यात्व कहा जाता है।

(धर्म संग्रह, अधिकार २) (कर्म ग्रन्थ, भाग ४)

२८६-पाँच आश्रवः-

जिनसे आत्मा में आठ प्रकार के कर्मों का प्रवेश होता है, वह

आश्रव है।

अथवाः—

जीव रूपी तालाब में कर्म रूप पानी का आना आश्रव है।

अथवाः—

जैसे—जल में रही हुई नौका (नाव) में छिद्रों द्वारा जल प्रवेश होता है, उसी प्रकार जीवों की पाँच इन्द्रिय, विषय, कषायादि रूप छिद्रों द्वारा कर्म रूप पानी का प्रवेश होता है। नाव में छिद्रों द्वारा पानी का प्रवेश होना द्रव्य आश्रव है और जीव में विषय कषायादि से कर्मों का प्रवेश होना भावाश्रव कहा जाता है।

आश्रव के पाँच भेदः—

(१) मिथ्यात्व (२) अविरति

(३) प्रमाद (४) कषाय

(५) योग

(१) मिथ्यात्वः—मोहवश तत्त्वार्थ में श्रद्धा न होना या विपरीत श्रद्धा होना मिथ्यात्व कहा जाता है।

(२) अविरतिः—प्राणातिपात आदि पाप से निवृत्त न होना अविरति है।

(३) प्रमादः—शुभ उपयोग के अभाव को या शुभ कार्य में यत्न, उद्यम न करने को प्रमाद कहते हैं।

अथवाः—

जिससे जीव सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र रूप मोक्ष मार्ग के प्रति उद्यम करने में शिथिलता करता है, वह प्रमाद है।

(४) कषायः—जो शुद्ध स्वरूप वाली आत्मा को कलुषित करते हैं अर्थात् कर्म मल से मलीन करते हैं, वे कषाय हैं।

अथवाः—

कष अर्थात् कर्म या संसार की प्राप्ति या वृद्धि जिस से हो, वह कषाय है।

अथवाः—

कषाय मोहनीय कर्म के उदय से होने वाला जीव का क्रोध, मान, माया, लोभ रूप परिणाम कषाय कहलाता है।

(५) योगः—मन, वचन, काया की शुभाशुभ प्रवृत्ति को योग कहते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, स्पर्शनेन्द्रिय

इन पाँच इन्द्रियों को वश में न रख कर शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श विषयों में इन्हें स्वतन्त्र रखने से भी पांच आश्रव होते हैं।

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह—ये पाँच भी आश्रव हैं।

(ठाणांग ५, सूत्र ४१८) (समवायांग)

२६०-दण्ड की व्याख्या और भेदः-

जिससे आत्मा व अन्य प्राणी दंडित हो अर्थात् उनकी हिंसा हो, इस प्रकार की मन, वचन, काया की कलुषित प्रवृत्ति को दण्ड कहते हैं।

दण्ड के पाँच भेदः—

(१) अर्थ दण्ड (२) अनर्थ दण्ड

(३) हिंसा दण्ड (४) अकस्माद्दण्ड

(५) दृष्टि विपर्यास दण्ड

(१) अर्थ दण्डः—स्व, पर या उभय के प्रयोजन के लिए त्रस, स्थावर जीवों की हिंसा करना, अर्थ दण्ड है।

(२) अनर्थ दण्डः—अनर्थ अर्थात् बिना प्रयोजन के त्रस, स्थावर जीवों की हिंसा करना, अनर्थ दण्ड है।

(३) हिंसा दण्डः—इन प्राणियों ने भूतकाल में हिंसा की है, वर्तमान काल में हिंसा करते हैं और भविष्य काल में भी करेंगे—यह सोच कर सर्प, बिच्छू, शेर आदि ज़हरीले तथा हिंसक प्राणियों का और वैरी का वध करना, हिंसा दण्ड है।

(४) अकस्माद्दण्डः—एक प्राणी के वध के लिए प्रहार करने पर दूसरे प्राणी का अकस्मात्—बिना इरादे के वध हो जाना, अकस्माद्दण्ड है।

(५) दृष्टि विपर्यास दण्डः—मित्र को वैरी समझ कर उसका वध कर देना, दृष्टि विपर्यास दण्ड है।

(ठाणांग ५, सूत्र ४१८)

२६१-प्रमाद पाँचः-

(१) मद्य (२) विषय

(३) कषाय (४) निद्रा

(५) विकथा

मज्जं विसय कसाया, निद्दा विगहा या पञ्चमी भणिया।
ए ए पञ्च पमाया, जीवं पाडेन्ति संसारे।।१।।

भावार्थः—मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा—ये पांच प्रमाद जीव को संसार में गिराते हैं।

(१) मद्यः—शराब आदि नशीले पदार्थों का सेवन करना मद्य प्रमाद है। इससे शुभ परिणाम नष्ट होते हैं और अशुभ परिणाम पैदा होते हैं। शराब में जीवों की उत्पत्ति होने से जीव—हिंसा का भी महापाप लगता है। लज्जा, लक्ष्मी, बुद्धि, विवेक आदि का नाश तथा जीव—हिंसा आदि मद्यपान के दोष प्रत्यक्ष ही दिखाई देते हैं तथा परलोक में यह प्रमाद दुर्गति में ले जाने वाला है। एक ग्रन्थकार ने मद्यपान के दोष निम्न श्लोक में बताये हैं:—

वैरूप्यं व्याधिपिण्डः स्वजनपरिभवः कार्यकालातिपातो।
विद्वेषो ज्ञाननाशः स्मृतिमतिहरणं विप्रयोगश्च सद्भिः।।
पारुष्यं नीचसेवा कुलबलविलयो धर्मकामार्थहानिः।
कष्टं वै षोडशैते निरुपचयकरा मद्यपानस्य दोषाः।।

भावार्थः—मद्यपान से शरीर कुरूप और बेडौल हो जाता है। व्याधियाँ शरीर में घर कर लेती हैं। घर के लोग तिरस्कार करते हैं। कार्य का उचित समय हाथ से निकल जाता है। द्वेष उत्पन्न होता है। ज्ञान का नाश होता है। स्मृति और बुद्धि का नाश हो जाता है। सज्जनों से जुदाई होती है। वाणी में कठोरता आ जाती है। नीचों की सेवा करनी पड़ती है। कुल की हीनता होती है और शक्ति का ह्रास हो जाता है। धर्म, काम एवं अर्थ की हानि होती है। इस प्रकार आत्मा को गिराने वाले मद्यपान के सोलह कष्टदायक दोष हैं।

(हरिभद्रीयाष्टक टीका)

(२) विषय प्रमादः—पाँच इन्द्रियों के विषय—शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श—जनित प्रमाद विषय प्रमाद है।

शब्द, रूप आदि में आसक्त प्राणी विषाद को प्राप्त होते हैं। इसलिए शब्दादि विषय कहे जाते हैं।

अथवाः—

शब्द, रूप आदि भोग के समय मधुर होने से तथा परिणाम में अति कटुक होने से विष से उपमा दिये जाते हैं। इसलिये ये विषय कहलाते हैं।

इस विषय प्रमाद से व्याकुल चित्तवाला जीव हिताहित के

विवेक से शून्य हो जाता है। इसलिये अकृत्य का सेवन करता हुआ वह चिरकाल तक दुःखरूपी अटवी में भ्रमण करता रहता है।

शब्द में आसक्त हिरण व्याध का शिकार बनता है। रूपमोहित पतंगिया दीप में जल मरता है। गन्ध में गृद्ध भँवरा सूर्यास्त के समय कमल में ही बन्द होकर नष्ट हो जाता है। रस में अनुरक्त हुई मछली काँटे में फँस कर मृत्यु का शिकार बनती है। स्पर्श सुख में आसक्त हाथी स्वतन्त्रता–सुख से वञ्चित होकर बन्धन को प्राप्त होता है। इस प्रकार अजितेन्द्रिय, विषय प्रमाद में प्रमत्त जीवों के अनेक अपाय होते हैं। एक–एक विषय के वशीभूत होकर जीव उपर्युक्त रीति से विनाश को पाते हैं। तो फिर पांचों इन्द्रियों के विषय में प्रमादी जीवों के दुःखों का तो कहना ही क्या ?

विषयासक्त जीव विषय का उपभोग करके भी कभी तृप्त नहीं होता। विषय भोग से विषयेच्छा शान्त न होकर उसी प्रकार बढ़ती है जैसे–अग्नि घी से। विषयासक्त जीव के ऐहिक दुःख यहाँ प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं और परलोक में नरक तिर्यञ्च योनि में महा दुःख भोगने पड़ते हैं। इसलिए विषय प्रमाद से निवृत्त होने में ही श्रेय है।

(३) कषाय प्रमादः–क्रोध, मान, माया, लोभ रूप कषाय का सेवन करना, कषाय प्रमाद है।

क्रोधादि का स्वरूप इस प्रकार हैः–

क्रोधः–क्रोध शुभ परिणामों का नाश करता है। वह सर्वप्रथम अपने स्वामी को जलाता है और बाद में दूसरों को। क्रोध से विवेक दूर भागता है और उसका साथी अविवेक आकर जीव को अकार्य में प्रवृत्त करता है। क्रोध, सदाचार को दूर करता है और मनुष्य को दुराचार में प्रवृत्त होने के लिये प्रेरित करता है। क्रोध वह अग्नि है, जो चिर काल से अभ्यस्त यम, नियम, तप आदि को क्षणभर में भस्म कर देती है। क्रोध के वश होकर द्वीपायन ऋषि ने स्वर्ग सरीखी सुन्दर द्वारिका नगरी को जला कर भस्म कर दिया। दोनों लोक बिगाड़ने वाला, पापमय, स्व–पर का अपकार करने वाला यह क्रोध, प्राणियों का वास्तव में महान् शत्रु है। इस क्रोध को शान्त करने का एक उपाय, क्षमा है।

मानः–कुल, जाति, बल, रूप, तप, विद्या, लाभ और ऐश्वर्य्य का

मान करना नीच गोत्र के बन्ध का कारण है। मान विवेक को भगा देता है और आत्मा को शील, सदाचार से गिरा देता है। वह विनय का नाश कर देता है और विनय के साथ ज्ञान का भी। फिर आश्चर्य तो यह है कि मान से जीव ऊँचा बनना चाहता है पर कार्य नीचे होने का करता है। इसलिए उन्नति के इच्छुक आत्मा को विनय का आश्रय लेना चाहिये और मान का परिहार करना चाहिये।

मायाः—माया अविद्या की जननी है और अकीर्ति का घर है। मायापूर्वक सेवित तप संयमादि अनुष्ठान नकली सिक्के की तरह असार हैं और स्वप्न तथा इन्द्रजाल की माया के समान निष्फल हैं। माया शल्य है, वह आत्मा को व्रतधारी नहीं बनने देती क्योंकि व्रती निःशल्य होता है। माया इस लोक में तो अपयश देती है और परलोक में दुर्गति। ऋजुता अर्थात् सरलता धारण करने से माया कषाय नष्ट हो जाती है। इसलिये माया का त्याग कर, सरलता को अपनाना चाहिये।

लोभ कषायः—लोभ कषाय सब पापों का आश्रय है। इसके पोषण के लिए जीव माया का भी आश्रय लेता है। सभी जीवों में जीने की इच्छा प्रबल होती है और मृत्यु से डरते हैं। किन्तु लोभ, इसके विपरीत, जीवों को ऐसे कार्यों में प्रवृत्त करता है, जिन में सदा मृत्यु का खतरा बना रहता है। यदि जीव वहीं मर गया तो लोभ के परिणामस्वरूप उसे दुर्गति में दुःख भोगने पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में, उसका यहाँ का सारा परिश्रम व्यर्थ हो जाता है। यदि उससे लाभ भी हो गया तो उसके भागी और ही होते हैं। अधिक क्या कहा जाय, लोभी आत्मा को स्वामी, गुरु, भाई, वृद्ध, स्त्री, बालक, क्षीण, दुर्बल, अनाथ आदि की हत्या करने में भी हिचकिचाहट नहीं होती। संक्षेप में, यों कह सकते हैं कि शास्त्रकारों ने नरक गति के कारणरूप जो दोष बताये हैं, वे सभी दोष लोभ से प्रगट होते हैं। लोभ की औषधि सन्तोष है। इसलिए इच्छा का संयमन कर संतोष को धारण करना चाहिये।

(४) निद्रा प्रमादः—जिस में चेतना अस्पष्ट भाव को प्राप्त हो, ऐसी सोने की क्रिया निद्रा है। अधिक निद्रालु जीव न ज्ञान का उपार्जन कर सकता है और न धन का ही। ज्ञान और धन दोनों

के न होने से वह दोनों लोक में दुःख का भागी होता है। निद्रा में संयम न रखने से यह प्रमाद सदा बढ़ता रहता है, जिससे अन्य कर्त्तव्य कार्यों में बाधा पड़ती है।

कहा भी हैः–

वर्द्धन्ते पञ्च कौन्तेय ! सेव्यमानानि नित्यशः।
आलस्यं मैथुनं निद्रा क्षुधा क्रोधश्च पञ्चमः।।१।।

हे अर्जुन ! आलस्य, मैथुन, निद्रा, क्षुधा और क्रोध–ये पांचों प्रमाद सेवन किये जाने से सदा बढ़ते रहते हैं।

इसलिए निद्रा प्रमाद का त्याग करना चाहिए। समय पर स्वास्थ्य के लिए आवश्यक निद्रा के सिवा अधिक निद्रा न लेनी चाहिये और असमय में नहीं सोना चाहिये।

(५) विकथा प्रमादः–प्रमादी साधु राग–द्वेष वश होकर जो वचन कहता है, वह विकथा है। स्त्री आदि के विषय की कथा करना भी विकथा है।

नोटः–विकथा का विशेष वर्णन १४८ वें बोल में दिया गया है।

(ठाणांग ६, सूत्र ५०२)

(धर्म संग्रह, अधिकार २, पृष्ठ ८१)

(पञ्चाशक प्रथम, गाथा २३)

२६२-क्रिया की व्याख्या और उसके भेदः-

कर्म–बन्ध की कारण चेष्टा को क्रिया कहते हैं।

अथवाः–

दुष्ट व्यापार विशेष को क्रिया कहते हैं।

अथवाः–

कर्म–बन्ध के कारण रूप कायिकी आदि पांच–पांच करके पच्चीस क्रियाएं हैं। वे जैनागम में क्रिया शब्द से कही गई हैं।

क्रिया के पांच भेदः–

(१) कायिकी (२) आधिकरणिकी
(३) प्राद्वेषिकी (४) पारितापनिकी
(५) प्राणातिपातिकी क्रिया

(१) कायिकीः–काया से होने वाली क्रिया कायिकी क्रिया कहलाती है।

(२) आधिकरणिकीः–जिस अनुष्ठान विशेष अथवा बाह्य खड्गादि

शस्त्र से आत्मा नरक गति का अधिकारी होता है। वह अधिकरण कहलाता है। उस अधिकरण से होने वाली क्रिया, आधिकरणिकी कहलाती है।

(३) प्राद्वेषिकी:—कर्म—बन्ध के कारणरूप जीव के मत्सर भाव अर्थात् ईर्ष्यारूप अकुशल परिणाम को प्रद्वेष कहते हैं। प्रद्वेष से होने वाली क्रिया, प्राद्वेषिकी कहलाती है।

(४) पारितापनिकी:—ताड़नादि से दुःख देना अर्थात् पीड़ा पहुँचाना, परिताप है। इससे होने वाली क्रिया पारितापनिकी कहलाती है।

(५) प्राणातिपातिकी क्रिया:—इन्द्रिय आदि प्राण हैं। उनके अतिपात अर्थात् विनाश से लगने वाली क्रिया, प्राणातिपातिकी क्रिया है।

(ठाणांग २, सूत्र ६०) (ठाणांग ५, सूत्र ४१९) (पन्नवणा, पद २२)

२९३-क्रिया पाँच:-

(१) आरम्भिकी (२) पारिग्रहिकी
(३) माया प्रत्यया (४) अप्रत्याख्यानिकी
(५) मिथ्यादर्शन प्रत्यया

(१) आरम्भिकी:—छः कायारूप जीव तथा अजीव (जीवरहित शरीर, आटे वगैरह के बनाये हुए जीव की आकृति के पदार्थ या वस्त्रादि) के आरम्भ अर्थात् हिंसा से लगने वाली क्रिया, आरम्भिकी क्रिया कहलाती है।

(२) पारिग्रहिकी:—मूर्च्छा अर्थात् ममता को परिग्रह कहते हैं। जीव और अजीव में मूर्च्छा, ममत्व भाव से लगने वाली क्रिया, पारिग्रहिकी है।

(३) माया प्रत्यया:—छल—कपट को माया कहते हैं। माया द्वारा दूसरों को ठगने के व्यापार से लगने वाली क्रिया, माया प्रत्यया है। जैसे—अपने अशुभ भाव छिपा कर शुभ भाव प्रगट करना, झूठे लेख लिखना आदि।

(४) अप्रत्याख्यानिकी क्रिया:—अप्रत्याख्यान अर्थात् थोड़ा—सा भी विरति परिणाम न होने रूप क्रिया, अप्रत्याख्यानिकी क्रिया है।

अथवा:—

अव्रत से जो कर्म बन्ध होता है, वह अप्रत्याख्यान क्रिया है।

(५) मिथ्यादर्शन प्रत्यया:–मिथ्यादर्शन अर्थात् तत्त्व में अश्रद्धान या विपरीत श्रद्धान से लगने वाली क्रिया, मिथ्यादर्शन प्रत्यया क्रिया है।

(ठाणांग २, सूत्र ६०) (ठाणांग ५, सूत्र ४१६)
(पन्नवणा, पद २२)

२६४-क्रिया के पांच प्रकार:-

(१) दृष्टिजा (दिट्ठिया)
(२) पृष्टिजा या स्पर्शजा (पुट्ठिया)
(३) प्रातीत्यिकी (पाडुच्चिया)
(४) सामन्तोपनिपातिकी (सामन्तोवणिया)
(५) स्वाहस्तिकी (साहत्थिया)

(१) दृष्टिजा (दिट्ठिया):–अश्वादि जीव और चित्रकर्म आदि अजीव पदार्थों को देखने के लिये गमनरूप क्रिया, दृष्टिजा (दिट्ठिया) क्रिया है।

दर्शन, या देखी हुई वस्तु के निमित्त से लगने वाली क्रिया भी दृष्टिजा क्रिया है।

अथवा:–

दर्शन से जो कर्म उदय में आता है, वह दृष्टिजा क्रिया है।

(२) पृष्टिजा या स्पर्शजा (पुट्ठिया):–राग–द्वेष के वश हो कर जीव या अजीव विषयक प्रश्न से या उनके स्पर्श से लगने वाली क्रिया, पृष्टिजा या स्पर्शजा क्रिया है।

(३) प्रातीत्यिकी (पाडुच्चिया):–जीव और अजीवरूप बाह्य वस्तु के आश्रय से जो राग–द्वेष की उत्पत्ति होती है, तज्जनित कर्म बन्ध को प्रातीत्यिकी (पाडुच्चिया) क्रिया कहते हैं।

(४) सामन्तोपनिपातिकी–(सामन्तोवणिया):–चारों तरफ से आकर इकट्ठे हुए लोग ज्यों–ज्यों किसी प्राणी, घोड़े, गोधे (सांड) आदि प्राणियों की और अजीव–रथ आदि की प्रशंसा सुनकर हर्षित होते हैं; हर्षित होते हुए उन पुरुषों को देखकर अश्वादि के स्वामी को जो क्रिया लगती है, वह सामन्तोपनिपातिकी क्रिया है।

(आवश्यक निर्युक्ति)

(५) स्वाहस्तिकी:–अपने हाथ में ग्रहण किये हुए जीव या अजीव (जीव की प्रतिकृति) को मारने से अथवा ताडन करने से

लगने वाली क्रिया, स्वाहस्तिकी (साहत्थिया) क्रिया है।

(ठाणांग २, सूत्र ६०) (ठाणांग ५, सूत्र ४१६)

२६५-क्रिया के पांच भेदः-

(१) नैसृष्टिकी (नेसत्थिया)

(२) आज्ञापनिका या आनायनी (आणवणिया)

(३) वैदारिणी (वेयारणिया)

(४) अनाभोग प्रत्यया (अणाभोग वत्तिया)

(५) अनवकांक्षा प्रत्यया (अणवकंख वत्तिया)

(१) नैसृष्टिकी (नेसत्थिया):—राजा आदि की आज्ञा से यंत्र (फव्वारे आदि) द्वारा जल छोड़ने से अथवा धनुष से बाण फेंकने से होने वाली क्रिया, नैसृष्टिकी क्रिया है।

अथवा:--

गुरु आदि को शिष्य या पुत्र देने से अथवा निर्दोष आहार–पानी आदि देने से लगने वाली क्रिया, नैसृष्टिकी क्रिया है।

(२) आज्ञापनिका या आनायनी (आणवणिया):—जीव अथवा अजीव को आज्ञा देने से अथवा दूसरे के द्वारा मंगाने से लगने वाली क्रिया, आज्ञापनिका या आनायनी क्रिया है।

(३) वैदारिणी (वेयारणिया):—जीव अथवा अजीव को विदारण करने से लगने वाली क्रिया, वैदारिणी क्रिया है।

अथवा:—

जीव–अजीव के व्यवहार में व्यापारियों की भाषा में या भाव में असमानता होने पर दुभाषिया या दलाल जो सौदा करा देता है, उससे लगने वाली क्रिया भी वेयारणिया क्रिया है।

अथवा:-

लोगों को ठगने के लिये कोई पुरुष किसी जीव अर्थात् पुरुष आदि की या अजीव रथ आदि की प्रशंसा करता है, इस वञ्चना (ठगाई) से लगने वाली क्रिया भी वेयारणिया क्रिया है।

(४) अनाभोग प्रत्यया (अणाभोग वत्तिया):—अनुपयोग से वस्त्रादि को ग्रहण करने तथा वरतन आदि को पूंजने से लगने वाली क्रिया, अनाभोग प्रत्यया क्रिया है।

(५) अनवकांक्षा प्रत्यया (अणवकंख वत्तिया):—स्व–पर के शरीर की अपेक्षा न करते हुए, स्व–पर को हानि पहुँचाने से लगने

वाली क्रिया, अनवकांक्षा प्रत्यया क्रिया है।

अथवाः—

इस लोक और परलोक की परवाह न करते हुए दोनों लोक विरोधी हिंसा, चोरी, आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान आदि से लगने वाली क्रिया, अनवकांक्षा प्रत्यया क्रिया है।

(ठाणांग २, सूत्र ६०) (ठाणांग ५, सूत्र ४१६)
(आवश्यक निर्युक्ति)

२६६-क्रिया के पाँच भेदः-

(१) प्रेम प्रत्यया (पेज्ज वत्तिया)
(२) द्वेष प्रत्यया
(३) प्रायोगिकी क्रिया
(४) सामुदानिकी क्रिया
(५) ईर्यापथिकी क्रिया

(१) प्रेम प्रत्यया (पेज्ज वत्तिया):—प्रेम (राग) यानि माया और लोभ के कारण से लगने वाली क्रिया प्रेम प्रत्यया क्रिया है।

अथवाः—

दूसरे में प्रेम (राग) उत्पन्न करने वाले वचन कहने से लगने वाली क्रिया, प्रेम प्रत्यया क्रिया कहलाती है।

(२) द्वेष प्रत्ययाः—जो स्वयं द्वेष अर्थात् क्रोध और मान करता है और दूसरे में द्वेष आदि उत्पन्न करता है, उससे लगने वाली अप्रीतिकारी क्रिया, द्वेष प्रत्यया क्रिया है।

(३) प्रायोगिकी क्रियाः—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान करना, तीर्थंकरों से निन्दित सावद्य अर्थात् पापजनक वचन बोलना, तथा प्रमाद—पूर्वक जाना—आना, हाथ पैर फैलाना, संकोचना आदि मन, वचन, काया के व्यापारों से लगने वाली क्रिया, प्रायोगिकी क्रिया है।

(४) सामुदानिकी क्रियाः—जिससे समग्र अर्थात् आठ कर्म ग्रहण किये जाते हैं, वह सामुदानिकी क्रिया है। सामुदानिकी क्रिया देशोपघात और सर्वोपघात रूप से दो भेद वाली है।

अथवाः—

अनेक जीवों को एक साथ जो एक—सी क्रिया लगती है, वह सामुदानिकी क्रिया है। जैसे—नाटक, सिनेमा आदि के दर्शकों को एक साथ एक ही क्रिया लगती है। इस क्रिया से उपार्जित कर्मों

का उदय भी उन जीवों के एक साथ प्रायः एक–सा ही होता है। जैसे–भूकम्प वगैरह।

अथवाः–

जिससे प्रयोग (मन, वचन, काया के व्यापार) द्वारा ग्रहण किये हुए एवं समुदाय अवस्था में रहे हुए कर्म प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप में व्यवस्थित किये जाते हैं, वह सामुदानिकी क्रिया है। यह क्रिया मिथ्या दृष्टि से लगाकर सूक्ष्म सम्पराय गुण स्थान तक लगती है।

(सूयगडांगसूत्र, श्रुतस्कन्ध २, अध्ययन २)

(५) ईर्यापथिकी क्रियाः–उपशान्त मोह, क्षीण मोह और सयोगी केवली इन तीन गुण स्थानों में रहे हुए अप्रमत्त साधु के केवल योग कारण से जो सातावेदनीय कर्म बँधता है, वह ईर्यापथिकी क्रिया है।

(ठाणांग २, सूत्र ६०) (ठाणांग ५, सूत्र ४१६)

(आवश्यक निर्युक्ति)

२६७-असंयम पाँचः-

पाप से निवृत्त न होना, असंयम कहलाता है अथवा सावद्य अनुष्ठान सेवन करना असंयम है।

एकेन्द्रिय जीवों का समारम्भ करने वाले के पांच प्रकार का असंयम होता हैः–

(१) पृथ्वीकाय असंयम
(२) अप्काय असंयम
(३) तेजस्काय असंयम
(४) वायुकाय असंयम
(५) वनस्पतिकाय असंयम

पञ्चेन्द्रिय जीवों का समारम्भ करने वाला पाँच इन्द्रियों का व्याघात करता है। इसलिये उसे पाँच प्रकार का असंयम होता है।

(१) श्रोत्रेन्द्रिय असंयम (२) चक्षुरिन्द्रिय असंयम
(३) घ्राणेन्द्रिय असंयम (४) रसनेन्द्रिय असंयम
(५) स्पर्शनेन्द्रिय असंयम

सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्व का समारम्भ करने वाले के पाँच प्रकार का असंयम होता हैः–

(१) एकेन्द्रिय असंयम (२) द्वीन्द्रिय असंयम

(३) त्रीन्द्रिय असंयम (४) चतुरिन्द्रिय असंयम
(५) पञ्चेन्द्रिय असंयम

(ठाणांग ५, सूत्र ४२६)

२६८-संयम पाँचः-

सम्यक् प्रकार सावद्य योग से निवृत्त होना या आश्रव से विरत होना या छः काया की रक्षा करना संयम है।

एकेन्द्रिय जीवों का समारम्भ न करने वाले के पाँच प्रकार का संयम होता है।

(१) पृथ्वीकाय संयम (२) अप्काय संयम
(३) तेजस्काय संयम (४) वायुकाय संयम
(५) वनस्पतिकाय संयम

पञ्चेन्द्रिय जीवों का समारम्भ न करने वाला पाँच इन्द्रियों का व्याघात नहीं करता है। इसलिये उसका पाँच प्रकार का संयम होता है।

(१) श्रोत्रेन्द्रिय संयम (२) चक्षुरिन्द्रिय संयम
(३) घ्राणेन्द्रिय संयम (४) रसनेन्द्रिय संयम
(५) स्पर्शनेन्द्रिय संयम

सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्व का समारम्भ न करने वाले के पाँच प्रकार का संयम होता है:-

(१) एकेन्द्रिय संयम (२) द्वीन्द्रिय संयम
(३) त्रीन्द्रिय संयम (४) चतुरिन्द्रिय संयम
(५) पञ्चेन्द्रिय संयम

(ठाणांग ५ सूत्र, ४२६ से ४३१)

२६६-पाँच संवरः-

कर्म बन्ध के कारण प्राणातिपात आदि जिससे रोके जांय, वह संवर है।

अथवा:-

जीवरूपी तालाब में आते हुए कर्मरूप पानी का रुक जाना संवर कहलाता है।

अथवा:-

जैसे:-जल में रही हुई नाव में निरन्तर जल प्रवेश कराने वाले छिद्रों को किसी द्रव्य से रोक देने पर, पानी आना रुक जाता है। उसी प्रकार जीवरूपी नाव में कर्मरूपी जल प्रवेश कराने वाले

इन्द्रियादिरूप छिद्रों को सम्यक् प्रकार से संयम, तप आदि के द्वारा रोकने से आत्मा में कर्म का प्रवेश नहीं होता। नाव में पानी का रुक जाना द्रव्य संवर है और आत्मा में कर्मों के आगमन को रोक देना, भाव संवर है।

संवर के पाँच भेदः–

(१) सम्यक्त्व (२) विरति

(३) अप्रमाद (४) अकषाय

(५) अयोग (शुभयोग)

(प्रश्न व्याकरण) (ठाणांग ५, सूत्र ४१८)

(१) श्रोत्रेन्द्रिय संवर (२) चक्षुरिन्द्रिय संवर

(३) घ्राणेन्द्रिय संवर (४) रसनेन्द्रिय संवर

(५) स्पर्शनेन्द्रिय संवर

(ठाणांग ५, सूत्र ४२७)

(१) अहिंसा (२) अमृषा

(३) अचौर्य्य (४) अमैथुन

(५) अपरिग्रह

(१) सम्यक्त्वः–सुदेव, सुगुरु और सुधर्म में विश्वास होना, सम्यक्त्व है।

(२) विरतिः–प्राणातिपात आदि पाप–व्यापार से निवृत्त होना, विरति है।

(३) अप्रमादः–मद्य, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा–इन पाँच प्रमादों का त्याग करना, अप्रमत्त भाव में रहना, अप्रमाद है।

(४) अकषायः–क्रोध, मान, माया, लोभ–इन चार कषायों को त्याग कर क्षमा, मार्दव, आर्जव और शौच (निर्लोभता) का सेवन करना, अकषाय है।

(५) अयोगः–मन, वचन, काया के व्यापारों का निरोध करना अयोग है। निश्चय दृष्टि से योग निरोध ही संवर है। किन्तु व्यवहार से शुभ योग ही संवर माना जाता है।

(प्रश्न व्याकरण, धर्मद्वार ५ वां)

पाँचों इन्द्रियों को उनके विषय शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श की ओर जाने से रोकना, उन्हें अशुभ व्यापार से निवृत्त करके शुभ व्यापार में लगाना, श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन इन्द्रियों का

संवर है।

(१) अहिंसाः—किसी जीव की हिंसा न करना या दया करना, अहिंसा है।

(२) अमृषाः—झूठ न बोलना या निरवद्य सत्य वचन बोलना, अमृषा है।

(३) अचौर्य्यः—चोरी न करना या स्वामी की आज्ञा माँग कर कोई भी चीज़ लेना, अचौर्य्य है।

(४) अमैथुनः—मैथुन का त्याग करना अर्थात् ब्रह्मचर्य्य पालन करना, अमैथुन है।

(५) अपरिग्रहः—परिग्रह का त्याग करना, ममता मूर्च्छा से रहित होना या शौच सन्तोष का सेवन करना, अपरिग्रह है।

(प्रश्न व्याकरण, धर्म द्वार)

३००-अणुव्रत पाँचः-

महाव्रत की अपेक्षा छोटा व्रत अर्थात् एक देश त्याग का नियम अणुव्रत है। इसे शीलव्रत भी कहते हैं।

अणुव्रतः—

सर्व विरत साधु की अपेक्षा अणु अर्थात् थोड़े गुण वाले (श्रावक) के व्रत अणुव्रत कहलाते हैं।

श्रावक के स्थूल प्राणातिपात आदि त्याग रूप व्रत, अणुव्रत हैं। अणुव्रत पाँच हैं:—

(१) स्थूल प्राणातिपात का त्याग

(२) स्थूल मृषावाद का त्याग

(३) स्थूल अदत्तादान का त्याग

(४) स्वदार सन्तोष

(५) इच्छा—परिमाण

(१) स्थूल प्राणातिपात का त्यागः—स्वशरीर में पीड़ाकारी, अपराधी तथा सापेक्ष निरपराधी के सिवा शेष द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक हिंसा का दो करण, तीन योग से त्याग करना, स्थूल प्राणातिपात त्याग रूप प्रथम अणुव्रत है।

(२) स्थूल मृषावाद का त्यागः—दुष्ट अध्यवसायपूर्वक तथा स्थूल वस्तु विषयक बोला जाने वाला असत्य—झूठ, स्थूल मृषावाद है। अविश्वास आदि के कारणस्वरूप इस स्थूल मृषावाद का दो

करण, तीन योग से त्याग करना, स्थूल मृषावाद–त्याग रूप द्वितीय अणुव्रत है।

स्थूल मृषावाद पाँच प्रकार का हैः–

१. कन्या–वर सम्बन्धी झूठ।

२. गाय, भैंस आदि पशु सम्बन्धी झूठ।

३. भूमि सम्बन्धी झूठ।

४. किसी की धरोहर दबाना या उसके सम्बन्ध में झूठ बोलना।

५. झूठी गवाही देना।

(३) स्थूल अदत्तादान का त्यागः–क्षेत्रादि में सावधानी से रखी हुई या असावधानी से पड़ी हुई या भूली हुई किसी सचित्त, अचित्त स्थूल वस्तु को, जिसे लेने से चोरी का अपराध लग सकता हो अथवा दुष्ट अध्यवसायपूर्वक साधारण वस्तु को स्वामी की आज्ञा बिना लेना, स्थूल अदत्तादान है। खात खनना, गांठ खोलकर चीज निकालना, जेब काटना, दूसरे के ताले को बिना आज्ञा चाबी लगाकर खोलना, मार्ग में चलते हुए को लूटना, स्वामी का पता होते हुए भी, किसी पड़ी वस्तु को ले लेना आदि स्थूल अदत्तादान में शामिल हैं। ऐसे स्थूल अदत्तादान का दो करण, तीन योग से त्याग करना, स्थूल अदत्तादान त्याग रूप तृतीय अणुव्रत है।

(४) स्वदार सन्तोषः–स्व–स्त्री अर्थात् अपने साथ ब्याही हुई स्त्री में सन्तोष करना। विवाहित पत्नी के सिवा शेष औदारिक शरीरधारी अर्थात् मनुष्य तिर्यञ्च के शरीर को धारण करने वाली स्त्रियों के साथ एक करण, एक योग से (अर्थात् काय से सेवन नहीं करूँगा इस प्रकार) तथा वैक्रिय शरीरधारी अर्थात् देव शरीर–धारी स्त्रियों के साथ दो करण, तीन योग से मैथुन सेवन का त्याग करना, स्वदार–सन्तोष नामक चौथा अणुव्रत है।

(५) इच्छा–परिमाणः–(परिग्रह परिमाण) क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य, हिरण्य, सुवर्ण, द्विपद, चतुष्पद एवं कुप्य (सोने–चाँदी के सिवा कॉसा, तॉबा, पीतल आदि के पात्र तथा अन्य घर का सामान)–इन नव प्रकार के परिग्रह की मर्यादा करना एवं मर्यादा उपरान्त परिग्रह का एक करण, तीन योग से त्याग करना इच्छा–परिमाण व्रत है। तृष्णा, मूर्छा कम कर, सन्तोपरत रहना ही इस व्रत का

मुख्य उद्देश्य है।

(हरिभद्रीय आवश्यक, पृष्ठ ८१७ सं ८२६)

(ठाणांग ५, सूत्र ३८६) (उपासक दशांग) (धर्म संग्रह, अधिकार २)

३०१-अहिंसा अणुव्रत (स्थूल प्राणातिपात-विरमण व्रत) के पाँच अतिचारः-

वर्जित कार्य को करने का विचार करना अतिक्रम है। कार्य–पूर्ति यानि व्रतभङ्ग के लिए साधन एकत्रित करना व्यतिक्रम है। व्रतभङ्ग की पूरी तैयारी है परन्तु जब तक व्रतभङ्ग नहीं हुआ है तब तक अतिचार हैं। अथवा व्रत की अपेक्षा रखते हुए कुछ अंश में व्रत का भङ्ग करना अतिचार है। व्रत की अपेक्षा न रखते हुए संकल्पपूर्वक व्रतभङ्ग करना अनाचार है। इस प्रकार अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार--ये चारों व्रत की मर्यादा भङ्ग करने के प्रकार हैं। शास्त्रों में व्रतों के अतिचारों का वर्णन है। परन्तु यह मध्यम भङ्ग का प्रकार है और इससे आगे के अतिक्रम, व्यतिक्रम और पीछे का अनाचार भी ग्रहण किये जाते हैं। वे भी त्याज्य हैं। यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि यदि संकल्पपूर्वक व्रतों की बिना अपेक्षा किये अतिचारों का सेवन किया जाय तो वह अनाचार–सेवन ही है और वह व्रतभङ्ग का कारण है।

प्रथम अणुव्रत के पाँच अतिचारः–

(१) बन्ध (२) वध

(३) छविच्छेद (४) अतिभार

(५) भक्त–पान व्यवच्छेद

(१) बन्धः–द्विपद, चतुष्पदों को रस्सी आदि से अन्यायपूर्वक बाँधना, बन्ध है। यह बन्ध दो प्रकार का हैः–

१. द्विपद का बन्ध

२. चतुष्पद का बन्ध

प्रत्येक के फिर दो–दो भेद हैंः–

एक अर्थबन्ध और दूसरा अनर्थबन्ध। अर्थबन्ध भी दो प्रकार का हैः–

(१) सापेक्ष अर्थबन्ध

(२) निरपेक्ष अर्थबन्ध

द्विपद, चतुष्पद को इस प्रकार से बांधना कि आग आदि लगने पर आसानी से खोले जा सकें, सापेक्ष बन्ध कहलाता है। जैसे–

चतुष्पद गाय, भैंस आदि और द्विपद दासी, चोर या दुर्विनीत पुत्र को उनकी रक्षा या भलाई का ख्याल कर या शिक्षा के लिए करुणापूर्वक, शरीर की हानि और कष्ट को बचाते हुए बाँधना, सापेक्ष बन्ध है। लापरवाही के साथ, निर्दयतापूर्वक, क्रोधवश गाढ़ा बन्धन बांध देना, निरपेक्ष अर्थबन्ध है। श्रावक के लिए सापेक्ष अर्थबन्ध अतिचार रूप नहीं है। अनर्थबन्ध एवं निरपेक्ष अर्थबन्ध अतिचाररूप हैं और श्रावक के लिए त्याज्य हैं।

(२) वधः—कोड़े आदि से मारना वध है। इसके भी बन्ध की तरह अर्थ, अनर्थ एवं सापेक्ष, निरपेक्ष प्रकार से दो—दो भेद हैं। अनर्थ एवं निरपेक्ष, वध अतिचार में शामिल हैं। शिक्षा के हेतु दास, दासी, पुत्र आदि को या नुकसान करते हुए चतुष्पद को, आवश्यकता होने पर दयापूर्वक, उनके मर्मस्थानों पर चोट न लगाते हुए मारना, सापेक्ष अर्थबन्ध है। यह श्रावक के लिए अतिचाररूप नहीं है।

(३) छविच्छेदः—शस्त्र से अङ्गोपाङ्ग का छेदन करना, छविच्छेद है। छविच्छेद भी बन्ध और वध की तरह सप्रयोजन तथा निष्प्रयोजन और सापेक्ष तथा निरपेक्ष होता है। निष्प्रयोजन तथा प्रयोजन होने पर भी निर्दयतापूर्वक हाथ, पैर, कान, नाक आदि का छेदन करना अतिचाररूप है और वह श्रावक के लिए त्याज्य है। किन्तु प्रयोजन होने पर दयापूर्वक, सामने वाले की भलाई के लिए गांठ, मस्सा वगैरह काटना, जैसे डाक्टर या वैद्य चीरफाड़ करते हैं, डाम देकर जलाना आदि सापेक्ष छविच्छेद है। सापेक्ष छविच्छेद से श्रावक अतिचार के दोष का भागी नहीं होता।

(४) अतिभारः—द्विपद, चतुष्पद पर उसकी शक्ति से अधिक भार लादना अतिभार है। श्रावक को मनुष्य अथवा पशु पर, क्रोध अथवा लोभवश, निर्दयता के साथ अधिक भार नहीं धरना चाहिये और न मनुष्य तथा पशुओं पर बोझ लादने की वृत्ति करनी चाहिये। यदि अन्य जीविका न हो और यह वृत्ति करनी ही पड़े तो करुणाभाव रखकर, सामने वाले के स्वास्थ्य का ध्यान रखता हुआ करे। मनुष्य से उतना ही भार उठवाना चाहिये, जितना वह स्वयं उठा सके और स्वयं उतार सके। ऊँट, बैल आदि पर भी स्वाभाविक भार से कम लादना चाहिये। हल, गाड़ी वगैरह से बैलों को नियत समय पर छोड़ देना चाहिये। इसी तरह गाडी, तांगे, इक्के, घोड़े

आदि पर सवारी चढ़ाने में भी विवेक रखना चाहिये।

(५) भक्तपान विच्छेदः—निष्कारण, निर्दयता के साथ किसी के आहार—पानी का विच्छेद करना, भक्तपान विच्छेद अतिचार है। तीव्र क्षुधा और प्यास से व्याकुल होकर कई प्राणी मर जाते हैं। और भी इससे अनेक दोषों की सम्भावना है। इसलिये इस अतिचार का परिहार करना चाहिये। रोगादि निमित्त से वैद्यादि के कहने पर, या शिक्षा के हेतु आहार—पानी न देना या भय दिखाने के लिये आहार न देने की बात कहना, सापेक्ष भक्तपान विच्छेद है और यह अतिचार रूप नहीं है।

नोटः—बिना कारण किसी की जीविका का नाश करना तथा नियत समय पर वेतन न देना आदि भी इसी अतिचार में गर्भित है।

(हरिभद्रीय आवश्यक, पृष्ठ ८१९) (उपासक दशांग सूत्र)

३०२-सत्याणुव्रत (स्थूल मृषावाद विरमण व्रत) के पाँच अतिचारः-

(१) सहसाऽभ्याख्यान (२) रहोऽभ्याख्यान

(३) स्वदार मन्त्रभेद (४) मृषोपदेश

(५) कूट लेखकरण

(१) सहसाऽभ्याख्यानः—बिना विचारे किसी पर मिथ्या आरोप लगाना, सहसाऽभ्याख्यान है। अनुपयोग अर्थात् असावधानी से, बिना विचारे आरोप लगाना अतिचार है। जानते हुए, इरादापूर्वक तीव्र संक्लेश से मिथ्या आरोप लगाना, अनाचार है और उससे व्रत भंग हो जाता है।

(२) रहोऽभ्याख्यानः—एकान्त में सलाह करते हुए व्यक्तियों पर आरोप लगाना रहोऽभ्याख्यान है। जैसे—ये राजा के अपकार की मन्त्रणा करते हैं। अनुपयोग से ऐसा करना अतिचार माना गया है और जानबूझ कर ऐसा करना अनाचार में शामिल है। एकान्त विशेषण होने से, यह अतिचार पहले अतिचार से भिन्न है। इस अतिचार में सम्भावित अर्थ कहा जाता है।

(३) स्वदार मन्त्रभेदः—स्वस्त्री के साथ एकान्त में हुई विश्वस्त मन्त्रणा (वार्तालाप) का दूसरे से कहना स्वदार मन्त्रभेद है।

अथवाः—

विश्वास करने वाली स्त्री, मित्र आदि की गुप्त मन्त्रणा का प्रकाश करना स्वदार मन्त्रभेद है।

यद्यपि वक्ता पुरुष, स्त्री या मित्र के साथ हुई सत्य मन्त्रणा को ही कहता है परन्तु अप्रकाश्य मन्त्रणा के प्रकाशित हो जाने से लज्जा एवं संकोचवश स्त्री, मित्र आदि आत्मघात कर सकते हैं या जिसके आगे उक्त मन्त्रणा प्रकाशित की गई है, उसी का घात कर सकते हैं। इस प्रकार अनर्थ परम्परा का कारण होने से, वास्तव में यह त्याज्य ही है।

(४) मृषोपदेशः—बिना विचारे, अनुपयोग से या किसी बहाने से दूसरों को असत्य उपदेश देना मिथ्योपदेश है। जैसे—हम लोगों ने ऐसा—ऐसा झूठ कह कर, अमुक व्यक्ति को हरा दिया था इत्यादि कह कर दूसरों को असत्य वचन कहने में प्रेरित करना।

अथवाः—

असत्य उपदेश देना मृषोपदेश है। सत्यव्रतधारी पुरुष के लिये पर—पीड़ाकारी वचन कहना भी असत्य है। इसलिए प्रमाद से पर—पीड़ाकारी उपदेश देना भी मृषोपदेश अतिचार है। जैसे—ऊँट, गधे वगैरह को चलाना चाहिये, चोरों को मारना चाहिये आदि।

अथवाः—

कोई सन्दिग्ध (सन्देह वाला) व्यक्ति सन्देह, निवारण के लिये आवे, उसे उत्तर में अयथार्थ स्वरूप कहना मृषोपदेश है। अथवा विवाह में स्वयं या दूसरे से किसी को अभिसंधान (सम्बन्ध जोड़ने के उपाय) का उपदेश देना या दिलाना मृषोपदेश है। अथवा व्रत रक्षण की बुद्धि से दूसरे के वृत्तान्त को कह कर मृषा उपदेश देना मृषोपदेश है।

(५) कूट लेखकरणः—कूट अर्थात् झूठा लेख लिखना, कूट लेखकरण अतिचार है। जाली अर्थात् नकली लेख, दस्तावेज, मोहर और दूसरे के हस्ताक्षर आदि बनाना कूट लेखकरण में शामिल है। प्रमाद और अविवेक (अज्ञान) से ऐसा करना अतिचार है। व्रत का पूरा आशय न समझ कर, यह सोचना कि मैंने झूठ बोलने का त्याग किया था, यह तो झूठा लेख है। मृषावाद तो नहीं है। व्रत की अपेक्षा होने से और अविवेक की वजह से यह अतिचार है। जान बूझ कर कूट लेख लिखना अनाचार है।

(उपासक दशांग सूत्र) (धर्मसंग्रह, अधिकार २. पृष्ठ १०१—१०२)

(हरिभद्रीय आवश्यक, पृष्ठ ८२१—८२२)

३०३-अचौर्य्याणुव्रत (स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत) के पाँच अतिचारः-

स्थूल अदत्तादान विरमण रूप तीसरे अणुव्रत के पाँच अतिचार हैं:–

(१) स्तेनाहृत (२) स्तेन प्रयोग
(३) विरुद्धराज्यातिक्रम (४) कूट तुला कूट मान
(५) तत्प्रतिरूपक व्यवहार

(१) स्तेनाहृतः–चोर की चुराई हुई वस्तु को बहुमूल्य समझ कर लोभवश उसे खरीदना या यों ही छिपा कर ले लेना स्तेनाहृत अतिचार है।

(२) स्तेन प्रयोगः–चोरों को चोरी के लिए प्रेरणा करना, उन्हें चोरी के उपकरण देना या बेचना अथवा चोर की सहायता करना, "तुम्हारे पास खाना नहीं है तो मैं देता हूँ, तुम्हारी चुराई हुई वस्तु को कोई बेचने वाला नहीं है तो मैं बेच दूँगा" इत्यादि वचनों से चोर को चोरी में उत्साहित करना, स्तेन प्रयोग है।

(३) विरुद्ध राज्यातिक्रमः–शत्रु राजाओं के राज्य में आना–जाना विरुद्ध राज्यातिक्रम अतिचार है। क्योंकि विरोध के समय शत्रु राजाओं द्वारा राज्य में प्रवेश करने की मनाही होती है।

(४) कूट तुला कूट मानः–झूठा अर्थात् हीनाधिक तोल और माप रखना, परिमाण से बड़े तोल और माप से वस्तु लेना और छोटे तोल और माप से वस्तु बेचना, कूट तुला कूट मान अतिचार है।

(५) तत्प्रतिरूपक व्यवहारः–बहुमूल्य बढ़िया वस्तु में अल्प–मूल्य वाली घटिया वस्तु, जो उसी के सदृश है अर्थात् उसी रूप, रंग की है और उसमें खपने वाली है, मिलाकर बेचना या असली सरीखी नकली (बनावटी) वस्तु को ही असली के नाम से बेचना, तत्प्रतिरूपक व्यवहार है।

पाँचों अतिचारों में वर्णित क्रियाएं चोरी के नाम से न कही जाने पर भी चोरी के बराबर हैं। इनका करने वाला राज्य के द्वारा भी अपराधी माना जाकर दण्ड का भागी होता है। इसलिए इन्हें जानबूझ कर करना तो व्रतभङ्ग ही है। बिना विचारे अनुपयोग–पूर्वक करने से, या व्रत की अपेक्षा रख कर करने से या

अतिक्रमादि की अपेक्षा ये अतिचार हैं।

(उपासक दशांग सूत्र) (हरिभद्रीय आवश्यक, पृष्ठ ८२२)

(धर्मसंग्रह, अधिकार २, पृष्ठ १०२–१०३)

३०४-स्वदार सन्तोष व्रत के पाँच अतिचारः-

(१) इत्वरिका परिगृहीतागमन (२) अपरिगृहीता गमन

(३) अनङ्ग क्रीड़ा (४) परविवाहकरण

(५) कामभोगतीव्राभिलाष

(१) इत्वरिका परिगृहीतागमनः—भाड़ा देकर, कुछ काल के लिए अपने आधीन की हुई स्त्री से गमन करना, इत्वरिका परिगृहीतागमन अतिचार है।

(२) अपरिगृहीता गमनः—विवाहित पत्नी के सिवा, शेष वेश्या, अनाथ, कन्या, विधवा, कुलवधू आदि से गमन करना, अपरिगृहीता गमन अतिचार है।

इत्वरिका परिगृहीता और अपरिगृहीता से गमन करने का संकल्प, एवं तत्सम्बन्धी उपाय, आलाप–संलापादि अतिक्रम व्यतिक्रम की अपेक्षा ये दोनों अतिचार हैं और ऐसा करने पर व्रत एक देश से खण्डित होता है। सूई–डोरा के न्याय से इन्हें सेवन करने में सर्वथा व्रतभङ्ग हो जाता है।

(३) अनङ्ग क्रीड़ाः—काम सेवन के जो प्राकृतिक अङ्ग हैं, उनके सिवा अन्य अङ्गों से, जो कि काम सेवन के लिए अनङ्ग हैं, क्रीड़ा करना अनङ्ग क्रीड़ा है। स्व–स्त्री के सिवा अन्य स्त्रियों के साथ मैथुन क्रिया वर्ज कर अनुराग से उनका आलिङ्गन आदि करने वाले के भी व्रत मलीन होता है। इसलिए वह भी अतिचार माना गया है।

(४) परविवाहकरणः—अपना और अपनी सन्तान के सिवा अन्य का विवाह करना, परविवाहकरण अतिचार है।

स्वदारासन्तोषी श्रावक को दूसरों का विवाहादि कर, उन्हें मैथुन में लगाना निष्प्रयोजन है। इसलिये ऐसा करना अनुचित है। यह ख्याल न कर, दूसरे का विवाह करने के लिये उद्यत होने में यह अतिचार है।

(५) कामभोगतीव्राभिलाषः—पाँच इन्द्रियों के विषय–रूप, रस, गन्ध और स्पर्श में आसक्ति होना, कामभोगतीव्राभिलाष नामक

अतिचार है। इसका आशय यह है कि श्रावक विशिष्ट विरति वाला होता है। उसे पुरुषवेद जनित बाधा की शान्ति के उपरान्त मैथुन सेवन न करना चाहिये। जो वाजीकरण आदि औषधियों से तथा कामशास्त्र में बताये हुए प्रयोगों द्वारा कामबाधा को अधिक उत्पन्न कर, निरन्तर रति–क्रीड़ा के सुख को चाहता है, वह वास्तव में अपने व्रत को मलीन करता है। स्वयं खाज (खुजली) उत्पन्न कर, उसे खुजलाने में सुख अनुभव करना कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। कहा भी है:–"मीठी खाज खुजावताँ पीछे दुःख की खान"।

(उपासक दशांग, प्रथम अध्ययन, अभयदेव सूरी की टीका के आधार पर)

३०५-परिग्रह परिमाण व्रत के पाँच अतिचार:-

(१) क्षेत्र–वास्तु प्रमाणातिक्रम
(२) हिरण्य–सुवर्ण प्रमाणातिक्रम
(३) धन–धान्य प्रमाणातिक्रम
(४) द्विपद, चतुष्पद प्रमाणातिक्रम
(५) कुप्य प्रमाणातिक्रम

(१) क्षेत्र–वास्तु प्रमाणातिक्रम:–धान्योत्पत्ति की ज़मीन को क्षेत्र (खेत) कहते हैं। वह दो प्रकार का है:–

(१) सेतु (२) केतु

अरघट्टादि जल से जो खेत सींचा जाता है, वह सेतु क्षेत्र है। वर्षा का पानी गिरने पर जिसमें धान्य पैदा होता है, वह केतु क्षेत्र कहलाता है। घर आदि को वास्तु कहते हैं। भूमिगृह (भोंयरा), भूमि गृह पर बना हुआ घर या प्रासाद, एवं भूमि के ऊपर बना हुआ घर या प्रासाद वास्तु है। इस प्रकार वास्तु के तीन भेद हैं। उक्त क्षेत्र, वास्तु की जो मर्यादा की है, उसका उल्लंधन करना क्षेत्र वास्तु प्रमाणातिक्रम अतिचार है। अनुपयोग या अतिक्रम आदि की अपेक्षा से यह अतिचार है। जानबूझ कर मर्यादा का उल्लंघन करना अनाचार है अथवा मर्यादित क्षेत्र या घर आदि से अधिक क्षेत्र या घर आदि मिलने पर बाड़ या दीवाल वगैरह हटा कर मर्यादित क्षेत्र या घर में मिला लेना भी क्षेत्र वास्तु प्रमाणातिक्रम अतिचार है। व्रत की मर्यादा का ध्यान रखकर व्रती ऐसा करता है इसलिये वह अतिचार है। इससे देशतः व्रत खंडित हो जाता है।

(२) हिरण्य सुवर्ण प्रमाणातिक्रम:–घटित (घड़े हुए) और अघटित

(बिना घड़े) हुए सोना–चाँदी के परिमाण का एवं हीरा, पन्ना, जवाहरात आदि के प्रमाण का अतिक्रमण करना हिरण्य–सुवर्ण प्रमाणातिक्रम अतिचार है। अनुपयोग या अतिक्रम आदि की अपेक्षा से यह अतिचार है। जानबूझ कर मर्यादा का उल्लंघन करना अनाचार है। अथवा नियत काल की मर्यादा वाले श्रावक पर राजा प्रसन्न होने से, श्रावक को मर्यादा से अधिक सोने–चाँदी आदि की प्राप्ति हो, उस समय व्रतभङ्ग के डर से श्रावक का परिमाण से अधिक सोने–चाँदी को नियत अवधि के लिये, अवधि पूर्ण होने पर वापिस ले लूंगा, इस भावना से, दूसरे के पास रखना हिरण्य–सुवर्ण प्रमाणातिक्रम अतिचार है।

(३) धन–धान्य प्रमाणातिक्रमः–गणिम, धरिम, मेय, परिच्छेद्य रूप चार प्रकार का धन एवं सतरह या चौबीस प्रकार के धान्य की मर्यादा का उल्लंघन करना, धन–धान्य प्रमाणातिक्रम अतिचार है। वह भी अनुपयोग एवं अतिक्रम आदि की अपेक्षा से अतिचार है। अथवा मर्यादा से अधिक धन–धान्य की प्राप्ति होने पर उसे स्वीकार कर लेना परन्तु व्रतभङ्ग के डर से उन्हें, धान्यादि के बिक जाने पर ले लूँगा यह सोच कर, दूसरे के घर पर रहने देना, धन–धान्य प्रमाणातिक्रम अतिचार है। अथवा परिमित काल की मर्यादा वाले श्रावक के मर्यादित धन–धान्य से अधिक की प्राप्ति होने पर उसे स्वीकार कर लेना और मर्यादा की समाप्तिपर्यन्त दूसरे के यहाँ रख देना, धन–धान्य प्रमाणातिक्रम अतिचार है।

(४) द्विपद–चतुष्पद प्रमाणातिक्रमः–द्विपद–सन्तान, स्त्री, दास–दासी, तोता, मैना वगैरह तथा चतुष्पद–गाय, घोड़ा, ऊँट, हाथी आदि के परिमाण का उल्लंघन करना, द्विपद–चतुष्पद प्रमाणातिक्रम अतिचार है। अनुपयोग एवं अतिक्रम आदि की अपेक्षा से यह अतिचार है। अथवा एक साल आदि नियमित काल के लिये द्विपद–चतुष्पद की मर्यादा वाले श्रावक का यह सोच कर कि मर्यादा के बीच में गाय, घोड़ी आदि के बच्चा होने से मेरा व्रतभङ्ग हो जायगा इसलिये नियत समय बीत जाने पर गर्भधारण करवाना, जिससे कि मर्यादा का काल बीत जाने पर ही उनके बच्चे हों, द्विपद–चतुष्पद प्रमाणातिक्रम अतिचार है।

(५) कुप्य प्रमाणातिक्रमः–कुप्य सोने–चाँदी के सिवा अन्य

वस्तु, आसन, शयन, वस्त्र, कम्बल, बर्तन वगैरह घर के सामान की मर्यादा का अतिक्रमण करना, कुप्य प्रमाणातिक्रम अतिचार है। यह भी अनुपयोग एवं अतिक्रम आदि की अपेक्षा से अतिचार है।

अथवाः—

नियमित कुप्य से अधिक संख्या में कुप्य की प्राप्ति होने पर दो–दो को मिला कर वस्तुओं को बड़ी करा देना और नियमित संख्या कायम रखना, कुप्य प्रमाणातिक्रम अतिचार है।

अथवाः—

नियत काल के लिये कुप्य परिमाण वाले श्रावक का मर्यादित कुप्य से अधिक कुप्य की प्राप्ति होने पर उसी समय ग्रहण न करते हुए सामने वाले से यह कहना कि अमुक समय बीत जाने पर मैं तुमसे यह कुप्य ले लूँगा, तुम और किसी को न देना। यह कुप्य प्रमाणातिक्रम अतिचार है।

(उपासक दशांग सूत्र)

(हरिभद्रीय आवशयक, पृष्ठ ८२६)

(धर्मसंग्रह, अधिकार २, पृष्ठ १०५ से १०७)

३०६-दिशा परिमाण व्रत के पाँच अतिचारः-

(१) ऊर्ध्वदिशा परिमाणातिक्रम
(२) अधोदिशा परिमाणातिक्रम
(३) तिर्यक्दिशा परिमाणातिक्रम
(४) क्षेत्रवृद्धि
(५) स्मृत्यन्तर्धान (स्मृतिभ्रंश)

(१) ऊर्ध्वदिशा परिमाणातिक्रमः—ऊर्ध्व अर्थात् ऊंची दिशा के परिमाण को उल्लंघन करना, ऊर्ध्वदिशा परिमाणातिक्रम अतिचार है।

(२) अधोदिशा परिमाणातिक्रमः—अधः अर्थात् नीची दिशा का परिमाण उल्लंघन करना, अधोदिशा परिमाणातिक्रम अतिचार है।

(३) तिर्यक्दिशा परिमाणातिक्रमः—तिर्छी दिशा का परिमाण उल्लंघन करना, तिर्यक्दिशा परिमाणातिक्रम अतिचार है।

अनुपयोग यानी असावधानी से ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक् दिशा की मर्यादा का उल्लंघन करना, अतिचार है। जानबूझ कर परिमाण से आगे जाना, अनाचार सेवन है।

(४) क्षेत्रवृद्धिः—एक दिशा का परिमाण घटा कर दूसरी दिशा

का परिमाण बढ़ा देना क्षेत्रवृद्धि अतिचार है। इस प्रकार क्षेत्रवृद्धि से दोनों दिशाओं के परिमाण का योग वही रहता है। इसलिए व्रत का पालन ही होता है। इस प्रकार व्रत की अपेक्षा होने से, यह अतिचार है।

(५) स्मृत्यन्तर्धान (स्मृतिभ्रंश):—ग्रहण किए हुए परिमाण का स्मरण न रहना, स्मृतिभ्रंश अतिचार है। जैसे—किसी ने पूर्व दिशा में १०० योजन की मर्यादा कर रखी है। परन्तु पूर्व दिशा में चलते समय उसे मर्यादा याद न रही। वह सोचने लगा कि मैंने पूर्व दिशा में ५० योजन की मर्यादा की है या १०० योजन की ? इस प्रकार स्मृति न रहने से सन्देह पड़ने पर पचास योजन से भी आगे जाना अतिचार है।

(उपासक दशांग)

३०७-उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत के पाँच अतिचार:-

(१) सचित्ताहार (२) सचित्त प्रतिबद्धाहार
(३) अपक्व औषधि—भक्षण (४) दुष्पक्व औषधि—भक्षण
(५) तुच्छ औषधि—भक्षण

(१) सचित्ताहार:—सचित्त त्यागी श्रावक का सचित्त वस्तु, जैसे नमक, पृथ्वी, पानी, वनस्पति इत्यादि का आहार करना एवं सचित्त वस्तु का परिमाण करने वाले श्रावक का परिमाणोपरान्त सचित्त वस्तु का आहार करना, सचित्ताहार है। बिना जाने, उपर्युक्त रीति से सचित्ताहार करना अतिचार है और जानबूझ कर इसका सेवन करना अनाचार है।

(२) सचित्त प्रतिबद्धाहार:—सचित्त वृक्षादि से सम्बद्ध अचित्त गोंद या पक्के फल वगैरह खाना अथवा सचित्त बीज से सम्बद्ध अचेतन खजूर वगैरह का खाना या बीज सहित फल को, यह सोच कर कि इसमें अचित्त अंश खा लूँगा और सचित्त बीजादि अंश को फेंक दूंगा, खाना, सचित्त प्रतिबद्धाहार अतिचार है।

सर्वथा सचित्त त्यागी श्रावक के लिए सचित्त वस्तु से छूती हुई किसी भी अचित्त वस्तु को खाना अतिचार है एवं जिसने सचित्त की मर्यादा कर रखी है, उसके लिए मर्यादा उपरान्त सचित्त वस्तु से संघट्टा वाली (सम्बन्ध रखने वाली) अचित्त वस्तु को खाना अतिचार है। व्रत की अपेक्षा होने से यह अतिचार है।

(३) अपक्व औषधि–भक्षणः–अग्नि में बिना पकी हुई शालि आदि औषधि का भक्षण करना, अपक्व औषधि–भक्षण अतिचार है। अनुपयोग से खाने में यह अतिचार है।

(४) दुष्पक्व औषधि–भक्षणः–दुष्पक्व (बुरी तरह से पकाई हुई), अग्नि में अधपकी औषधि का, पकी हुई जान कर भक्षण करना, दुष्पक्व औषधि–भक्षण अतिचार है।

अपक्व औषधि–भक्षण एवं दुष्पक्व औषधि–भक्षण अतिचार भी सर्वथा सचित्त त्यागी के लिए है। सचित्त औषधि की मर्यादा वाले के लिए तो मर्यादोपरान्त अपक्व एवं दुष्पक्व औषधि का भक्षण करना अतिचार है।

(५) तुच्छौषधि–भक्षणः–तुच्छ अर्थात् असार औषधियें, जैसे– कच्ची मूँगफली वगैरह को खाना, तुच्छौषधि–भक्षण अतिचार है। इन्हें खाने में बड़ी विराधना होती है और अल्प तृप्ति होती है। इस लिए विवेकशील अचित्तभोजी श्रावक को उन्हें अचित्त करके भी न खाना चाहिए। वैसा करने पर भी वह अतिचार का भागी है।

(उपासक दशांग सूत्र) (प्रवचनसारोद्धार, गाथा २८१)

भोजन की अपेक्षा से ये पाँच अतिचार हैं। भोगोपभोग सामग्री की प्राप्ति के साधनभूत द्रव्य के उपार्जन के लिये भी श्रावक कर्म अर्थात् वृत्ति–व्यापार की मर्यादा करता है। वृत्ति–व्यापार की अपेक्षा श्रावक को खर–कर्म अर्थात् कठोर कर्म का त्याग करना चाहिये।

उत्कट ज्ञानावरणीयादि अशुभ कर्म के कारण भूत–कर्म एवं व्यापार को कर्मादान कहते हैं। इंगालकर्म, वनकर्म आदि पन्द्रह कर्मादान हैं। ये कर्म की अपेक्षा सातवें व्रत के अतिचार हैं। प्रायः ये लोक–व्यवहार में भी निन्द्य गिने जाते हैं और महापाप के कारण होने से दुर्गति में ले जाने वाले हैं। अतः श्रावक के लिये त्याज्य हैं।

नोटः–पन्द्रह कर्मादान का विवेचन आगे पन्द्रहवें बोल में दिया जायगा।

३०८-अनर्थदण्ड विरमण व्रत के पाँच अतिचार-

(१) कन्दर्प (२) कौत्कुच्य
(३) मौखर्य्य (४) संयुक्ताधिकरण
(५) उपभोग–परिभोगातिरिक्त

(१) कन्दर्पः–काम उत्पन्न करने वाले वचन का प्रयोग करना,

राग के आवेश में हास्यमिश्रित मोहोद्दीपक मज़ाक करना, कन्दर्प अतिचार है।

(२) कौत्कुच्यः—भांडों की तरह भौंएं, नेत्र, नासिका, ओष्ठ, मुख, हाथ, पैर आदि अंगों को विकृत बना कर, दूसरों को हँसाने वाली चेष्टा करना, कौत्कुच्य अतिचार है।

(३) मौखर्य्यः—ढिठाई के साथ असत्य, ऊटपटाँग वचन बोलना, मौखर्य्य अतिचार है।

(४) संयुक्ताधिकरणः—कार्य करने में समर्थ ऐसे ऊखल और मूसल, शिला और लोढ़ा, हाल और फाल, गाड़ी और जूआ, धनुष और बाण, वसूला और कुल्हाड़ी, चक्की आदि दुर्गति में ले जाने वाले अधिकरणों को, जो साथ ही काम आते हैं, एक साथ रखना, संयुक्ताधिकरण अतिचार हैं। जैसे—ऊखल के बिना मूसल काम नहीं देता और न मूसल के बिना ऊखल ही। इसी प्रकार शिला के बिना लोढ़ा और लोढ़े के बिना शिला भी काम नहीं देती। इस प्रकार के उपकरणों को एक साथ न रख कर विवेकी श्रावक को जुदे—जुदे रखना चाहिये।

(५) उपभोग—परिभोगातिरिक्त (अतिरेक):—उबटन, आँवला, तैल, पुष्प, वस्त्र, आभूषण तथा अशन, पान, खादिम, स्वादिम आदि उपभोग—परिभोग की वस्तुओं को अपने एवं आत्मीय जनों के उपयोग से अधिक रखना, उपभोग परिभोगातिरिक्त अतिचार है।

(उपासक दशांग सूत्र) (हरिभद्रीय आवश्यक, पृष्ठ ८२६—३०)

(प्रवचन सारोद्धार, गाथा २८२)

अपध्यानाचरित, प्रमादाचरित, हिंस्र प्रदान और पाप कर्मोपदेश ये चार अनर्थदण्ड हैं। अनर्थदण्ड से विरत होने वाला श्रावक, इन चारों अनर्थदण्ड के कार्यों से निवृत्त होता है। इनसे विरत होने वाले के ही ये पाँच अतिचार हैं। उक्त पाँचों अतिचारों में कही हुई क्रिया का असावधानी से चिन्तन करना, अपध्यानाचरित विरति का अतिचार है। कन्दर्प, कौत्कुच्य एवं उपभोग—परिभोगातिरेक—ये तीनों प्रमादाचरित—विरति के अतिचार हैं। संयुक्ताधिकरण, हिंस्रप्रदान विरति का अतिचार है। मौखर्य्य, पाप कर्मोपदेश विरति का अतिचार है।

(प्रवचन सारोद्धार, गाथा २८२ की टीका)

३०६-सामायिक व्रत के पाँच अतिचारः-

(१) मनोदुष्प्रणिधान
(२) वाग्दुष्प्रणिधान
(३) काया दुष्प्रणिधान
(४) सामायिक का स्मृत्यकरण
(५) अनवस्थित सामायिककरण

(१) मनोदुष्प्रणिधानः—मन का दुष्ट प्रयोग करना अर्थात् मन को बुरे व्यापार में लगाना, जैसे सामायिक करके घर सम्बन्धी अच्छे—बुरे कार्यों का विचार करना, मनोदुष्प्रणिधान अतिचार है।

(२) वाग्दुष्प्रणिधानः—वचन का दुष्ट प्रयोग करना, जैसे—असभ्य, कठोर एवं सावद्य वचन कहना, वाग्दुष्प्रणिधान अतिचार है।

(३) काया दुष्प्रणिधानः—बिना देखी, बिना पूंजी जमीन पर हाथ, पैर आदि अवयव रखना, काया दुष्प्रणिधान अतिचार है।

(४) सामायिक का स्मृत्यकरणः—सामायिक की स्मृति न रखना अर्थात् उपयोग न रखना सामायिक का स्मृत्यकरण अतिचार है। जैसे—मुझे इस समय सामायिक करना चाहिये। सामायिक मैंने की या न की आदि प्रबल प्रमादवश भूल जाना।

(५) अनवस्थित सामायिककरणः—अव्यवस्थित रीति से सामायिक करना, अनवस्थित सामायिककरण अतिचार है।

जैसे—अनियत सामायिक करना, अल्पकाल की सामायिक करना, करने के बाद ही सामायिक छोड़ देना, जैसे—तैसे ही अस्थिरता से सामायिक पूरी करना या अनादर से सामायिक करना।

अनुपयोग से प्रथम तीन अतिचार हैं और प्रमाद बहुलता से चौथा, पाँचवां अतिचार है।

(उपासक दशांग सूत्र)

(हरिभद्रीय आवश्यक, पृष्ठ ८३३ से ८३४)

३१०-देशावकाशिक व्रत के पाँच अतिचारः-

(१) आनयन प्रयोग (२) प्रेष्यप्रयोग
(३) शब्दानुपात (४) रूपानुपात
(५) बहिःपुद्गल प्रक्षेप

(१) आनयन प्रयोगः—मर्यादा किये हुए क्षेत्र से बाहर स्वयं न जा सकने से दूसरे को, तुम यह चीज लेते आना, इस प्रकार

संदेशादि देकर सचित्तादि द्रव्य मँगाने में लगाना, आनयन प्रयोग अतिचार है।

(२) प्रेष्यप्रयोगः—मर्यादित क्षेत्र से बाहर स्वयं जाने से मर्यादा का अतिक्रम हो जायगा। इस भय से नौकर, चाकर आदि आज्ञाकारी पुरुष को भेज कर कार्य कराना, प्रेष्यप्रयोग अतिचार है।

(३) शब्दानुपातः—अपने घर की बाड़ या चहारदीवारी के अन्दर के नियमित क्षेत्र से बाहर कार्य होने पर, व्रती का व्रतभङ्ग के भय से स्वयं बाहर न जाकर निकटवर्ती लोगों को छींक, खांसी आदि शब्द द्वारा ज्ञान कराना, शब्दानुपात अतिचार है।

(४) रूपानुपातः—नियमित क्षेत्र से बाहर प्रयोजन होने पर, दूसरों को अपने पास बुलाने के लिए अपना या पदार्थ विशेष का रूप दिखाना, रूपानुपात अतिचार है।

(५) बहिःपुद्गल प्रक्षेपः—नियमित क्षेत्र से बाहर प्रयोजन होने पर, दूसरों को जताने के लिये ढेला, कंकर आदि फेंकना, बहिःपुद्गल प्रक्षेप अतिचार है।

पूरा विवेक न होने से तथा सहसाकार अनुपयोगादि से पहले के दो अतिचार हैं। मायापरता तथा व्रत सापेक्षता से पिछले तीन अतिचार हैं।

(उपासक दशांग) (धर्मसंग्रह, अधिकार २, पृष्ठ ११४—११५)

(हरिभद्रीय आवश्यक, पृष्ठ ८३४)

३११-प्रतिपूर्ण (परिपूर्ण) पौषध व्रत के पाँच अतिचारः-

(१) अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित शय्या संस्तारक

(२) अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित शय्या संस्तारक

(३) अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित उच्चार प्रस्रवण भूमि

(४) अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवण भूमि

(५) पौषध का सम्यक् अपालन

(१) अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित शय्या संस्तारकः—शय्या संस्तारक का चक्षु से निरीक्षण न करना या अन्यमनस्क होकर असावधानी से निरीक्षण करना, अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित शय्या संस्तारक अतिचार है।

(२) अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित शय्या संस्तारकः—शय्या संस्तारक (संथारे) को न पूंजना वा अनुपयोगपूर्वक असावधानी से पूंजना

अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित शय्या संस्तारक अतिचार है।

(३) अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित उच्चार प्रस्रवण भूमिः—मल, मूत्र आदि परिठवने के स्थण्डिल को न देखना या अनुपयोगपूर्वक असावधानी से देखना, अप्रत्युपेक्षित दुष्प्रत्युपेक्षित उच्चार प्रस्रवण भूमि अतिचार है।

(४) अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवण भूमिः—मल, मूत्र आदि परिठवने के स्थण्डिल को न पूंजना या बिना उपयोग असावधानी से पूंजना, अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चार प्रस्रवण भूमि अतिचार है।

(५) पौषधोपवास का सम्यक् अपालनः—आगमोक्त विधि से स्थिरचित्त होकर पौषधोपवास का पालन न करना, पौषध में आहार, शरीर शुश्रूषा, अब्रह्म तथा सावद्य व्यापार की अभिलाषा करना, पौषधोपवास का सम्यक् अपालन अतिचार है।

व्रती के प्रमादी होने से पहले के चार अतिचार हैं। अतिचारोक्त शय्या संस्तारक तथा उच्चार प्रस्रवण भूमि का उपभोग करना, अतिचार का कारण होने से ये अतिचार कहे गये हैं। भाव से विरति का बाधक होने से पांचवां अतिचार है।

(उपासक दशांग)

३१२- अतिथि संविभाग व्रत के पांच अतिचारः-

(१) सचित्त निक्षेप (२) सचित्तपिधान

(३) कालातिक्रम (४) परव्यपदेश

(५) मत्सरिता

(१) सचित्त निक्षेपः—साधु को नहीं देने की बुद्धि से कपटपूर्वक सचित्त धान्य आदि पर अचित्त अन्नादि का रखना, सचित्त निक्षेप अतिचार है।

(२) सचित्तपिधानः—साधु को नहीं देने की बुद्धि से कपट—पूर्वक अचित्त अन्नादि को सचित्त फल आदि से ढकना, सचित्तपिधान अतिचार है।

(३) कालातिक्रमः—उचित भिक्षा काल का अतिक्रमण करना, कालातिक्रम अतिचार है। काल के अतिक्रम हो जाने पर, यह सोच कर दान के लिए उद्यत होना कि अब साधुजी आहार तो लेंगे नहीं पर वह जानेंगे कि यह श्रावक दातार है।

(४) परव्यपदेशः—आहारादि अपना होने पर भी न देने की बुद्धि से, उसे दूसरे का बताना, परव्यपदेश अतिचार है।

(५) मत्सरिताः—अमुक पुरुष ने दान दिया है। क्या मैं उससे कृपण या हीन हूँ? इस प्रकार ईर्ष्याभाव से दान देने में प्रवृत्ति करना, मत्सरिता अतिचार है।

अथवाः—

माँगने पर कुपित होना और होते हुए भी न देना, मत्सरिता अतिचार है।

अथवाः—

कषाय कलुषित चित्त से साधु को दान देना, मत्सरिता अतिचार है।

(उपासक दशांग) (हरिभद्रीय आवश्यक, पृष्ठ ८३७—८३८)

३१३-अपश्चिम मारणान्तिकी संलेखना के पाँच अतिचारः-

अन्तिम मरण समय में शरीर और कषायादि को कृश करने वाला तपविशेष, अपश्चिम मारणान्तिकी संलेखना है। इसके पाँच अतिचार हैं :—

(१) इहलोकाशंसा प्रयोग (२) परलोकाशंसा प्रयोग
(३) जीविताशंसा प्रयोग (४) मरणाशंसा प्रयोग
(५) कामभोगाशंसा प्रयोग

(१) इहलोकाशंसा प्रयोगः—इहलोक अर्थात् मनुष्य लोक विषयक इच्छा करना। जैसे—जन्मान्तर में मैं राजा, मन्त्री या सेठ होऊँ, ऐसी चाहना करना, इहलोकाशंसा प्रयोग अतिचार है।

(२) परलोकाशंसा प्रयोगः—परलोक विषयक अभिलाषा करना, जैसे—मैं जन्मान्तर में इन्द्र या देव होऊँ, ऐसी चाहना करना, परलोकाशंसा प्रयोग अतिचार है।

(३) जीविताशंसा प्रयोगः—बहु परिवार एवं लोक प्रशंसा आदि कारणों से अधिक जीवित रहने की इच्छा करना, जीविताशंसा प्रयोग है।

(४) मरणाशंसा प्रयोगः—अनशन करने पर प्रशंसा आदि न देख कर या क्षुधा आदि कष्ट से पीड़ित होकर, शीघ्र मरने की इच्छा करना, मरणाशंसा प्रयोग है।

(५) कामभोगाशंसा प्रयोगः—मनुष्य एवं देवता सम्बन्धी काम

अर्थात् शब्द, रूप एवं भोग अर्थात् गन्ध, रस, स्पर्श की इच्छा करना, कामभोगाशंसा प्रयोग है।

(उपासक दशांग) (धर्मसंग्रह, अधिकार २, पृष्ठ २३१)

३१४-श्रावक के पाँच अभिगमः-

उपाश्रय की सीमा में प्रवेश करते ही श्रावक को पाँच अभिगमों का पालन करना चाहिये। साधुजी के सम्मुख जाते समय पाले जाने वाले नियम, अभिगम कहलाते हैं। वे ये हैं:–

(१) सचित्तद्रव्य, जैसे–पुष्प, ताम्बूल आदि का त्याग करना।

(२) अचित्त द्रव्य, जैसे–वस्त्र वगैरह मर्यादित करना।

(३) एक पट वाले दुपट्टे का उत्तरासंग करना।

(४) मुनिराज के दृष्टिगोचर होते ही हाथ जोड़ना।

(५) मन को एकाग्र करना।

(भगवती शतक, उद्देशा ५)

३१५-चारित्र की व्याख्या और भेदः-

चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम या क्षयोपशम से होने वाले विरति परिणाम को चारित्र कहते हैं।

अन्य जन्म में ग्रहण किये हुए कर्म संचय को दूर करने के लिये मोक्षाभिलाषी आत्मा का सर्व सावद्य योग से निवृत्त होना चारित्र कहलाता है।

चारित्र के पाँच भेद :–

(१) सामायिक चारित्र, (२) छेदोपस्थापनिक चारित्र

(३) परिहार विशुद्धि चारित्र (४) सूक्ष्म सम्पराय चारित्र

(५) यथाख्यात चारित्र

(१) सामायिक चारित्रः–सम अर्थात् राग–द्वेष रहित आत्मा के प्रतिक्षण अपूर्व–अपूर्व निर्जरा से होने वाली आत्मविशुद्धि का प्राप्त होना, सामायिक है।

भवाटवी के भ्रमण से पैदा होने वाले क्लेश को प्रतिक्षण नाश करने वाली, चिन्तामणि, कामधेनु एवं कल्पवृक्ष के सुखों का भी तिरस्कार करने वाली, निरुपम सुख देने वाली ऐसी ज्ञान, दर्शन, चारित्र पर्यायों को प्राप्त कराने वाले, राग–द्वेषरहित आत्मा के क्रियानुष्ठान को सामायिक चारित्र कहते हैं।

सर्व सावद्य व्यापार का त्याग करना एवं निरवद्य व्यापार का

सेवन करना, सामायिक चारित्र है।

यों तो चारित्र के सभी भेद सावद्य योग विरतिरूप हैं। इसलिये सामान्यतः सामायिक ही हैं। किन्तु चारित्र के दूसरे भेदों के साथ छेद आदि विशेषण होने से नाम और अर्थ से भिन्न-भिन्न बताये गये हैं। छेद आदि विशेषणों के न होने से पहले चारित्र का नाम सामान्य रूप से सामायिक ही दिया गया है।

सामायिक के दो भेदः—इत्वरकालिक सामायिक और यावत्कथिक सामायिक।

इत्वरकालिक सामायिकः—इत्वरकाल का अर्थ है अल्प काल अर्थात् भविष्य में दूसरी बार फिर सामायिक व्रत का व्यपदेश होने से जो अल्पकाल की सामायिक हो, उसे इत्वरकालिक सामायिक कहते हैं। पहले एवं अन्तिम तीर्थंकर भगवान् के तीर्थ में जब तक शिष्य में महाव्रत का आरोपण नहीं किया जाता, तब तक उस शिष्य के इत्वरकालिक सामायिक समझनी चाहिये।

यावत्कथिक सामायिकः—यावज्जीवन की सामायिक यावत्कथिक सामायिक कहलाती है। प्रथम एवं अन्तिम तीर्थंकर भगवान् के सिवा शेष बाईस तीर्थंकर भगवान् एवं महाविदेह क्षेत्र के तीर्थंकरों के साधुओं के यावत्कथिक सामायिक होती है। क्योंकि इन तीर्थंकरों के शिष्यों को दूसरी बार सामायिक व्रत नहीं दिया जाता।

(२) छेदोपस्थापनिक चारित्रः— जिस चारित्र में पूर्व पर्याय का छेद एवं महाव्रतों में उपस्थापन—आरोपण होता है, उसे छेदोपस्थापनिक चारित्र कहते हैं।

अथवाः—

पूर्व पर्याय का छेद करके जो महाव्रत दिये जाते हैं, उसे छेदोपस्थापनिक चारित्र कहते हैं।

यह चारित्र भरत, ऐरावत क्षेत्र के प्रथम एवं चरम तीर्थंकरों के तीर्थ में ही होता है, शेष तीर्थंकरों के तीर्थ में नहीं होता।

छेदोपस्थापनिक चारित्र के दो भेद हैं—

१—निरतिचार छेदोपस्थापनिक

२—सातिचार छेदोपस्थापनिक

(१) निरतिचार छेदोपस्थापनिकः—इत्वर सामायिक वाले शिष्य

के एवं एक तीर्थ से दूसरे तीर्थ में जाने वाले साधुओं के, जो व्रतों का आरोपण होता है वह निरतिचार छेदोपस्थापनिक चारित्र है।

(२) सातिचार छेदोपस्थापनिकः–मूल गुणों का घात करने वाले साधु के, जो व्रतों का आरोपण होता है वह सातिचार छेदोपस्थापनिक चारित्र है।

(३) परिहार विशुद्धि चारित्रः–जिस चारित्र में परिहार तप विशेष से कर्म निर्जरा रूप शुद्धि होती है, उसे परिहार विशुद्धि चारित्र कहते हैं।

अथवा :–

जिस चारित्र में अनेषणीयादि का परित्याग विशेष रूप से शुद्ध होता है; वह परिहार विशुद्धि चारित्र है।

स्वयं तीर्थंकर भगवान् के समीप या तीर्थंकर भगवान् के समीप रह कर पहले जिसने परिहार विशुद्धि चारित्र अङ्गीकार किया है, उसके पास यह चारित्र अंगीकार किया जाता है। नव साधुओं का गण, परिहार तप अंगीकार करता है। इन में से चार तप करते हैं जो पारिहारिक कहलाते हैं। चार वैयावृत्त्य करते हैं, जो अनुपारिहारिक कहलाते हैं और एक कल्पस्थित अर्थात् गुरु रूप में रहता है, जिसके पास पारिहारिक एवं अनुपारिहारिक साधु आलोचना, वन्दना, प्रत्याख्यान आदि करते हैं। पारिहारिक साधु ग्रीष्म ऋतु में जघन्य एक उपवास, मध्यम बेला (दो उपवास) और उत्कृष्ट तेला (तीन उपवास) तप करते हैं। शिशिर काल में जघन्य बेला, मध्यम तेला और उत्कृष्ट (चार उपवास) चौला तप करते हैं। वर्षा काल में जघन्य तेला, मध्यम चौला और उत्कृष्ट पचौला तप करते हैं। शेष चार अनुपारिहारिक एवं कल्पस्थित (गुरु रूप) पाँच साधु प्रायः नित्य भोजन करते हैं। ये उपवास आदि नहीं करते। आयंबिल के सिवा ये और भोजन नहीं करते अर्थात् सदा आयंबिल ही करते हैं। इस प्रकार पारिहारिक साधु छः मास तक तप करते हैं। छः मास तक तप कर लेने के बाद वे अनुपारिहारिक अर्थात् वैयावृत्त्य करने वाले हो जाते हैं और वैयावृत्त्य करने वाले (अनुपारिहारिक) साधु पारिहारिक बन जाते हैं अर्थात् तप करने लग जाते हैं। यह क्रम भी छः मास तक पूर्ववत् चलता है। इस प्रकार आठ साधुओं के तप कर लेने पर उनमें से एक गुरु पद पर

स्थापित किया जाता है और शेष सात वैयावृत्त्य करते हैं और गुरु पद पर रहा हुआ साधु तप करना शुरू करता है। यह भी छः मास तक तप करता है। इस प्रकार अठारह मास में यह परिहार तप का कल्प पूर्ण होता है। परिहार तप पूर्ण होने पर वे साधु या तो इसी कल्प को पुनः प्रारम्भ करते हैं या जिन कल्प धारण कर लेते हैं या वापिस गच्छ में आ जाते हैं। यह चारित्र, छेदोपस्थापनिक चारित्र वालों के ही होता है, दूसरों के नहीं।

निर्विश्यमानक और निर्विष्टकायिक के भेद से परिहार विशुद्धि चारित्र दो प्रकार का है।

तप करने वाले पारिहारिक साधु निर्विश्यमानक कहलाते हैं। उनका चारित्र निर्विश्यमानक परिहार विशुद्धि चारित्र कहलाता है।

तप करके वैयावृत्त्य करने वाले अनुपारिहारिक साधु तथा तप करने के बाद गुरु पद रहा हुआ साधु निर्विष्टकायिक कहलाता है। इनका चारित्र, निर्विष्टकायिक परिहार विशुद्धि चारित्र कहलाता है।

(४) सूक्ष्म सम्पराय चारित्र :– सम्पराय का अर्थ कषाय होता है। जिस चारित्र में सूक्ष्म सम्पराय अर्थात् संज्वलन लोभ का सूक्ष्म अंश रहता है, उसे सूक्ष्म सम्पराय चारित्र कहते हैं।

विशुद्ध्यमान और संक्लिश्यमान के भेद से सूक्ष्म सम्पराय चारित्र के दो भेद हैं।

क्षपक श्रेणी एवं उपशम श्रेणी पर चढ़ने वाले साधु के परिणाम उत्तरोत्तर शुद्ध रहने से उनका सूक्ष्म सम्पराय चारित्र विशुद्ध्यमान कहलाता है।

उपशम श्रेणी से गिरते हुए साधु के परिणाम संक्लेशयुक्त होते हैं, इसलिये उनका सूक्ष्म सम्पराय चारित्र संक्लिश्यमान कहलाता है।

(५) यथाख्यात चारित्र– सर्वथा कषाय का उदय न होने से अतिचाररहित पारमार्थिक रूप से प्रसिद्ध चारित्र, यथाख्यात चारित्र कहलाता है। अथवा अकषायी साधु का निरतिचार यथार्थ चारित्र, यथाख्यात चारित्र कहलाता है।

छद्मस्थ और केवली के भेद से यथाख्यात चारित्र के दो भेद हैं अथवा उपशान्त मोह और क्षीण मोह या प्रतिपाती और अप्रतिपाती के भेद से इसके दो भेद हैं।

सयोगी केवली और अयोगी केवली के भेद से केवली यथाख्यात चारित्र के दो भेद हैं।

(ठाणांग ५, उद्देशा २, सूत्र ४२८)
(अनुयोगद्वार, पृष्ठ २२० आगमोदय समिति)
(अभिधान राजेन्द्र कोष, भाग ३ तथा ७)
(सामाइअ और चारित्त शब्द) (विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १२६०–१२७६)

३१६-महाव्रत की व्याख्या और उसके भेदः-

देशविरति श्रावक की अपेक्षा महान् गुणवान् साधु मुनिराज के सर्वविरति रूप व्रतों को महाव्रत कहते हैं।

अथवाः–

श्रावक के अणुव्रत की अपेक्षा साधु के व्रत बड़े हैं, इसलिये ये महाव्रत कहलाते हैं।

महाव्रत पाँच है :–

(१) प्राणातिपात विरमण महाव्रत
(२) मृषावाद विरमण महाव्रत
(३) अदत्तादान विरमण महाव्रत
(४) मैथुन विरमण महाव्रत
(५) परिग्रह विरमण महाव्रत

(१) प्राणातिपात विरमण महाव्रतः–प्रमादपूर्वक सूक्ष्म और बादर, त्रस और स्थावर रूप समस्त जीवों के पांच इन्द्रिय, मन, वचन, काया, श्वासोच्छ्वास और आयु रूप दश प्राणों में से किसी का अतिपात (नाश) करना, प्राणातिपात है। सम्यग्ज्ञान एवं श्रद्धापूर्वक जीवनपर्यन्त प्राणातिपात से तीन करण, तीन योग से निवृत्त होना, प्राणातिपात विरमण रूप प्रथम महाव्रत है।

(२) मृषावाद विरमण महाव्रतः–प्रियकारी, पथ्यकारी एवं सत्य वचन को छोड़ कर कषाय, भय, हास्य आदि के वश असत्य, अप्रिय, अहितकारी वचन कहना मृषावाद है। सूक्ष्म, बादर के भेद से असत्य वचन दो प्रकार का है। सद्भाव प्रतिषेध, असद्भावोद्भावन, अर्थान्तर और गर्हा के भेद से असत्य वचन चार प्रकार का भी है।

नोट :– असत्य वचन के चार भेद और उनकी व्याख्या बोल नम्बर २७० में दे दी गई है।

चोर को चोर कहना, कोढ़ी को कोढ़ी कहना, काणे को काणा

कहना आदि अप्रिय वचन है। क्या जंगल में तुमने मृग देखे ? शिकारियों के यह पूछने पर मृग देखने वाले पुरुष का उन्हें विधि रूप में उत्तर देना, अहित वचन है। उक्त अप्रिय एवं अहित वचन व्यवहार में सत्य होने पर भी, पर–पीड़ाकारी होने से एवं प्राणियों की हिंसाजनित पाप के हेतु होने से, सावद्य हैं। इसलिये हिंसायुक्त होने से वास्तव में असत्य ही हैं। ऐसे मृषावाद से सर्वथा जीवन–पर्यन्त तीन करण, तीन योग से निवृत्त होना, मृषावाद विरमण रूप द्वितीय महाव्रत है।

(३) अदत्तादान विरमण महाव्रतः–कहीं पर भी ग्राम, नगर, अरण्य आदि में सचित्त, अचित्त, अल्प, बहु, अणु, स्थूल आदि वस्तु को, उसके स्वामी की बिना आज्ञा लेना, अदत्तादान है। यह अदत्तादान स्वामी, जीव, तीर्थ एवं गुरु के भेद से चार प्रकार का होता है –

(१) स्वामी से बिना दी हुई तृण, काष्ठ आदि वस्तु लेना, स्वामी अदत्तादान है।

(२) कोई सचित्त वस्तु स्वामी ने दे दी हो, परन्तु उस वस्तु के अधिष्ठाता जीव की आज्ञा बिना उसे लेना, जीव अदत्तादान है। जैसे–माता-पिता या संरक्षक द्वारा पुत्रादि शिष्य, भिक्षा रूप में दिये जाने पर भी उन्हें उनकी इच्छा बिना दीक्षा लेने के परिणाम न होने पर भी उनकी अनुमति के बिना उन्हें दीक्षा देना, जीव अदत्तादान है। इसी प्रकार सचित्त पृथ्वी आदि, स्वामी द्वारा दिये जाने पर भी पृथ्वी–शरीर के स्वामी जीव की आज्ञा न होने से उसे भोगना, जीव अदत्तादान है। इस प्रकार सचित्त वस्तु के भोगने से प्रथम महाव्रत के साथ-साथ तृतीय महाव्रत का भी भंग होता है।

(३) तीर्थंकर से प्रतिषेध किये हुए आधाकर्मादि आहार ग्रहण करना तीर्थंकर अदत्तादान है।

(४) स्वामी द्वारा निर्दोष आहार दिये जाने पर भी गुरु की आज्ञा प्राप्त किये बिना उसे भोगना, गुरु अदत्तादान है।

किसी भी क्षेत्र एवं वस्तु विषयक उक्त चारों प्रकार के अदत्तादान से सदा के लिये तीन करण, तीन योग से निवृत्त होना, अदत्तादान विरमण रूप तीसरा महाव्रत है।

(४) मैथुन विरमण महाव्रतः–देव, मनुष्य और तिर्यञ्च सम्बन्धी

दिव्य एवं औदारिक काम–सेवन का तीन करण, तीन योग से त्याग करना, मैथुन विरमण रूप चतुर्थ महाव्रत है।

(५) परिग्रह विरमण महाव्रतः– अल्प, बहु, अणु, स्थूल, सचित्त, अचित्त आदि समस्त द्रव्य विषयक परिग्रह का तीन करण, तीन योग से त्याग करना, परिग्रह विरमण रूप पाँचवाँ महाव्रत है। मूर्च्छा, ममत्व होना, भाव परिग्रह है और वह त्याज्य है। मूर्च्छाभाव का कारण होने से बाह्य सकल वस्तुएं, द्रव्य परिग्रह हैं और वे भी त्याज्य हैं। भाव–परिग्रह मुख्य है और द्रव्य–परिग्रह गौण। इस लिए यह कहा गया है कि यदि धर्मोपकरण एवं शरीर पर यति के मूर्च्छा, ममता भावजनित राग भाव न हो तो वह उन्हें धारण करता हुआ भी अपरिग्रही ही है।

(दशवैकालिक अध्ययन ४)

(ठाणांग ५, सूत्र ३८६)

(धर्मसंग्रह, अधिकार ३, पृष्ठ १२० से १२४)

(प्रवचन सारोद्धार, गाथा ५५३)

३१७-प्राणातिपात विरमण रूप प्रथम महाव्रत की पांच भावनाएंः-

(१) साधु ईर्या समिति में उपयोग रखने वाला हो, क्योंकि ईर्या समिति रहित साधु प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की हिंसा करने वाला होता है।

(२) साधु सदा उपयोगपूर्वक देख कर चौड़े मुख वाले पात्र में आहार, पानी ग्रहण करे एवं प्रकाश वाले स्थान में देख कर भोजन करे। अनुपयोगपूर्वक बिना देखे आहारादि ग्रहण करने वाले एवं भोगने वाले साधु के प्राण, भूत, जीव और सत्त्व की हिंसा का सम्भव है।

(३) अयतना से पात्रादि भंडोपगरण लेने और रखने का आगम में निषेध है। इसलिए साधु आगम में कहे अनुसार देख कर और पूंजकर यतनापूर्वक भंडोपगरण लेवे और रखे, अन्यथा प्राणियों की हिंसा का सम्भव है।

(४) संयम में सावधान साधु, मन को शुभ प्रवृत्तियों में लगावे। मन को दुष्ट रूप से प्रवर्ताने वाला साधु, प्राणियों की हिंसा करता है। काया का गोपन होते हुए भी मन की दुष्ट प्रवृत्ति राजर्षि प्रसन्न चन्द्र की तरह कर्मबन्ध का कारण होती है।

(५) संयम में सावधान साधु, अदुष्ट अर्थात् शुभ वचन में प्रवृत्ति करे। दुष्ट वचन में प्रवृत्ति करने वाले के प्राणियों की हिंसा का संभव है।

३१८-मृषावाद विरमण रूप द्वितीय महाव्रत की पाँच भावनाएं:-

(१) सत्यवादी साधु को हास्य का त्याग करना चाहिये क्योंकि हास्यवश मृषा भी बोला जा सकता है।

(२) साधु को सम्यग्ज्ञानपूर्वक विचार करके बोलना चाहिये। क्योंकि बिना विचारे बोलने वाला कभी झूठ भी कह सकता है।

(३) क्रोध के कुफल को जान कर, साधु को उसे त्यागना चाहिये। क्रोधान्ध व्यक्ति का चित्त अशान्त हो जाता है। वह स्व–पर का भान भूल जाता है और जो मन में आता है, वही कह देता है। इस प्रकार उसके झूठ बोलने की बहुत संभावना है।

(४) साधु को लोभ का त्याग करना चाहिये क्योंकि लोभी व्यक्ति धनादि की इच्छा से, झूठी साक्षी आदि से, झूठ बोल सकता है।

(५) साधु को भय का भी परिहार करना चाहिये। भयभीत व्यक्ति प्राणादि को बचाने की इच्छा से सत्यव्रत को दूषित कर असत्य में प्रवृत्ति कर सकता है।

३१९-अदत्तादान विरमण रूप तीसरे महाव्रत की पाँच भावनाएं:-

(१) साधु को स्वयं (दूसरे के द्वारा नहीं) स्वामी अथवा स्वामी से अधिकारप्राप्त पुरुष को अच्छी तरह जानकर शुद्ध अवग्रह (रहने के स्थान) की याचना करनी चाहिये। अन्यथा साधु को अदत्तग्रहण का दोष लगता है।

(२) अवग्रह की आज्ञा लेकर भी, वहाँ रहे हुए तृणादि ग्रहण के लिये साधु को आज्ञा प्राप्त करनी चाहिये। शय्यातर का अनुमति वचन सुन कर ही साधु को उन्हें लेना चाहिये अन्यथा वह बिना दी हुई वस्तु के ग्रहण करने एवं भोगने का दोषी है।

(३) साधु को उपाश्रय की सीमा को खोल कर एवं आज्ञा प्राप्त कर, उसका सेवन करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि एक बार स्वामी के उपाश्रय की आज्ञा दे देने पर भी बार–बार उपाश्रय का परिमाण खोल कर आज्ञा प्राप्त करनी चाहिये। ग्लानादि अवस्था में लघुनीत बड़ीनीत परिठवने, हाथ, पैर, धोने आदि के स्थानों की, अवग्रह (उपाश्रय) की आज्ञा होने पर भी, याचना करनी चाहिये

ताकि दाता का दिल दुःखित न हो।

(४) गुरू अथवा रत्नाधिक की आज्ञा प्राप्त कर, आहार करना चाहिए। आशय यह है कि सूत्रोक्त विधि से प्रासुक एषणीय प्राप्त हुए आहार को उपाश्रय में लाकर, गुरु के आगे आलोचना कर और आहार दिखला कर फिर साधुमंडली में या अकेले उसे खाना चाहिये। धर्म के साधन रूप अन्य उपकरणों का ग्रहण एवं उपयोग भी गुरु की आज्ञा से ही करना चाहिये।

(५) उपाश्रय में रहे हुए समान आचार वाले संभोगी साधुओं से नियत क्षेत्र और काल के लिये उपाश्रय की आज्ञा प्राप्त करके ही वहाँ रहना एवं भोजनादि करना चाहिये अन्यथा चोरी का दोष लगता है।

३२०-मैथुन विरमण रूप चतुर्थ महाव्रत की पाँच भावनाएं:-

(१) ब्रह्मचारी को आहार के विषय में संयत होना चाहिए। अति स्निग्ध, सरस आहार न करना चाहिए और न परिमाण से अधिक ठूंस–ठूंस कर ही आहार करना चाहिए। अन्यथा ब्रह्मचर्य की विराधना हो सकती है। मात्रा से अधिक आहार तो ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त शरीर के लिए भी पीड़ाकारी है।

(२) ब्रह्मचारी को शरीर की विभूषा अर्थात् शोभा, शुश्रूषा न करनी चाहिये। स्नान, विलेपन, केश सम्मार्जन आदि शरीर की सजावट में दत्तचित्त साधु सदा चंचल चित्त रहता है और उसे विकारोत्पत्ति होती है, जिससे चौथे व्रत की विराधना भी हो सकती है।

(३) स्त्री एवं उसके मनोहर मुख, नेत्र आदि अंगों को काम वासना की दृष्टि से न निरखना चाहिए। वासनाभरी दृष्टि द्वारा देखने से ब्रह्मचर्य खंडित होना संभव है।

(४) स्त्रियों के साथ परिचय न रखे। स्त्री, पशु, नपुंसक से सम्बन्धित उपाश्रय, शयन, आसन आदि का सेवन न करे। अन्यथा ब्रह्मचर्य व्रतभंग हो सकता है।

(५) तत्त्वज्ञ मुनि, स्त्री विषयक कथा न करे। स्त्री–कथा में आसक्त साधु का चित्त विकृत हो जाता है। स्त्री–कथा को ब्रह्मचर्य्य के लिए घातक समझ कर, इससे सदा ब्रह्मचारी को दूर रहना चाहिए।

आचारॉंग सूत्र तथा समवायांग सूत्र में ब्रह्मचर्य्य व्रत की

भावनाओं में शरीर की शोभा विभूषा का त्याग करने के स्थान में पूर्व क्रीड़ित अर्थात् गृहस्थावस्था में भोगे हुए काम--भोग आदि का स्मरण न करना लिखा है। क्योंकि पूर्व रति एवं क्रीड़ा का स्मरण करने से कामाग्नि दीप्त होती है, जो कि ब्रह्मचर्य्य के लिए घातक है।

३२१-परिग्रह विरमण रूप पांचवें महाव्रत की पाँच भावनाएं:-

पाँचों इन्द्रियों के विषय शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श के इन्द्रियगोचर होने पर मनोज्ञ पर मूर्च्छा--गृद्धि भाव न लावे एवं अमनोज्ञ पर द्वेष न करे। यों तो विषयों के गोचर होने पर इन्द्रियां उन्हें भोगती ही हैं, परन्तु साधु को मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ विषयों पर राग--द्वेष न करना चाहिए। पांचवें व्रत में मूर्च्छारूप भाव परिग्रह का त्याग किया जाता है इसलिए मूर्च्छा, ममत्व करने से व्रत खण्डित हो जाता है।

(बोल नम्बर ३१५ से ३२१ तक के लिए प्रमाण)
(हरिभद्रीय आवश्यक प्रतिक्रमणाध्ययन, पृष्ठ ६५८)
(प्रवचन सारोद्धार गाथा ६३६ से ६४०, पृष्ठ ११७)
(समवायांग, २५वां समवाय) (आचारांग सूत्र, श्रुतस्कन्ध २, चूला ३)
(धर्मसंग्रह, अधिकार ३, पृष्ठ १२५)

३२२-वेदिका प्रतिलेखना के पांच भेद:-

छः प्रमाद प्रतिलेखना में छठी वेदिका प्रतिलेखना है। वह पांच प्रकार की है:--

(१) ऊर्ध्ववेदिका (२) अधोवेदिका
(३) तिर्यग्वेदिका (४) द्विधावेदिका
(५) एकतोवेदिका

(१) ऊर्ध्ववेदिका:--दोनों घुटनों के ऊपर हाथ रखकर प्रति-लेखना करना, ऊर्ध्ववेदिका है।

(२) अधोवेदिका:--दोनों घुटनों के नीचे हाथ रखकर प्रतिलेखना करना, अधोवेदिका है।

(३) तिर्यग्वेदिका:--दोनों घुटनों के पार्श्व (पसवाड़े) में हाथ रख कर प्रतिलेखना करना, तिर्यग्वेदिका है।

(४) द्विधावेदिका:--दोनों घुटनों को दोनों भुजाओं के बीच में करके प्रतिलेखना करना, द्विधावेदिका है।

(५) एकतोवेदिकाः—एक घुटने को दोनों भुजाओं के बीच में करके प्रतिलेखना करना, एकतोवेदिका है।

(ठाणांग ६, उद्देशा ३, सूत्र ५०३)

३२३-पाँच समिति की व्याख्या और उनके भेदः-

प्रशस्त एकाग्र परिणामपूर्वक की जाने वाली आगमोक्त सम्यक् प्रवृत्ति, समिति कहलाती है।

अथवा :—

प्रणातिपात से निवृत्त होने के लिए यत्नपूर्वक सम्यक् प्रवृत्ति करना, समिति है।

समिति पांच हैं :—

(१) ईर्या समिति

(२) भाषा समिति

(३) एषणा समिति

(४) आदान भण्ड मात्र निक्षेपणा समिति

(५) उच्चार प्रस्त्रवण खेल सिंघाण जल्ल परिस्थापनिका समिति

(१) ईर्या समितिः—ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र के निमित्त आगमोक्त काल में युग परिमाण भूमि को एकाग्र चित्त से देखते हुए राजमार्ग आदि में यत्नपूर्वक गमनागमन करना ईर्या समिति है।

(२) भाषा समितिः—यतनापूर्वक भाषण में प्रवृत्ति करना अर्थात् आवश्यकता होने पर भाषा के दोषों का परिहार करते हुए सत्य, हित, मित और असन्दिग्ध वचन कहना, भाषा समिति है।

(३) एषणा समितिः—गवेषण, ग्रहण और ग्रास सम्बन्धी एषणा के दोषों से अदूषित अतएव विशुद्ध आहार, पानी, रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि औधिक उपधि और शय्या, पाट, पाटलादि औपग्रहिक उपधि का ग्रहण करना, एषणा समिति है।

नोटः—गवेषणैषणा, ग्रहणैषणा और ग्रासैषणा का स्वरूप ६३ वें बोल में दे दिया गया है।

(४) आदान भंड मात्र निक्षेपण समितिः—आसन, संस्तारक, पाट, पाटला, वस्त्र, पात्र, दण्डादि उपकरणों को उपयोगपूर्वक देख कर एवं रजोहरणादि से पूंज कर लेना एवं उपयोगपूर्वक देखी और पूंजी हुई भूमि पर रखना, आदान भंड मात्र निक्षेपणा समिति है।

(५) उच्चार प्रस्रवण खेल सिंघाण जल्ल परिस्थापनिका समितिः–स्थण्डिल के दोषों को वर्जते हुए परिठवने योग्य लघुनीत, बड़ीनीत, थूंक, कफ, नासिका मल और मैल आदि को निर्जीव स्थण्डिल में उपयोगपूर्वक परिठवना, उच्चार प्रस्रवण खेल सिंघाण जल्ल परिस्थापनिका समिति है।

(समवायांग ५) (ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४५७)

(धर्मसंग्रह, अधिकार ३, पृष्ठ १३०)

(उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन २४)

३२४-आचार पाँचः-

मोक्ष के लिए किया जाने वाला ज्ञानादि आसेवन रूप अनुष्ठान विशेष, आचार कहलाता है।

अथवा :–

गुणवृद्धि के लिए किया जाने वाला आचरण आचार कहलाता है।

अथवा :–

पूर्वपुरुषों से आचरित ज्ञानादि आसेवन विधि को, आचार कहते हैं।

आचार के पाँच भेद :–

(१) ज्ञानाचार (२) दर्शनाचार

(३) चारित्राचार (४) तप आचार

(५) वीर्य्याचार

(१) ज्ञानाचारः–सम्यक् तत्त्व का ज्ञान कराने के कारण भूत श्रुतज्ञान की आराधना करना, ज्ञानाचार है।

(२) दर्शनाचारः–दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व की निःशंकितादि रूप से शुद्ध आराधना करना, दर्शनाचार है।

(३) चारित्राचारः–ज्ञान एवं श्रद्धापूर्वक सर्व सावद्य योगों का त्याग करना, चारित्र है। चारित्र का सेवन करना, चारित्राचार है।

(४) तप आचारः–इच्छा निरोध रूप अनशनादि तप का सेवन करना, तप आचार है।

(५) वीर्य्याचारः–अपनी शक्ति का गोपन न करते हुए, धर्मकार्यों में यथाशक्ति मन, वचन, काया द्वारा प्रवृत्ति करना, वीर्य्याचार है।

(ठाणांग ५, उद्देशा २, सूत्र ४३२) (धर्मसंग्रह, अधिकार ३, पृष्ठ १४०)

३२५-आचार प्रकल्प के पाँच प्रकारः-

आचारांग नामक प्रथम अङ्ग के निशीथ नामक अध्ययन को आचार प्रकल्प कहते हैं। निशीथ अध्ययन आचारांग सूत्र की पंचम चूलिका है। इसके बीस उद्देशे हैं। इसमें पाँच प्रकार के प्रायश्चित्तों का वर्णन है। इसीलिये इसके पाँच प्रकार कहे जाते हैं। वे ये हैं:–

(१) मासिक उद्घातिक (२) मासिक अनुद्घातिक
(३) चौमासी उद्घातिक (४) चौमासी अनुद्घातिक
(५) आरोपणा

(१) मासिक उद्घातिकः–उद्घात अर्थात् विभाग करके जो प्रायश्चित्त दिया जाता है वह उद्घातिक प्रायश्चित्त है। एक मास का उद्घातिक प्रायश्चित्त मासिक उद्घातिक है। इसी को लघु मास प्रायश्चित्त भी कहते हैं।

मास के आधे पन्द्रह दिन, और मासिक प्रायश्चित्त के पूर्ववर्ती पच्चीस दिन के आधे १२।। दिन–इन दोनों को जोड़ने से २७।। दिन होते हैं। इस प्रकार भाग करके, जो एक मास का प्रायश्चित्त दिया जाता है, वह मासिक उद्घातिक या लघु मास प्रायश्चित्त है।

(२) मासिक अनुद्घातिकः–जिस प्रायश्चित्त का भाग न हो यानि लघुकरण न हो, वह अनुद्घातिक है। अनुद्घातिक प्रायश्चित्त को गुरु प्रायश्चित्त भी कहते हैं। एक मास का गुरु प्रायश्चित्त मासिक अनुद्घातिक प्रायश्चित्त कहलाता है।

(३) चौमासी उद्घातिकः–चार मास का लघु प्रायश्चित्त चौमासी उद्घातिक कहा जाता है।

(४) चौमासी अनुद्घातिकः–चार मास का गुरु प्रायश्चित्त चौमासी अनुद्घातिक कहा जाता है।

दोषों के उपयोग, अनुपयोग तथा आसक्तिपूर्वक सेवन की अपेक्षा तथा दोषों की न्यूनाधिकता से प्रायश्चित्त भी जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट रूप से दिया जाता है। प्रायश्चित्त रूप में तप भी किया जाता है। दीक्षा का छेद भी होता है। यह सब विस्तार छेद सूत्रों से जानना चाहिये।

(५) आरोपणाः–एक प्रायश्चित्त के ऊपर दूसरा प्रायश्चित्त चढ़ाना, आरोपणा प्रायश्चित्त है। तप प्रायश्चित्त छः मास तक ऊपरा--ऊपरी दिया जा सकता है। इसके आगे नहीं।

(ठाणांग ५, उद्देशा २, सूत्र ४३३)

३२६-आरोपणा के पांच भेदः-

(१) प्रस्थापिता (२) स्थापिता

(३) कृत्स्ना (४) अकृत्स्ना

(५) हाड़ाहड़ा

(१) प्रस्थापिताः—आरोपिता प्रायश्चित्त का जो पालन किया जाता है वह प्रस्थापिता आरोपणा है।

(२) स्थापिताः—जो प्रायश्चित्त आरोपणा से दिया गया है उस का वैयावृत्त्यादि कारणों से उसी समय पालन न कर, आगे के लिये स्थापित करना स्थापिता आरोपणा है।

(३) कृत्स्नाः—दोषों का जो प्रायश्चित्त छः महीने उपरान्त न होने से पूर्ण सेवन कर लिया जाता है और जिस प्रायश्चित्त में कमी नहीं की जाती वह कृत्स्ना आरोपणा है।

(४) अकृत्स्नाः—अपराध—बाहुल्य से छः मास से अधिक आरोपणा प्रायश्चित्त आने पर ऊपर का जितना भी प्रायश्चित्त है वह जिसमें कम कर दिया जाता है वह अकृत्स्ना आरोपणा है।

(५) हाड़ाहड़ाः—लघु अथवा गुरु एक, दो, तीन आदि मास का जो भी प्रायश्चित्त आया हो, वह तत्काल ही जिसमें सेवन किया जाता है, वह हाड़ाहड़ा आरोपणा है।

(ठाणांग ५, उद्देशा २, सूत्र ४३३)

(समवायांग २८)

३२७-पाँच शौच (शुद्धि):-

शौच अर्थात् मलीनता दूर करने रूप शुद्धि के पाँच प्रकार हैं।

(१) पृथ्वी शौच (२) जल शौच

(३) तेजः शौच (४) मन्त्र शौच

(५) ब्रह्म शौच

(१) पृथ्वी शौचः—मिट्टी से घृणित मल और गन्ध का दूर करना पृथ्वी शौच है।

(२) जल शौचः—पानी से धोकर मलीनता दूर करना जल शौच है।

(३) तेजः शौचः—अग्नि एवं अग्नि के विकारस्वरूप भस्म से शुद्धि करना तेजः शौच है।

(४) मन्त्र शौचः—मन्त्र से होने वाली शुद्धि मन्त्र शौच है।

(५) ब्रह्म शौचः—ब्रह्मचर्य्यादि कुशल अनुष्ठान, जो आत्मा के काम—कषायादि आभ्यन्तर मल की शुद्धि करते हैं, ब्रह्मशौच कहलाते हैं। सत्य, तप, इन्द्रिय—निग्रह एवं सर्व प्राणियों पर दया भाव रूप शौच का भी इसी में समावेश होता है।

इनमें पहले के चार शौच द्रव्य शौच हैं और ब्रह्म शौच भाव शौच है।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४४६)

३२८-पाँच प्रकार का प्रत्याख्यानः-

प्रत्याख्यान (पच्चक्खाण) पांच प्रकार से शुद्ध होता है। शुद्धि के भेद से प्रत्याख्यान भी पाँच प्रकार का हैः—

(१) श्रद्धान शुद्ध
(२) विनय शुद्ध
(३) अनुभाषण शुद्ध
(४) अनुपालना शुद्ध
(५) भाव शुद्ध

(१) श्रद्धान शुद्धः—जिनकल्प, स्थविर कल्प एवं श्रावक धर्म विषयक तथा सुभिक्ष, दुर्भिक्ष, पहली, चौथी पहर एवं चरम काल में सर्वज्ञ भगवान् ने जो प्रत्याख्यान कहे हैं उन पर श्रद्धा रखना श्रद्धान शुद्ध प्रत्याख्यान है।

(२) विनय शुद्धः—प्रत्याख्यान के समय में मन, वचन, काया का गोपन कर अन्यूनाधिक अर्थात् पूर्ण वन्दना की विशुद्धि रखना विनय शुद्ध प्रत्याख्यान है।

(३) अनुभाषण शुद्धः—गुरु को वन्दना करके उनके सामने खड़े हो, हाथ जोड़ कर प्रत्याख्यान करते हुए व्यक्ति का, गुरु के वचनों को धीमे शब्दों में अक्षर, पद, व्यञ्जन की अपेक्षा शुद्ध उच्चारण करते हुए दोहराना अनुभाषण (परिभाषण) शुद्ध है।

(४) अनुपालना शुद्धः—अटवी, दुष्काल तथा ज्वरादि महा रोग होने पर भी प्रत्याख्यान को भङ्ग न करते हुए उसका पालन करना अनुपालना शुद्ध है।

(५) भाव शुद्धः—राग, द्वेष, ऐहिक प्रशंसा तथा क्रोधादि परिणाम से प्रत्याख्यान को दूषित न करना भाव शुद्ध है।

उक्त प्रत्याख्यान शुद्धि के सिवा ज्ञान शुद्ध भी छठा प्रकार गिना गया है। ज्ञान शुद्ध का स्वरूप यह हैः—

जिनकल्प आदि में मूल गुण उत्तर गुण विषयक जो प्रत्याख्यान जिस काल में करना चाहिये उसे जानना ज्ञान शुद्ध है। पर ज्ञान शुद्ध का समावेश श्रद्धानशुद्ध में हो जाता है क्योंकि श्रद्धान भी ज्ञान विशेष ही है।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४६६)

(हरिभद्रीयावश्यक प्रत्याख्यानाध्ययन, पृष्ठ ८४७)

३२६-पाँच प्रतिक्रमणः-

प्रति अर्थात् प्रतिकूल और क्रमण अर्थात् गमन। शुभ योगों से अशुभ योग में गये हुए पुरुष का वापिस शुभ योग में आना प्रतिक्रमण है। कहा भी हैः–

स्वस्थानात् यत् परस्थानं, प्रमादस्य वशाद् गतम्।
तत्रैव क्रमणं भूयः, प्रतिक्रमणमुच्यते।।१।।

अर्थात् प्रमादवश आत्मा के निज गुणों को त्याग कर पर गुणों में गये हुए पुरुष का वापिस आत्म गुणों में लौट आना प्रतिक्रमण कहलाता है।

विषय भेद से प्रतिक्रमण पाँच प्रकार का हैः–

(१) आश्रवद्वार प्रतिक्रमण (२) मिथ्यात्व प्रतिक्रमण
(३) कषाय प्रतिक्रमण (४) योग प्रतिक्रमण
(५) भाव प्रतिक्रमण

(१) आश्रवद्वार (असंयम) प्रतिक्रमणः–आश्रव के द्वार प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह से निवृत्त होना, पुनः इनका सेवन न करना आश्रवद्वार प्रतिक्रमण है।

(२) मिथ्यात्व प्रतिक्रमणः–उपयोग, अनुपयोग या सहसाकारवश आत्मा के मिथ्यात्व परिणाम में प्राप्त होने पर उससे निवृत्त होना मिथ्यात्व प्रतिक्रमण है।

(३) कषाय प्रतिक्रमणः–क्रोध, मान, माया, लोभ–रूप कषाय परिणाम से आत्मा को निवृत्त करना कषाय प्रतिक्रमण है।

(४) योग प्रतिक्रमणः–मन, वचन, काया के अशुभ व्यापार प्राप्त होने पर उनसे आत्मा को पृथक करना योग प्रतिक्रमण है।

(५) भाव प्रतिक्रमण.–आश्रवद्वार, मिथ्यात्व, कषाय और योग में तीन करण, तीन योग से प्रवृत्ति न करना भाव प्रतिक्रमण है।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४६७)

(हरिभद्रीयावश्यक प्रतिक्रमणाध्ययन, पृष्ठ ५६४)

नोटः—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और अशुभ योग के भेद से भी प्रतिक्रमण पांच प्रकार का कहा जाता है किन्तु वास्तव में ये और उपर्युक्त पांचों भेद एक ही हैं। क्योंकि अविरति और प्रमाद का समावेश आश्रवद्वार में हो जाता है।

३३०-ग्रासैषणा (माँडला) के पाँच दोषः-

(१) संयोजना
(२) अप्रमाण
(३) अंगार
(४) धूम
(५) अकारण

इन दोषों का विचार साधुमंडली में बैठकर भोजन करते समय किया जाता है। इसलिये ये 'मांडला' के दोष भी कहे जाते हैं।

(१) संयोजनाः—उत्कर्षता पैदा करने के लिये एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ संयोग करना संयोजना दोष है। जैसे—रस लोलुपता के कारण दूध, शक्कर, घी आदि द्रव्यों को स्वाद के लिये मिलाना।

(२) अप्रमाणः—स्वाद के लोभ से भोजन के परिमाण का अतिक्रमण कर अधिक आहार करना अप्रमाण दोष है।

(३) अंगारः—स्वादिष्ट, सरस आहार करते हुए आहार की या दाता की प्रशंसा करना अंगार दोष है। जैसे—अग्नि से जला हुआ खदिर आदि इन्धन अंगारा (कोयला) हो जाता है। उसी प्रकार उक्त राग रूपी अग्नि से चारित्र रूपी इन्धन जलकर कोयले की तरह हो जाता है। अर्थात् राग से चारित्र का नाश हो जाता है।

(४) धूमः—विरस आहार करते हुए आहार या दाता की द्वेषवश निन्दा करना धूम दोष है। यह द्वेषभाव साधु के चारित्र को जला कर सधूम काष्ठ की तरह कलुषित करने वाला है।

(५) अकारणः—साधु को छः कारणों से आहार करने की आज्ञा है। इन छः कारणों के सिवा बल, वीर्य्यादि की वृद्धि के लिए आहार करना अकारण दोष है।

आहार के छः कारण ये हैंः—

(१) क्षुधा वेदनीय को शान्त करने के लिए।

(२) साधुओं की वैयावृत्त्य करने के लिए।

(३) ईर्य्या समिति शोधने के लिए।

(४) संयम निभाने के लिये।

(५) दश प्राणों की रक्षा के लिए।

(६) स्वाध्याय, ध्यान आदि करने के लिये।

(उत्तराध्ययन अध्ययन २६, गाथा ३२)

(धर्मसंग्रह, अधिकार ३, गाथा २३ की टीका) (पिण्ड निर्युक्ति गाथा)

३३१-छद्मस्थ के परिषह उपसर्ग सहने के पाँच स्थानः-

पाँच बोलों की भावना करता हुआ छद्मस्थ साधु उदय में आये हुए परिषह उपसर्गों को सम्यक् प्रकार से निर्भय हो कर अदीनता पूर्वक सहे, खमे और परिषह उपसर्गों से विचलित न हो।

(१) मिथ्यात्व मोहनीय आदि कर्मों के उदय से वह पुरुष शराब पिये हुए पुरुष की तरह उन्मत्त–सा बना हुआ है। इसी से यह पुरुष मुझे गाली देता है, मज़ाक करता है, भर्त्सना करता है, बांधता है, रोकता है, शरीर के अवयव हाथ, पैर आदि का छेदन करता है, मूर्छित करता है, मरणान्त दुःख देता है, मारता है, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद पोन्छन आदि को छीनता है। मेरे से वस्त्रादि को जुदा करता है, वस्त्र फाड़ता है, एवं पात्र फोड़ता है तथा उपकरणों की चोरी करता है।

(२) यह पुरुष देवता से अधिष्ठित है, इस कारण से गाली देता है। यावत् उपकरणों की चोरी करता है।

(३) यह पुरुष मिथ्यात्व आदि कर्म के वशीभूत है और मेरे भी इसी भव में भोगे जाने वाले वेदनीय कर्म उदय में हैं। इसी से यह पुरुष गाली देता है, यावत् उपकरणों की चोरी करता है।

(४) यह पुरुष मूर्ख है। पाप का इसे भय नहीं है। इसलिये यह गाली आदि परिषह दे रहा है। परन्तु यदि मैं इससे दिये गए परिषह उपसर्गों को सम्यक् प्रकार अदीन भाव से वीर की तरह सहन न करूँ तो मुझे भी पाप के सिवा और क्या प्राप्त होगा?

(५) यह पुरुष आक्रोश आदि परिषह उपसर्ग देता हुआ पाप कर्म बांध रहा है। परन्तु यदि मैं समभाव से इससे दिये गए परिषह उपसर्ग सह लूँगा तो मुझे एकान्त निर्जरा होगी।

यहाँ परिषह उपसर्ग से प्रायः आक्रोश और वध रूप दो परिषह तथा मनुष्य सम्बन्धी प्रद्वेषादि जन्य उपसर्ग से तात्पर्य्य है।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ४०६)

३३२-केवली के परिषह सहन करने के पाँच स्थानः-

पाँच स्थान से केवली उदय में आये हुए आक्रोश, उपहास आदि उपर्युक्त परिषह, उपसर्ग सम्यक् प्रकार से सहन करते हैं।

(१) पुत्र–शोक आदि दुःख से इस पुरुष का चित्त खिन्न एवं विक्षिप्त है। इसलिये यह पुरुष गाली देता है। यावत् उपकरणों की चोरी करता है।

(२) पुत्र–जन्म आदि हर्ष से यह पुरुष उन्मत्त हो रहा है। इसी से यह पुरुष गाली देता है, यावत् उपकरणों की चोरी करता है।

(३) यह पुरुष देवाधिष्ठित है। इसकी आत्मा पराधीन है। इसी से यह पुरुष मुझे गाली देता है, यावत् उपकरणों की चोरी करता है।

(४) परिषह उपसर्ग को सम्यक् प्रकार वीरतापूर्वक, अदीनभाव से सहन करते हुए एवं विचलित न होते हुए मुझे देखकर दूसरे बहुत से छद्मस्थ श्रमण निर्ग्रन्थ उदय में आये हुए परिषह उपसर्ग को सम्यक् प्रकार सहेंगे, खमेंगे एवं परिषह उपसर्ग से धर्म से चलित न होंगे। क्योंकि प्रायः सामान्य लोग महापुरुषों का अनुसरण किया करते हैं।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ४०६)

३३३-धार्मिक पुरुष के पाँच आलम्बन स्थानः-

श्रुत चारित्र रूप धर्म का सेवन करने वाले पुरुष के पाँच स्थान आलम्बन रूप हैं अर्थात् उपकारक हैं:–

(१) छः काया (२) गण

(३) राजा (४) गृहपति

(५) शरीर

(१) छः काया:–पृथ्वी आधार रूप है। वह सोने, बैठने, उपकरण रखने, परिठवने आदि क्रियाओं में उपकारक है। जल पीने, वस्त्र, पात्र धोने आदि उपयोग में आता है। आहार, ओसावन, गर्म पानी आदि में अग्नि काय का उपयोग है। जीवन के लिये वायु की अनिवार्य्य आवश्यकता है। संथारा, पात्र, दण्ड, वस्त्र, पीढ़ा, पाटिया वगैरह उपकरण तथा आहार औषधि आदि द्वारा वनस्पति धर्म पालन में उपकारक होती है। इसी प्रकार त्रस जीव भी धर्म–पालन

में अनेक प्रकार से सहायक होते हैं।

(२) गणः—गुरु के परिवार को गण या गच्छ कहते हैं। गच्छवासी साधु को विनय से विपुल निर्जरा होती है तथा सारणा, वारणा आदि से उसे दोषों की प्राप्ति नहीं होती। गच्छवासी साधु एक—दूसरे को धर्म पालन में सहायता करते हैं।

(३) राजाः—राजा दुष्टों से साधु पुरुषों की रक्षा करता है। इसलिए राजा धर्मपालन में सहायक होता है।

(४) गृहपति (शय्यादाता):—रहने के लिये स्थान देने से संयमोपकारी होता है।

(५) शरीरः—धार्मिक क्रिया अनुष्ठानों का पालन शरीर द्वारा ही होता है। इसलिए शरीर धर्म का सहायक होता है।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४४७)

३३४-पाँच अवग्रहः-

(१) देवेन्द्रावग्रह (२) राजावग्रह
(३) गृहपति अवग्रह (४) सागारी (शय्यादाता) अवग्रह
(५) साधर्मिकावग्रह

(१) देवेन्द्रावग्रहः—लोक के मध्य में रहे हुए मेरु पर्वत के बीचो—बीच रुचक प्रदेशों की एक प्रदेशवाली श्रेणी है। इससे लोक के दो भाग हो गये हैं—दक्षिणार्द्ध और उत्तरार्द्ध। दक्षिणार्द्ध का स्वामी शक्रेन्द्र है और उत्तरार्द्ध का स्वामी ईशानेन्द्र है। इसलिये दक्षिणार्द्धवर्ती साधुओं को शक्रेन्द्र की और उत्तरार्द्धवर्ती साधुओं को ईशानेन्द्र की आज्ञा माँगनी चाहिये।

भरत क्षेत्र दक्षिणार्द्ध में है। इसलिये यहाँ के साधुओं को शक्रेन्द्र की आज्ञा लेनी चाहिये। पूर्वकालवर्ती साधुओं ने शक्रेन्द्र की आज्ञा ली थी। यही आज्ञा वर्तमानकालीन साधुओं के भी चल रही है।

(२) राजावग्रहः—चक्रवर्ती आदि राजा जितने क्षेत्र का स्वामी है, उस क्षेत्र में रहते हुए साधुओं को राजा की आज्ञा लेना राजावग्रह है।

(३) गृहपति अवग्रहः—मण्डल का नायक या ग्राम का मुखिया गृहपति कहलाता है। गृहपति से अधिष्ठित क्षेत्र में रहते हुए साधुओं का गृहपति की अनुमति माँगना एवं उसकी अनुमति से कोई वस्तु

लेना गृहपति अवग्रह है।

(४) सागारी (शय्यादाता) अवग्रहः—घर, पाट, पाटला आदि के लिये गृहस्वामी की आज्ञा प्राप्त करना सागारी अवग्रह है।

(५) साधर्मिक अवग्रहः—समान धर्मवाले साधुओं से उपाश्रय आदि की आज्ञा प्राप्त करना साधर्मिकावग्रह है। साधर्मिक का अवग्रह पाँच कोस परिमाण जानना चाहिये।

वसति (उपाश्रय) आदि को ग्रहण करते हुए साधुओं को उक्त पाँच स्वामियों की यथायोग्य आज्ञा प्राप्त करनी चाहिये।

उक्त पाँच स्वामियों में से पहले–पहले के देवेन्द्र अवग्रहादि गौण हैं और पीछे के राजावग्रहादि मुख्य हैं। इसलिये पहले देवेन्द्रादि की आज्ञा प्राप्त होने पर भी पिछले राजा आदि की आज्ञा प्राप्त न हो तो देवेन्द्रादि की आज्ञा बाधित हो जाती है। जैसे–देवेन्द्र से अवग्रह प्राप्त होने पर यदि राजा अनुमति नहीं दे तो साधु देवेन्द्र से अनुज्ञापित वसति आदि उपभोग नहीं कर सकता। इसी प्रकार किसी वसति आदि के लिये राजा की आज्ञा प्राप्त हो जाय पर गृहपति की आज्ञा न हो तो भी साधु उसका उपभोग नहीं कर सकता। इसी प्रकार गृहपति की आज्ञा सागारी से और सागारी की आज्ञा साधर्मिक से बाधित समझी जाती है।

(अभिधान राजेन्द्र कोष, द्वितीय भाग, पृष्ठ ६६८)

(आचारांग श्रुत स्कन्ध २, अवग्रह प्रतिमा अध्ययन)

(प्रवचन सारोद्धार, गाथा ६८१–६८४) (भगवती शतक १२, उद्देशा २)

३३५-पाँच महानदियों को एक मास में दो अथवा तीन बार पार करने के पाँच कारणः-

उत्सर्ग मार्ग से साधु–साध्वियों को पाँच महानदियों (गंगा, यमुना, सरयू, ऐरावती और मही) को एक मास में दो बार अथवा तीन बार उतरना या नौकादि से पार करना नहीं कल्पता है। यहाँ पाँच महानदियाँ गिनाई गई हैं पर शेष भी बड़ी नदियों को पार करना निषिद्ध है।

परन्तु पाँच कारण होने पर महानदियां एक मास में दो या तीन बार अपवाद रूप में पार की जा सकती हैं।

(१) राजा–विरोधी आदि से उपकरणों के चोरे जाने का भय हो।

(२) दुर्भिक्ष होने से भिक्षा नहीं मिलती हो।

(३) कोई विरोधी गंगा आदि महानदियों में फेंक देवे।

(४) गंगा आदि महानदियां बाढ़ आने पर उन्मार्गगामी हो जायँ, जिस से साधु–साध्वी बह जाय।

(५) जीवन और चारित्र के हरण करने वाले म्लेच्छ आदि से पराभव हो।

(ठाणांग ५, उद्देशा २, सूत्र ४१२)

३३६-चौमासे के प्रारम्भिक पचास दिनों में विहार करने के पाँच कारण:-

पाँच कारणों से साधु–साध्वियों को प्रथम प्रावृट् अर्थात् चौमासे के पहले पचास दिनों में अपवाद रूप से विहार करना कल्पता है।

(१) राज–विरोधी आदि से उपकरणों के चोरे जाने का भय हो।

(२) दुर्भिक्ष होने से भिक्षा नहीं मिलती हो।

(३) कोई ग्राम से निकाल देवे।

(४) पानी की बाढ़ आ जाय।

(५) जीवन और चारित्र का नाश करने वाले अनार्य्य दुष्ट पुरुषों से पराभव हो।

(ठाणांग ५, उद्देशा २, सूत्र ४१३)

३३७-वर्षावास अर्थात् चौमासे के पिछले ७० दिनों में विहार करने के पाँच कारण:-

वर्षावास अर्थात् चौमासे के पिछले सत्तर दिनों में नियमपूर्वक रहते हुए साधु–साध्वियों को ग्रामानुग्राम विहार करना नहीं कल्पता है। पर अपवाद रूप में पाँच कारणों से चौमासे के पिछले ७० दिनों में साधु–साध्वी विहार कर सकते हैं।

(१) ज्ञानार्थी होने से साधु–सा[illegible] कर सकते हैं। जैसे कोई अपूर्व शास्त्रज्ञान किसी अ[illegible] पास हो और संथारा करना चाहता हो। यदि [illegible] उक्त आचार्य से ग्रहण न किया गया तो उसका [illegible] । यह [illegible] कर उसे ग्रहण करने के लिये [illegible] काल में ग्रामा[illegible] सकते हैं।

([illegible] से साधु–

जैसे–[illegible] करने

विहार

(३)

जैसे–कोई क्षेत्र अनेषणा, स्त्री आदि दोषों से दूषित हो तो चारित्र की रक्षा के लिये साधु–साध्वी विहार कर सकते हैं।

(४) आचार्य्य–उपाध्याय काल कर जाँय तो गच्छ में अन्य आचार्य्यादि के न होने पर दूसरे गच्छ में जाने के लिये साधु–साध्वी विहार कर सकते हैं।

(५) वर्षा क्षेत्र में बाहर रहे हुए आचार्य्य, उपाध्यायादि की वैयावृत्त्य के लिये आचार्य्य महाराज भेजें तो साधु विहार कर सकते हैं।

(ठाणांग ५, उद्देशा २, सूत्र ४१३)

३३८-राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करने के पाँच कारणः-

पाँच स्थानों से राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ साधु के आचार या भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।

(१) नगर प्राकार से घिरा हुआ हो और दरवाज़े बन्द हों। इस कारण बहुत से श्रमण, माहण, आहार–पानी के लिये न नगर से बाहर निकल सकते हों और न प्रवेश ही कर सकते हों। उन श्रमण, माहण आदि के प्रयोजन से अन्तःपुर में रहे हुए राजा को या अधिकारप्राप्त रानी को मालूम कराने के लिये मुनि राजा के अन्तःपुर में प्रवेश कर सकते हैं।

(२) पडिहारी (कार्य्य समाप्त होने पर वापिस करने योग्य) पाट, पाटले, शय्या, संथारे को वापिस देने के लिये मुनि राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करे। क्योंकि जो वस्तु जहाँ से लाई गई है उसे वापिस वहीं सौंपने का साधु का नियम है।

पाट, पाटलादि लेने के लिये अन्तःपुर में प्रवेश करने का भी इसी में समावेश होता है। क्योंकि ग्रहण करने पर ही वापिस करना सम्भव है।

(३) मतवाले दुष्ट हाथी, घोड़े सामने आ रहे हों, उनसे अपनी रक्षा के लिये साधु राजा के अन्तःपुर में प्रवेश कर सकता है।

(४) कोई व्यक्ति अकस्मात् या जबर्दस्ती से भुजा पकड़ कर साधु को राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करा देवे।

(५) नगर से बाहर आराम या उद्यान में रहे हुए साधु को राजा का अन्तःपुर (अन्तेउर) वर्ग चारों तरफ से घेर कर बैठ जाय।

(३) कोई विरोधी गंगा आदि महानदियों में फेंक देवे।

(४) गंगा आदि महानदियां बाढ़ आने पर उन्मार्गगामी हो जायँ, जिस से साधु–साध्वी बह जाय।

(५) जीवन और चारित्र के हरण करने वाले म्लेच्छ आदि से पराभव हो।

(ठाणांग ५, उद्देशा २, सूत्र ४१२)

३३६-चौमासे के प्रारम्भिक पचास दिनों में विहार करने के पाँच कारणः-

पाँच कारणों से साधु–साध्वियों को प्रथम प्रावृट् अर्थात् चौमासे के पहले पचास दिनों में अपवाद रूप से विहार करना कल्पता है।

(१) राज–विरोधी आदि से उपकरणों के चोरे जाने का भय हो।

(२) दुर्भिक्ष होने से भिक्षा नहीं मिलती हो।

(३) कोई ग्राम से निकाल देवे।

(४) पानी की बाढ़ आ जाय।

(५) जीवन और चारित्र का नाश करने वाले अनार्य्य दुष्ट पुरुषों से पराभव हो।

(ठाणांग ५, उद्देशा २, सूत्र ४१३)

३३७-वर्षावास अर्थात् चौमासे के पिछले ७० दिनों में विहार करने के पाँच कारणः-

वर्षावास अर्थात् चौमासे के पिछले सत्तर दिनों में नियमपूर्वक रहते हुए साधु–साध्वियों को ग्रामानुग्राम विहार करना नहीं कल्पता है। पर अपवाद रूप में पाँच कारणों से चौमासे के पिछले ७० दिनों में साधु–साध्वी विहार कर सकते हैं।

(१) ज्ञानार्थी होने से साधु–साध्वी विहार कर सकते हैं। जैसे–कोई अपूर्व शास्त्रज्ञान किसी आचार्य्यादि के पास हो और वह संथारा करना चाहता हो। यदि वह शास्त्रज्ञान उक्त आचार्य्यादि से ग्रहण न किया गया तो उसका विच्छेद हो जायगा। यह सोच कर उसे ग्रहण करने के लिये साधु–साध्वी उक्त काल में भी ग्रामानुग्राम विहार कर सकते हैं।

(२) दर्शनार्थी होने से साधु–साध्वी विहार कर सकते हैं। जैसे–कोई दर्शन की प्रभावना करने वाले शास्त्रज्ञान की इच्छा से विहार करे।

(३) चारित्रार्थी होने से साधु–साध्वी विहार कर सकते हैं।

जैसे–कोई क्षेत्र अनेषणा, स्त्री आदि दोषों से दूषित हो तो चारित्र की रक्षा के लिये साधु–साध्वी विहार कर सकते हैं।

(४) आचार्य्य–उपाध्याय काल कर जाँय तो गच्छ में अन्य आचार्य्यादि के न होने पर दूसरे गच्छ में जाने के लिये साधु–साध्वी विहार कर सकते हैं।

(५) वर्षा क्षेत्र में बाहर रहे हुए आचार्य्य, उपाध्यायादि की वैयावृत्त्य के लिये आचार्य्य महाराज भेजें तो साधु विहार कर सकते हैं।

(ठाणांग ५, उद्देशा २, सूत्र ४१३)

३३८-राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करने के पाँच कारणः-

पाँच स्थानों से राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ साधु के आचार या भगवान् की आज्ञा का उल्लंधन नहीं करता।

(१) नगर प्राकार से घिरा हुआ हो और दरवाज़े बन्द हों। इस कारण बहुत से श्रमण, माहण, आहार–पानी के लिये न नगर से बाहर निकल सकते हों और न प्रवेश ही कर सकते हों। उन श्रमण, माहण आदि के प्रयोजन से अन्तःपुर में रहे हुए राजा को या अधिकारप्राप्त रानी को मालूम कराने के लिये मुनि राजा के अन्तःपुर में प्रवेश कर सकते हैं।

(२) पडिहारी (कार्य्य समाप्त होने पर वापिस करने योग्य) पाट, पाटले, शय्या, संथारे को वापिस देने के लिये मुनि राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करे। क्योंकि जो वस्तु जहाँ से लाई गई है उसे वापिस वहीं सौंपने का साधु का नियम है।

पाट, पाटलादि लेने के लिये अन्तःपुर में प्रवेश करने का भी इसी में समावेश होता है। क्योंकि ग्रहण करने पर ही वापिस करना सम्भव है।

(३) मतवाले दुष्ट हाथी, घोड़े सामने आ रहे हों, उनसे अपनी रक्षा के लिये साधु राजा के अन्तःपुर में प्रवेश कर सकता है।

(४) कोई व्यक्ति अकस्मात् या जबर्दस्ती से भुजा पकड़ कर साधु को राजा के अन्तःपुर में प्रवेश करा देवे।

(५) नगर से बाहर आराम या उद्यान में रहे हुए साधु को राजा का अन्तःपुर (अन्तेउर) वर्ग चारों तरफ से घेर कर बैठ जाय।

(ठाणांग ५, उद्देशा २, सूत्र ४१५)

३३६-साधु-साध्वी के एकत्र स्थान, शय्या, निषद्या के पाँच बोलः-

उत्सर्ग रूप में साधु-साध्वी का एक जगह कायोत्सर्ग करना, स्वाध्याय करना, रहना, सोना आदि निषिद्ध है। परन्तु पाँच बोलों से साधु-साध्वी एक जगह कायोत्सर्ग, स्वाध्याय करें तथा एक जगह रहें और शयन करें तो वे भगवान् की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करते।

(१) दुर्भिक्षादि कारणों से कोई साधु-साध्वी एक ऐसी लम्बी अटवी में चले जाँय, जहाँ बीच में न ग्राम हो और न लोगों का आना-जाना हो, वहाँ उस अटवी में साधु-साध्वी एक जगह रह सकते हैं और कायोत्सर्ग आदि कर सकते हैं।

(२) कोई साधु-साध्वी, किसी ग्राम, नगर या राजधानी में आये हों। वहाँ उनमें से एक को रहने के लिये जगह मिल जाय और दूसरों को न मिले। ऐसी अवस्था में साधु-साध्वी एक जगह रह सकते हैं और कायोत्सर्ग आदि कर सकते हैं।

(३) कोई साधु या साध्वी नागकुमार, सुवर्णकुमार आदि के देहरे में उतरे हों। देहरा सूना हो अथवा वहाँ बहुत से लोग हों और कोई उनके नायक न हो तो साध्वी की रक्षा के लिये दोनों एक स्थान पर रह सकते हैं और कायोत्सर्ग आदि कर सकते हैं।

(४) कहीं चोर दिखाई दें और वे वस्त्र छीनने के लिये साध्वी, को पकड़ना चाहते हों तो साध्वी की रक्षा के लिये साधु-साध्वी एक स्थान पर रह सकते हैं और कायोत्सर्ग, स्वाध्याय आदि कर सकते हैं।

(५) कोई दुराचारी पुरुष साध्वी को शील भ्रष्ट की इच्छा से पकड़ना चाहे तो ऐसे अवसर पर साध्वी की रक्षा के लिये साधु-साध्वी एक स्थान पर रह सकते हैं और स्वाध्यायादि कर सकते हैं।

(ठाणांग ५, उद्देशा २, सूत्र ४१७)

३४०-साधु के द्वारा साध्वी को ग्रहण करने या सहारा देने के पाँच बोलः-

पाँच बोलों से साधु, साध्वी को ग्रहण करने अथवा सहारा देने के लिये उसका स्पर्श करे तो भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करता।

(१) कोई मत्त सांड आदि पशु या गीध आदि पक्षी साध्वी को मारते हों तो साधु साध्वी को बचाने के लिए उसका स्पर्श कर सकता है।

(२) दुर्ग अथवा विषम स्थानों पर फिसलती हुई या गिरती हुई साध्वी को बचाने के लिये साधु उसका स्पर्श कर सकता है।

(३) कीचड़ या दलदल में फँसी हुई अथवा पानी में बहती हुई साध्वी को साधु निकाल सकता है।

(४) नाव पर चढ़ती हुई या उतरती हुई साध्वी को साधु सहारा दे सकता है।

(५) यदि कोई साध्वी राग, भय या अपमान से शून्यचित्त वाली हो, सम्मान से हर्षोन्मत्त हो, यक्षाधिष्ठित हो, उन्माद वाली हो, उसके ऊपर उपसर्ग आये हों, यदि वह कलह करके खमाने के लिये आती हो, परन्तु पछतावे और भय के मारे शिथिल हो, प्रायश्चित्त वाली हो, संथारा की हुई हो, दुष्ट पुरुष अथवा चोर आदि द्वारा संयम से डिगाई जाती हो, ऐसी साध्वी की रक्षा के लिये साधु उसका स्पर्श कर सकता है।

(ठाणांग ५, उद्देशा २, सूत्र ४३७)

३४१-आचार्य्य के पाँच प्रकारः-

(१) प्रव्राजकाचार्य्य (२) दिगाचार्य्य

(३) उद्देशाचार्य्य (४) समुद्देशानुज्ञाचार्य्य

(५) आम्नायार्थवाचकाचार्य्य

(१) प्रव्राजकाचार्य्यः–सामायिक व्रत आदि का आरोपण करने वाले प्रव्राजकाचार्य्य कहलाते हैं।

(२) दिगाचार्य्यः–सचित्त, अचित्त, मिश्र वस्तु की अनुमति देने वाले दिगाचार्य्य कहलाते हैं।

(३) उद्देशाचार्य्यः–सर्वप्रथम श्रुत का कथन करने वाले या मूल पाठ सिखाने वाले उद्देशाचार्य्य कहलाते हैं।

(४) समुद्देशानुज्ञाचार्य्यः–श्रुत की वाचना देने वाले गुरु के न होने पर श्रुत को स्थिर–परिचित करने की अनुमति देने वाले समुद्देशानुज्ञाचार्य्य कहलाते हैं।

(५) आम्नायार्थवाचकाचार्य्यः–उत्सर्ग अपवाद रूप आम्नाय अर्थ के कहने वाले आम्नायार्थवाचकाचार्य्य कहलाते हैं।

से बड़े साधुओं की विनय न करा सकें।

(३) आचार्य्य, उपाध्याय जो सूत्रों के अध्ययन, उद्देश आदि धारण किये हुए हैं, उनकी यथावसर गण को वाचना न दें। वाचना न देने में दोनों ओर की अयोग्यता संभव है। गच्छ के साधु अविनीत हो सकते हैं तथा आचार्य्य, उपाध्याय भी सुखासक्त तथा मन्दबुद्धि हो सकते हैं।

(४) गच्छ में रहे हुए आचार्य्य, उपाध्याय अपने या दूसरे गच्छ की साध्वी में मोहवश आसक्त हो जाँय।

(५) आचार्य्य, उपाध्याय के मित्र या ज्ञाति के लोग किसी कारण से उन्हें गच्छ से निकालें। उन लोगों की बात स्वीकार कर उनकी वस्त्रादि से सहायता करने के लिये आचार्य्य, उपाध्याय गच्छ से निकल जाते हैं।

(ठाणांग ५, उद्देशा २, सूत्र ४३६)

३४४-गच्छ में आचार्य्य, उपाध्याय के पाँच कलह स्थानः-

(१) आचार्य्य, उपाध्याय गच्छ में "इस कार्य में प्रवृत्ति करो, इस कार्य को न करो" इस प्रकार प्रवृत्ति–निवृत्ति रूप आज्ञा और धारणा की सम्यक् प्रकार प्रवृत्ति न करा सकें।

(२) आचार्य्य, उपाध्याय गच्छ में साधुओं से रत्नाधिक (दीक्षा में बड़े) साधुओं की यथायोग्य विनय न करा सकें तथा स्वयं भी रत्नाधिक साधुओं की उचित विनय न करें।

(३) आचार्य्य, उपाध्याय जो सूत्र एवं अर्थ जानते हैं, उन्हें यथावसर सम्यग् विधिपूर्वक गच्छ के साधुओं को न पढ़ावें।

(४) आचार्य्य, उपाध्याय गच्छ में जो ग्लान और नवदीक्षित साधु हैं, उनके वैयावृत्त्य की व्यवस्था में सावधान न हों।

(५) आचार्य्य, उपाध्याय गण को बिना पूछे ही दूसरे क्षेत्रों में विचरने लग जायँ।

इन पाँच स्थानों से गच्छ में अनुशासन नहीं रहता है। इससे गच्छ में साधुओं के बीच कलह उत्पन्न होता है अथवा साधु लोग आचार्य्य, उपाध्याय से कलह करते हैं।

इन बोलों से विपरीत पाँच बोलों से गच्छ में सम्यक् व्यवस्था रहती है और कलह नहीं होता। इसलिये वे पाँच बोल अकलह स्थान के हैं।

(धर्मसंग्रह, अधिकार ३, पृष्ठ १२८)

३४२-आचार्य्य, उपाध्याय के शेष साधुओं की अपेक्षा पाँच अतिशयः-

गच्छ में वर्तमान आचार्य्य, उपाध्याय के अन्य साधुओं की अपेक्षा पाँच अतिशय अधिक होते हैं।

(१) उत्सर्ग रूप से सभी साधु जब बाहर से आते हैं तो स्थानक में प्रवेश करने के पहिले बाहर ही पैरों को पूँजते हैं और झाटकते हैं। उत्सर्ग से आचार्य्य, उपाध्याय भी उपाश्रय से बाहर ही खड़े रहते हैं और दूसरे साधु उनके पैरों का प्रमार्जन और प्रस्फोटन करते हैं अर्थात् धूलि दूर करते हैं और पूंजते हैं।

परन्तु इसके लिये बाहर ठहरना पड़े तो दूसरे साधुओं की तरह आचार्य्य, उपाध्याय बाहर न ठहरते हुए उपाश्रय के अन्दर ही आ जाते हैं और अन्दर ही दूसरे साधुओं से, धूलि न उड़े, इस प्रकार प्रमार्जन और प्रस्फोटन कराते हैं; यानि पुंजवाते हैं और धूलि दूर करवाते हैं। ऐसा करते हुए भी वे साधु के आचार का अतिक्रमण नहीं करते।

(२) आचार्य्य, उपाध्याय उपाश्रय में लघुनीत बड़ीनीत परठाते हुए या पैर आदि में लगी हुई अशुचि को हटाते हुए साधु के आचार का अतिक्रमण नहीं करते।

(३) आचार्य्य, उपाध्याय इच्छा हो तो दूसरे साधुओं की वैयावृत्त्य करते हैं, इच्छा न हो तो नहीं भी करते हैं।

(४) आचार्य्य, उपाध्याय उपाश्रय में एक या दो रात तक अकेले रहते हुए भी साधु के आचार का अतिक्रमण नहीं करते।

(५) आचार्य्य, उपाध्याय उपाश्रय से बाहर एक या दो रात तक अकेले रहते हुए भी साधु के आचार का अतिक्रमण नहीं करते।

(ठाणांग ५, सूत्र ४३८)

३४३-आचार्य्य, उपाध्याय के गण से निकलने के पाँच कारणः-

पाँच कारणों से आचार्य्य, उपाध्याय गच्छ से निकल जाते हैं।

(१) गच्छ में साधुओं के दुर्विनीत होने पर आचार्य्य, उपाध्याय "इस प्रकार प्रवृत्ति करो, इस प्रकार न करो" इत्यादि प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप, आज्ञा धारणा यथायोग्य न प्रवर्ता सकें।

(२) आचार्य्य, उपाध्याय पद के अभिमान से रत्नाधिक (दीक्षा में बड़े) साधुओं की यथायोग्य विनय न करें तथा साधुओं में छोटों

से बड़े साधुओं की विनय न करा सकें।

(३) आचार्य्य, उपाध्याय जो सूत्रों के अध्ययन, उद्देश आदि धारण किये हुए हैं, उनकी यथावसर गण को वाचना न दें। वाचना न देने में दोनों ओर की अयोग्यता संभव है। गच्छ के साधु अविनीत हो सकते हैं तथा आचार्य्य, उपाध्याय भी सुखासक्त तथा मन्दबुद्धि हो सकते हैं।

(४) गच्छ में रहे हुए आचार्य्य, उपाध्याय अपने या दूसरे गच्छ की साध्वी में मोहवश आसक्त हो जाँय।

(५) आचार्य्य, उपाध्याय के मित्र या ज्ञाति के लोग किसी कारण से उन्हें गच्छ से निकालें। उन लोगों की बात स्वीकार कर उनकी वस्त्रादि से सहायता करने के लिये आचार्य्य, उपाध्याय गच्छ से निकल जाते हैं।

(ठाणांग ५, उद्देशा २, सूत्र ४३६)

३४४-गच्छ में आचार्य्य, उपाध्याय के पाँच कलह स्थानः-

(१) आचार्य्य, उपाध्याय गच्छ में "इस कार्य में प्रवृत्ति करो, इस कार्य को न करो" इस प्रकार प्रवृत्ति–निवृत्ति रूप आज्ञा और धारणा की सम्यक् प्रकार प्रवृत्ति न करा सकें।

(२) आचार्य्य, उपाध्याय गच्छ में साधुओं से रत्नाधिक (दीक्षा में बड़े) साधुओं की यथायोग्य विनय न करा सकें तथा स्वयं भी रत्नाधिक साधुओं की उचित विनय न करें।

(३) आचार्य्य, उपाध्याय जो सूत्र एवं अर्थ जानते हैं, उन्हें यथावसर सम्यग् विधिपूर्वक गच्छ के साधुओं को न पढ़ावें।

(४) आचार्य्य, उपाध्याय गच्छ में जो ग्लान और नवदीक्षित साधु हैं, उनके वैयावृत्त्य की व्यवस्था में सावधान न हों।

(५) आचार्य्य, उपाध्याय गण को बिना पूछे ही दूसरे क्षेत्रों में विचरने लग जायँ।

इन पाँच स्थानों से गच्छ में अनुशासन नहीं रहता है। इससे गच्छ में साधुओं के बीच कलह उत्पन्न होता है अथवा साधु लोग आचार्य्य, उपाध्याय से कलह करते हैं।

इन बोलों से विपरीत पाँच बोलों से गच्छ में सम्यक् व्यवस्था रहती है और कलह नहीं होता। इसलिये वे पाँच बोल अकलह स्थान के हैं।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ३६६)

३४५-संभोगी साधुओं को अलग करने के पाँच बोलः-

पाँच बोल वाले स्वधर्मी संभोगी साधु को विसंभोगी अर्थात् संभोग से पृथक्, मंडली बाहर करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ भगवान् की आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता।

(१) जो अकृत्य कार्य का सेवन करता है।

(२) जो अकृत्य सेवन कर उसकी आलोचना नहीं करता।

(३) जो आलोचना करने पर गुरु से दिये हुए प्रायश्चित्त का सेवन नहीं करता।

(४) गुरु से दिये हुए प्रायश्चित्त का सेवन प्रारम्भ करके भी पूरी तरह से उसका पालन नहीं करता।

(५) स्थविरकल्पी साधुओं के आचार में जो विशुद्ध आहार शय्यादि कल्पनीय हैं और मासकल्प आदि की जो मर्यादा है उसका अतिक्रमण करता है। यदि साथ वाले कहें कि तुम्हें ऐसा न करना चाहिये, ऐसा करने से गुरु महाराज तुम्हें गच्छ से बाहर कर देंगे तो उत्तर में वह उन्हें कहता है कि मैं तो ऐसा ही करूँगा। गुरु महाराज मेरा क्या कर लेंगे ? नाराज़ होकर भी वे मेरा क्या कर सकते हैं ? आदि।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ३९८)

३४६-पारंचित प्रायश्चित्त के पाँच बोलः-

श्रमण निर्ग्रन्थ पाँच बोल वाले साधर्मिक साधुओं को दशवां पारंचित प्रायश्चित्त देता हुआ आचार और आज्ञा का अतिक्रमण नहीं करता।

पारंचित दशवां प्रायश्चित्त है। इससे बड़ा कोई प्रायश्चित्त नहीं है। इसमें साधु को नियत काल के लिये दोष की शुद्धिपर्यन्त साधुलिङ्ग छोड़ कर गृहस्थ–वेष में रहना पड़ता है।

(१) साधु जिस गच्छ में रहता है, उसमें फूट डालने के लिये आपस में कलह उत्पन्न करता हो।

(२) साधु जिस गच्छ में रहता है, उसमें भेद पड़ जाय इस आशय से, परस्पर कलह उत्पन्न करने में तत्पर रहता हो।

(३) साधु आदि की हिंसा करना चाहता हो।

(४) हिंसा के लिये प्रमत्तता आदि छिद्रों को देखता रहता हो।

(५) बार–बार असंयम के स्थानरूप सावद्य अनुष्ठान की पूछताछ करता रहता हो अथवा अंगुष्ठ, कुड्यम प्रश्न वगैरह का प्रयोग करता हो।

नोट : अंगुष्ठ प्रश्न विद्याविशेष है, जिसके द्वारा अंगूठे में देवता बुलाया जाता है। इसी प्रकार कुड्यम प्रश्न भी विद्याविशेष है, जिसके द्वारा दीवाल में देवता बुलाया जाता है। देवता के कहे अनुसार प्रश्नकर्त्ता को उत्तर दिया जाता है।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सू. ३९८)

३४७-पाँच अवन्दनीय साधुः-

जिनमत में ये पाँच साधु अवन्दनीय हैं:–

(१) पासत्थ (२) ओसन्न

(३) कुशील (४) संसक्त

(५) यथाच्छन्द

(१) पासत्थ (पार्श्वस्थ या पाशत्थ):–जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और प्रवचन में सम्यग् उपयोग वाला नहीं है। ज्ञानादि के समीप रह कर भी जो उन्हें अपनाता नहीं है वह पासत्थ (पार्श्वस्थ) है।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र में जो सुस्त रहता है अर्थात् उद्यम नहीं करता है वह पासत्थ कहा जाता है।

पाश का अर्थ है बन्धन। मिथ्यात्वादि बन्ध के हेतु भी भाव से पाशरूप हैं। उनमें रहने वाला अर्थात् उनका आचरण करने वाला पासत्थ (पाशस्थ) या पार्श्वस्थ कहलाता है।

पासत्थ के दो भेदः–सर्व पासत्थ और देश पासत्थ।

सर्व पासत्थः–जो केवल साधु वेषधारी है। किन्तु ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप रत्नत्रय की आराधना नहीं करता, वह सर्व पासत्थ कहा जाता है।

देश पासत्थः–बिना कारण शय्यातर पिण्ड, राज पिण्ड, नित्य पिण्ड, अग्र पिण्ड और सामने लाये हुए आहार का भोजन करने वाला देश पासत्थ कहलाता है।

(२) ओसन्न (अवसन्न):–समाचारी के विषय में प्रमाद करने वाला साधु ओसन्न (अवसन्न) कहा जाता है।

अवसन्न के दो भेदः–

(१) सर्व. अवसन्न (२) देश अवसन्न

सर्व अवसन्नः—जो एक पक्ष के अन्दर पीठ फलक आदि के बन्धन खोल कर उनकी पडिलेहना नहीं करता अथवा बार–बार सोने के लिये संथारा बिछाये रखता है तथा जो स्थापना और प्राभृतिका दोष से दूषित आहार लेता है, वह सर्व अवसन्न है।

नोट : स्थापना दोषः—साधु के निमित्त रख छोड़े हुए आहार को लेना स्थापना दोष है।

प्राभृतिका दोषः—साधु के लिये विवाहादि के भोज को आगे पीछे करके जो आहार बनाया जाता है, उसे लेना प्राभृतिका दोष है।

देश अवसन्नः—जो प्रतिक्रमण नहीं करता अथवा अविधि से हीनाधिक दोषयुक्त करता है या असमय में करता है, स्वाध्याय नहीं करता है अथवा निषिद्ध काल में करता है, पडिलेहना नहीं करता है अथवा असावधानी से करता है, सुखार्थी होकर भिक्षा के लिये नहीं जाता है अथवा अनुपयोगपूर्वक भिक्षाचरी करता है, अनेषणीय आहार ग्रहण करता है। "मैंने क्या किया ? मुझे क्या करना चाहिये और मैं क्या–क्या कर सकता हूँ?" इत्यादि रूप शुभध्यान नहीं करता, साधुमंडली में बैठ कर भोजन नहीं करता, यदि करता है तो संयोजनादि माँडला के दोषों का सेवन करता है, बाहर से आकर नैषेधिकी आदि समाचारी नहीं करता तथा उपाश्रय से जाते समय आवश्यकादि समाचारी नहीं करता, गमनागमन में इरियावहिया का कायोत्सर्ग नहीं करता, बैठते और सोते समय भी जमीन पूंजने आदि की समाचारी का पालन नहीं करता और "दोषों की सम्यक् आलोचना आदि करके प्रायश्चित्त ले लो" आदि गुरु के कहने पर उनके सामने अनिष्ट वचन कहता है और गुरु के कहे अनुसार नहीं करता इत्यादि प्रकार से साधु की समाचारी में दोष लगाने वाला देश अवसन्न कहा जाता है।

(३) कुशीलः—कुत्सित अर्थात् निन्द्य शील–आचार वाले साधु को कुशील कहते हैं।

कुशील के तीन भेदः—ज्ञान कुशील, दर्शन कुशील, चारित्र कुशील।

ज्ञान कुशीलः—काल, विनय इत्यादि ज्ञान के आचार की

विराधना करने वाला ज्ञान कुशील कहा जाता है।

दर्शन कुशीलः—निःशंकित, निष्कांक्षित आदि समकित के आठ आचार की विराधना करने वाला दर्शन कुशील कहा जाता है।

चारित्र कुशीलः—कौतुक, भूतिकर्म, प्रश्नाप्रश्न, निमित्त, आजीव, कल्ककुरुका, लक्षण, विद्या, मन्त्रादि द्वारा आजीविका करने वाला साधु चारित्र कुशील कहा जाता है।

कौतुकादि का लक्षण इस प्रकार हैः—

कौतुकः—सौभाग्यादि के लिए स्त्री आदि का विविध औषधि मिश्रित जल से स्नान आदि कौतुक कहा जाता है। अथवा कौतुक आश्चर्य को कहते हैं। जैसे—मुख में गोले डाल कर नाक या कान आदि से निकालना तथा मुख से अग्नि निकालना आदि।

भूतिकर्मः—ज्वर आदि रोग वालों को मंत्र की हुई भस्मी (राख) देना भूतिकर्म है।

प्रश्नाप्रश्नः—प्रश्नकर्त्ता अथवा दूसरे को, जाप की हुई विद्या अधिष्ठात्री देवी से, स्वप्न में कही हुई बात कहना अथवा कर्ण पिशाचिका और मन्त्र से अभिषिक्त घटिकादि से कही हुई बात कहना प्रश्नाप्रश्न है।

निमित्तः—भूत, भविष्य और वर्तमान के लाभ, अलाभ आदि भाव कहना निमित्त है।

आजीवः—जाति, कुल, गण, शिल्प (आचार्य से सीखा हुआ), कर्म (स्वयं सीखा हुआ) बता कर समान जाति—कुल आदि वालों से आजीविका करना तथा अपने को तप और श्रुत का अभ्यासी बता कर आजीविका करना आजीव है।

कल्क कुरुकाः—कल्क कुरुका का अर्थ माया है अर्थात्—धूर्तता द्वारा दूसरों को ठगना कल्क कुरुका है।

अथवाः—

कल्कः—प्रसूति आदि रोगों में क्षारपातन को कल्क कहते हैं अथवा शरीर के एक देश को या सारे शरीर को लोद आदि से उबटन करना कल्क है।

ब—कुरुकाः—शरीर के एक देश को या सारे शरीर को धोना ब—कुरुका है।

लक्षणः—स्त्री—पुरुष आदि के शुभाशुभ सामुद्रिक लक्षण बतलाना

लक्षण कहा जाता है।

विद्याः—देवी जिसकी अधिष्ठायिका होती है अथवा जो साधी जाती है वह विद्या है।

मन्त्रः—देवता जिसका अधिष्ठाता होता है वह मन्त्र है अथवा जिसे साधना नहीं पड़ता वह मन्त्र है।

इसी प्रकार मूल कर्म (गर्भ गिराना, गर्भ रखाने आदि की औषधि देना), चूर्ण योग आदि तथा शरीर विभूषादि से चारित्र को मलीन करने वाले साधु को भी चारित्र कुशील ही समझना चाहिये।

(४) संसक्तः—मूल गुण और उत्तर गुण तथा इनके जितने दोष हैं वे सभी जिसमें मिले रहते हैं, वह संसक्त कहलाता है। जैसे—गाय के बांटे में अच्छी—बुरी, उच्छिष्ट—अनुच्छिष्ट आदि सभी चीज़ें मिली रहती हैं। इसी प्रकार संसक्त में भी गुण और दोष मिले रहते हैं।

संसक्त के दो भेद—संक्लिष्ट और असंक्लिष्ट।

संक्लिष्ट संसक्तः—प्राणातिपात आदि पाँच आश्रवों में प्रवृत्ति करने वाला ऋद्धि आदि तीन गारव में आसक्त, स्त्री प्रतिषेवी (स्त्री संक्लिष्ट) तथा गृहस्थ सम्बन्धी द्विपद, चतुष्पद, धन—धान्य आदि प्रयोजनों में प्रवृत्ति करने वाला संक्लिष्ट संसक्त कहा जाता है।

असंक्लिष्ट संसक्तः—जो पासत्थ, अवसन्न, कुशील आदि में मिल कर पासत्थ, अवसन्न, कुशील आदि हो जाता है तथा संविग्न अर्थात् उद्यत विहारी साधुओं में मिल कर उद्यत विहारी हो जाता है। कभी धर्मप्रिय लोगों में आकर धर्म से प्रेम करने लगता है और कभी धर्मद्वेषी लोगों के बीच रह कर धर्म से द्वेष करने लगता है। ऐसे साधु को असंक्लिष्ट संसक्त कहते हैं। इसका आचार वैसे ही बदलता रहता है जैसे—कथा के अनुसार नट के हाव—भाव, वेष और भाषा आदि बदलते रहते हैं।

(५) यथाच्छन्दः—उत्सूत्र (सूत्र—विपरीत) की प्ररूपणा करने वाला और सूत्र—विरुद्ध आचरण करने वाला, गृहस्थ के कार्यों में प्रवृत्ति करने वाला, चिड़चिड़े स्वभाव वाला, आगम निरपेक्ष, स्वमति कल्पित अपुष्टालम्बन का आश्रय लेकर सुख चाहने वाला, विगय आदि में आसक्त, तीन गारव से गर्वोन्मत्त ऐसा साधु यथाच्छन्द कहा जाता है।

इन पांचों को वन्दना करने वाले के न निर्जरा होती है और न

कीर्ति ही। वन्दना करने वाले को कायक्लेश होता है और इसके सिवा कर्म–बन्ध भी होता है। पासत्थे आदि का संसर्ग करने वाले भी अवन्दनीय बताये गये हैं।

(हरिभद्रीयावश्यक वन्दनाध्ययन, पृष्ठ ५१८)

(प्रवचन सारोद्धार, पूर्वभाग, गाथा १०३ से १२३)

३४८-पास जाकर वन्दना के पाँच असमयः-

(१) गुरु महाराज अनेक भव्य जीवों से भरी हुई सभा में धर्म–कथादि में व्यग्र हों। उस समय पास जाकर वन्दना न करनी चाहिये। उस समय वन्दना करने से धर्म में अन्तराय लगती है।

(२) गुरु महाराज किसी कारण से पराङ्मुख हों अर्थात् मुंह फेरे हुए हों उस समय भी वन्दना नहीं करनी चाहिये क्योंकि उस समय वे वन्दना को स्वीकार न कर सकेंगे।

(३) क्रोध व निद्रादि प्रमाद से प्रमत्त गुरु महाराज को भी वन्दना न करना चाहिये क्योंकि उस समय वे कोप कर सकते हैं।

(४) आहार करते हुए गुरु महाराज को भी वन्दना न करनी चाहिये क्योंकि उस समय वन्दना करने से आहार में अन्तराय पड़ती है।

(५) मल–मूत्र त्यागते समय भी गुरु महाराज को वन्दना न करनी चाहिये क्योंकि उस समय वन्दना करने से वे लज्जित हो सकते हैं या और कोई दोष उत्पन्न हो सकता है।

(प्रवचन सारोद्धार, वन्दना द्वार, पृष्ठ २७१)

(हरिभद्रीयावश्यक वन्दनाध्ययन, पृष्ठ ५४०)

३४९-पास जाकर वन्दनायोग्य समय के पाँच बोलः-

(१) गुरु महाराज प्रसन्नचित्त हों, प्रशान्त हों अर्थात् व्याख्यानादि में व्यग्र न हों।

(२) गुरु महाराज आसन पर बैठे हों।

(३) गुरु महाराज क्रोधादि प्रमादवश न हों।

(४) शिष्य के 'वन्दना करना चाहता हूँ' ऐसा पूछने पर गुरु महाराज 'इच्छा हो' ऐसा कहते हुए वन्दना स्वीकार करने में सावधान हों।

(५) ऐसे गुरु महाराज से आज्ञा प्राप्त की हो।

(हरिभद्रीयावश्यक वन्दनाध्ययन, पृष्ठ ५४१)

(प्रवचन सारोद्धार, पृष्ठ २७१, वन्दना द्वार)

३५०-भगवान् महावीर से उपदिष्ट एवं अनुमत पाँच बोलः-

पाँच बोलों का भगवान् महावीर ने नामनिर्देशपूर्वक स्वरूप और फल बताया है। उन्होंने उनकी प्रशंसा की है और आचरण करने की अनुमति दी है।

वे बोल निम्न प्रकार हैं:-

(१) क्षान्ति (२) मुक्ति
(३) आर्जव (४) मार्दव
(५) लाघव

(१) क्षान्तिः-शक्त अथवा अशक्त पुरुष के कठोर भाषणादि को सहन कर लेना तथा क्रोध का सर्वथा त्याग करना क्षान्ति है।

(२) मुक्तिः-सभी वस्तुओं में तृष्णा का त्याग करना, धर्मोपकरण एवं शरीर में भी ममत्व भाव न रखना, सब प्रकार के लोभ को छोड़ना मुक्ति है।

(३) आर्जवः-मन, वचन, काया की सरलता रखना और माया का निग्रह करना आर्जव है।

(४) मार्दवः-विनम्र वृत्ति रखना, अभिमान न करना मार्दव है।

(५) लाघवः-द्रव्य से अल्प उपकरण रखना एवं भाव से तीन गारव का त्याग करना लाघव है।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ३९६)

(धर्मसंग्रह, अधिकार ३, पृष्ठ १२७)

(प्रवचन सारोद्धार, पूर्वभाग, पृष्ठ १३४)

३५१-भगवान् से उपदिष्ट एवं अनुमत पाँच स्थानः-

(१) सत्य (२) संयम
(३) तप (४) त्याग
(५) ब्रह्मचर्य्य

(१) सत्यः-सावद्य अर्थात् असत्य, अप्रिय, अहित वचन का त्याग करना, यथार्थ भाषण करना, मन, वचन, काया की सरलता रखना सत्य है।

(२) संयमः-सर्व सावद्य व्यापार से निवृत्त होना संयम है। पाँच आश्रव से निवृत्ति, पाँच इन्द्रिय का निग्रह, चार कषाय पर विजय और तीन दण्ड से विरति। इस प्रकार सतरह भेद वाले संयम का

(प्रवचन सारोद्धार, पृष्ठ २७१, वन्दना द्वार)

३५०-भगवान् महावीर से उपदिष्ट एवं अनुमत पाँच बोलः-

पाँच बोलों का भगवान् महावीर ने नामनिर्देशपूर्वक स्वरूप और फल बताया है। उन्होंने उनकी प्रशंसा की है और आचरण करने की अनुमति दी है।

वे बोल निम्न प्रकार हैं:-

(१) क्षान्ति (२) मुक्ति

(३) आर्जव (४) मार्दव

(५) लाघव

(१) क्षान्तिः-शक्त अथवा अशक्त पुरुष के कठोर भाषणादि को सहन कर लेना तथा क्रोध का सर्वथा त्याग करना क्षान्ति है।

(२) मुक्तिः-सभी वस्तुओं में तृष्णा का त्याग करना, धर्मोपकरण एवं शरीर में भी ममत्व भाव न रखना, सब प्रकार के लोभ को छोड़ना मुक्ति है।

(३) आर्जवः-मन, वचन, काया की सरलता रखना और माया का निग्रह करना आर्जव है।

(४) मार्दवः-विनम्र वृत्ति रखना, अभिमान न करना मार्दव है।

(५) लाघवः-द्रव्य से अल्प उपकरण रखना एवं भाव से तीन गारव का त्याग करना लाघव है।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ३६६)

(धर्मसंग्रह, अधिकार ३, पृष्ठ १२७)

(प्रवचन सारोद्धार, पूर्वभाग, पृष्ठ १३४)

३५१-भगवान् से उपदिष्ट एवं अनुमत पाँच स्थानः-

(१) सत्य (२) संयम

(३) तप (४) त्याग

(५) ब्रह्मचर्य्य

(१) सत्यः-सावद्य अर्थात् असत्य, अप्रिय, अहित वचन का त्याग करना, यथार्थ भाषण करना, मन, वचन, काया की सरलता रखना सत्य है।

(२) संयमः-सर्व सावद्य व्यापार से निवृत्त होना संयम है। पाँच आश्रव से निवृत्ति, पाँच इन्द्रिय का निग्रह, चार कषाय पर विजय और तीन दण्ड से विरति। इस प्रकार सतरह भेद वाले संयम का

(५) तज्जात संसृष्ट कल्पिकः—दिये जाने वाले द्रव्य से ही खरड़े हुए हाथ या भाजन आदि से दिया जाने वाला आहार जिसे कल्पता है वह तज्जात संसृष्ट कल्पिक है।

ये पाँचों प्रकार भी अभिग्रहविशेषधारी साधु के ही जानने चाहिये।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ३९६)

३५४-भगवान् महावीर से उपदिष्ट एवं अनुमत पाँच स्थानः-

(१) औपनिधिक (२) शुद्धैषणिक
(३) संख्यादत्तिक (४) दृष्टलाभिक
(५) पृष्टलाभिक

(१) औपनिधिकः—गृहस्थ के पास जो कुछ भी आहारादि रखा है उसी की गवेषणा करने वाला साधु औपनिधिक कहलाता है।

(२) शुद्धैषणिकः—शुद्ध अर्थात् शंकितादि दोषवर्जित निर्दोष एषणा अथवा संसृष्टादि सात प्रकार की या और किसी एषणा द्वारा आहार की गवेषणा करने वाला साधु शुद्धैषणिक कहा जाता है।

(३) संख्यादत्तिकः—दत्ति (दात) की संख्या का परिमाण करके आहार लेने वाला साधु संख्या दत्तिक कहा जाता है।

साधु के पात्र में धार टूटे बिना एक बार में जितनी भिक्षा आ जाय वह दत्ति यानि दात कहलाती है।

(४) दृष्टलाभिकः—देखे हुए आहार की ही गवेषणा करने वाला साधु दृष्टलाभिक कहलाता है।

(५) पृष्टलाभिकः—'हे मुनिराज ! क्या आपको मैं आहार दूँ ?' इस प्रकार पूछने वाले दाता से ही आहार की गवेषणा करने वाला साधु पृष्टलाभिक कहलाता है।

ये भी अभिग्रहधारी साधु के पाँच प्रकार हैं।

३५५-भगवान् महावीर से उपदिष्ट एवं अनुमत पाँच स्थानः-

(१) आचाम्लिक (२) निर्विकृतिक
(३) पूर्वार्द्धिक (४) परिमित पिण्डपातिक
(५) भिन्न पिण्डपातिक

(१) आचाम्लिक (आयंबिलिए):—आचाम्ल (आयंबिल) तप करने वाला साधु आचाम्लिक कहलाता है।

(२) निर्विकृतिक (णिव्वियते):—घी आदि विगय का त्याग करने

हुए आहार की गवेषणा करने वाला साधु अन्त चरक कहलाता है।

(४) प्रान्त चरकः–भोजन से अवशिष्ट, बासी या तुच्छ आहार की गवेषणा करने वाला साधु प्रान्त चरक कहलाता है।

(५) लूक्ष चरकः–रूखे, स्नेहरहित आहार की गवेषणा करने वाला साधु लूक्ष चरक कहलाता है।

ये पाँचों अभिग्रह–विशेषधारी साधु के प्रकार हैं। प्रथम दो भाव–अभिग्रह और शेष तीन द्रव्य–अभिग्रह हैं।

(ठाणांग ५, सूत्र ३९६)

३५३-भगवान से उपदिष्ट एवं अनुमत पाँच स्थानः-

(१) अज्ञात चरक

(२) अन्न इलाय चरक (अन्न ग्लानक चरक, अन्न ग्लायक चरक, अन्य ग्लायक चरक)

(३) मौन चरक

(४) संसृष्ट कल्पिक

(५) तज्जात संसृष्ट कल्पिक

(१) अज्ञात चरकः–आगे–पीछे के परिचयरहित अज्ञात घरों में आहार की गवेषणा करने वाला अथवा अज्ञात रह कर गृहस्थ को स्वजाति आदि न बतला कर आहार–पानी की गवेषणा करने वाला साधु अज्ञात चरक कहलाता है।

(२) अन्न इलाय चरक (अन्न ग्लानक चरक, अन्न ग्लायक चरक, अन्य ग्लायक चरक):–

अभिग्रह विशेष से सुबह ही आहार करने वाला साधु अन्न ग्लानक चरक कहलाता है।

अन्न के बिना भूख आदि से जो ग्लान हो उसी अवस्था में आहार की गवेषणा करने वाला साधु अन्न ग्लायक चरक कहलाता है।

दूसरे ग्लान साधु के लिये आहार की गवेषणा करने वाला मुनि अन्य ग्लायक चरक कहलाता है।

(३) मौन चरकः–मौनव्रतपूर्वक आहार की गवेषणा करने वाला साधु मौन चरक कहलाता है।

(४) संसृष्ट कल्पिकः–संसृष्ट अर्थात् खरड़े हुए हाथ या भाजन आदि से दिया जाने वाला आहार ही जिसे कल्पता है वह संसृष्ट कल्पिक है।

(५) तज्जात संसृष्ट कल्पिकः—दिये जाने वाले द्रव्य से ही खरड़े हुए हाथ या भाजन आदि से दिया जाने वाला आहार जिसे कल्पता है वह तज्जात संसृष्ट कल्पिक है।

ये पाँचों प्रकार भी अभिग्रहविशेषधारी साधु के ही जानने चाहिये।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ३९६)

३५४-भगवान् महावीर से उपदिष्ट एवं अनुमत पाँच स्थानः-

(१) औपनिधिक (२) शुद्धैषणिक

(३) संख्यादत्तिक (४) दृष्टलाभिक

(५) पृष्टलाभिक

(१) औपनिधिकः—गृहस्थ के पास जो कुछ भी आहारादि रखा है उसी की गवेषणा करने वाला साधु औपनिधिक कहलाता है।

(२) शुद्धैषणिकः—शुद्ध अर्थात् शंकितादि दोषवर्जित निर्दोष एषणा अथवा संसृष्टादि सात प्रकार की या और किसी एषणा द्वारा आहार की गवेषणा करने वाला साधु शुद्धैषणिक कहा जाता है।

(३) संख्यादत्तिकः—दत्ति (दात) की संख्या का परिमाण करके आहार लेने वाला साधु संख्या दत्तिक कहा जाता है।

साधु के पात्र में धार टूटे बिना एक बार में जितनी भिक्षा आ जाय वह दत्ति यानि दात कहलाती है।

(४) दृष्टलाभिकः—देखे हुए आहार की ही गवेषणा करने वाला साधु दृष्टलाभिक कहलाता है।

(५) पृष्टलाभिकः—'हे मुनिराज ! क्या आपको मैं आहार दूँ ?' इस प्रकार पूछने वाले दाता से ही आहार की गवेषणा करने वाला साधु पृष्टलाभिक कहलाता है।

ये भी अभिग्रहधारी साधु के पाँच प्रकार हैं।

३५५-भगवान् महावीर से उपदिष्ट एवं अनुमत पाँच स्थानः-

(१) आचाम्लिक (२) निर्विकृतिक

(३) पूर्वार्द्धिक (४) परिमित पिण्डपातिक

(५) भिन्न पिण्डपातिक

(१) आचाम्लिक (आयंबिलिए):—आचाम्ल (आयंबिल) तप करने वाला साधु आचाम्लिक कहलाता है।

(२) निर्विकृतिक (णिव्वियते):—घी आदि विगय का त्याग करने

हुए आहार की गवेषणा करने वाला साधु अन्त चरक कहलाता है।

(४) प्रान्त चरकः—भोजन से अवशिष्ट, बासी या तुच्छ आहार की गवेषणा करने वाला साधु प्रान्त चरक कहलाता है।

(५) लूक्ष चरकः—रूखे, स्नेहरहित आहार की गवेषणा करने वाला साधु लूक्ष चरक कहलाता है।

ये पाँचों अभिग्रह—विशेषधारी साधु के प्रकार हैं। प्रथम दो भाव—अभिग्रह और शेष तीन द्रव्य—अभिग्रह हैं।

(ठाणांग ५, सूत्र ३६६)

३५३-भगवान से उपदिष्ट एवं अनुमत पाँच स्थानः-

(१) अज्ञात चरक

(२) अन्न इलाय चरक (अन्न ग्लानक चरक, अन्न ग्लायक चरक, अन्य ग्लायक चरक)

(३) मौन चरक

(४) संसृष्ट कल्पिक

(५) तज्जात संसृष्ट कल्पिक

(१) अज्ञात चरकः—आगे—पीछे के परिचयरहित अज्ञात घरों में आहार की गवेषणा करने वाला अथवा अज्ञात रह कर गृहस्थ को स्वजाति आदि न बतला कर आहार—पानी की गवेषणा करने वाला साधु अज्ञात चरक कहलाता है।

(२) अन्न इलाय चरक (अन्न ग्लानक चरक, अन्न ग्लायक चरक, अन्य ग्लायक चरक):—

अभिग्रह विशेष से सुबह ही आहार करने वाला साधु अन्न ग्लानक चरक कहलाता है।

अन्न के बिना भूख आदि से जो ग्लान हो उसी अवस्था में आहार की गवेषणा करने वाला साधु अन्न ग्लायक चरक कहलाता है।

दूसरे ग्लान साधु के लिये आहार की गवेषणा करने वाला मुनि अन्य ग्लायक चरक कहलाता है।

(३) मौन चरकः—मौनव्रतपूर्वक आहार की गवेषणा करने वाला साधु मौन चरक कहलाता है।

(४) संसृष्ट कल्पिकः—संसृष्ट अर्थात् खरड़े हुए हाथ या भाजन से दिया जाने वाला आहार ही जिसे कल्पता है वह संसृष्ट कल्पिक है।

(५) तज्जात संसृष्ट कल्पिकः—दिये जाने वाले द्रव्य से ही खरड़े हुए हाथ या भाजन आदि से दिया जाने वाला आहार जिसे कल्पता है वह तज्जात संसृष्ट कल्पिक है।

ये पाँचों प्रकार भी अभिग्रहविशेषधारी साधु के ही जानने चाहिये।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ३९६)

३५४-भगवान् महावीर से उपदिष्ट एवं अनुमत पाँच स्थानः-

(१) औपनिधिक (२) शुद्धैषणिक

(३) संख्यादत्तिक (४) दृष्टलाभिक

(५) पृष्टलाभिक

(१) औपनिधिकः—गृहस्थ के पास जो कुछ भी आहारादि रखा है उसी की गवेषणा करने वाला साधु औपनिधिक कहलाता है।

(२) शुद्धैषणिकः—शुद्ध अर्थात् शंकितादि दोषवर्जित निर्दोष एषणा अथवा संसृष्टादि सात प्रकार की या और किसी एषणा द्वारा आहार की गवेषणा करने वाला साधु शुद्धैषणिक कहा जाता है।

(३) संख्यादत्तिकः—दत्ति (दात) की संख्या का परिमाण करके आहार लेने वाला साधु संख्या दत्तिक कहा जाता है।

साधु के पात्र में धार टूटे बिना एक बार में जितनी भिक्षा आ जाय वह दत्ति यानि दात कहलाती है।

(४) दृष्टलाभिकः—देखे हुए आहार की ही गवेषणा करने वाला साधु दृष्टलाभिक कहलाता है।

(५) पृष्टलाभिकः—'हे मुनिराज ! क्या आपको मैं आहार दूँ ?' इस प्रकार पूछने वाले दाता से ही आहार की गवेषणा करने वाला साधु पृष्टलाभिक कहलाता है।

ये भी अभिग्रहधारी साधु के पाँच प्रकार हैं।

३५५-भगवान् महावीर से उपदिष्ट एवं अनुमत पाँच स्थानः-

(१) आचाम्लिक (२) निर्विकृतिक

(३) पूर्वार्द्धिक (४) परिमित पिण्डपातिक

(५) भिन्न पिण्डपातिक

(१) आचाम्लिक (आयंबिलिए):—आचाम्ल (आयंबिल) तप करने वाला साधु आचाम्लिक कहलाता है।

(२) निर्विकृतिक (णिव्वियते):—घी आदि विगय का त्याग करने

वाला साधु निर्विकृतिक कहलाता है।

(३) पूर्वार्द्धिक (पुरिमड्ढी):—पुरिमड्ढ अर्थात् प्रथम दो पहर तक का प्रत्याख्यान करने वाला साधु पूर्वार्द्धिक कहा जाता है।

(४) परिमित पिण्डपातिक:—द्रव्यादि का परिमाण करके परिमित आहार लेने वाला साधु परिमित पिण्डपातिक कहलाता है।

(५) भिन्न पिण्डपातिक:—पूरी वस्तु न लेकर टुकड़े की हुई वस्तु को ही लेने वाला साधु भिन्न पिण्डपातिक कहलाता है।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ३९६)

३५६-भगवान् महावीर से उपदिष्ट एवं अनुमत पाँच स्थान:-

(१) अरसाहार (२) विरसाहार

(३) अन्ताहार (४) प्रान्ताहार

(५) लूक्षाहार

(१) अरसाहार:—हींग आदि के बघार से रहित नीरस आहार करने वाला साधु अरसाहार कहलाता है।

(२) विरसाहार:—विगत रस अर्थात् रसरहित पुराने धान्य आदि का आहार करने वाला साधु विरसाहार कहलाता है।

(३) अन्ताहार:—भोजन के बाद अवशिष्ट रही हुई वस्तु का आहार करने वाला साधु अन्ताहार कहलाता है।

(४) प्रान्ताहार:—तुच्छ, हल्का या बासी आहार करने वाला साधु प्रान्ताहार कहलाता है।

(५) लूक्षाहार:—नीरस, घी, तेलादि वर्जित भोजन करने वाला साधु लूक्षाहार कहलाता है।

ये भी पाँच अभिग्रहविशेष—धारी साधुओं के प्रकार हैं। इसी प्रकार जीवनपर्यन्त अरस, विरस, अन्त, प्रान्त, एवं रूक्ष भोजन से जीवन—निर्वाह के अभिग्रह वाले साधु अरसजीवी, विरसजीवी, अन्तजीवी, प्रान्तजीवी एवं रूक्षजीवी कहलाते हैं।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ३९६)

३५७-भगवान् महावीर से उपदिष्ट एवं अनुमत पाँच स्थान:-

(१) स्थानातिग (२) उत्कटुकासनिक

(३) प्रतिमास्थायी (४) वीरासनिक

(५) नैषद्यिक

(१) स्थानातिग:—अतिशय रूप से स्थान अर्थात् कायोत्सर्ग

करने वाला साधु स्थानातिग कहलाता है।

(२) उत्कटुकासनिकः—पीढे वगैरह पर कूल्हे (पुत) न लगाते हुए पैरों पर बैठना उत्कटुकासन है। उत्कटुकासन से बैठने के अभिग्रह वाला साधु उत्कटुकासनिक कहा जाता है।

(३) प्रतिमास्थायीः—एक रात्रि आदि की प्रतिमा अङ्गीकार कर कायोत्सर्गविशेष में रहने वाला साधु प्रतिमास्थायी है।

(४) वीरासनिकः—पैर जमीन पर रख कर सिंहासन पर बैठे हुए पुरुष के नीचे से सिंहासन निकाल लेने पर जो अवस्था रहती है उस अवस्था से बैठना वीरासन है। यह आसन बहुत दुष्कर है। इसलिये इसका नाम वीरासन रखा गया है। वीरासन से बैठने वाला साधु वीरासनिक कहलाता है।

(५) नैषद्यिकः—निषद्या अर्थात् बैठने के विशेष प्रकारों से बैठने वाला साधु नैषद्यिक कहा जाता है।

(ठाणांग ५, सूत्र ३९६)

३५८-निषद्या के पाँच भेदः-

(१) समपादयुता (२) गोनिषद्यिका

(३) हस्तिशुण्डिका (४) पर्यङ्का

(५) अर्द्ध पर्यङ्का

(१) समपादयुताः—जिस में समान रूप से पैर और कूल्हों से पृथ्वी या आसन का स्पर्श करते हुए बैठा जाता है वह समपादयुता निषद्या है।

(२) गोनिषद्यिकाः—जिस आसन में गाय की तरह बैठा जाता है वह गोनिषद्यिका है।

(३) हस्तिशुण्डिकाः—जिस आसन में कूल्हों पर बैठ कर एक पैर ऊपर रक्खा जाता है वह हस्तिशुण्डिका निषद्या है।

(४) पर्यङ्काः—पद्मासन में बैठना पर्यङ्का निषद्या है।

(५) अर्द्ध पर्यङ्काः—जंघा पर एक पैर रख कर बैठना अर्द्धपर्यङ्का निषद्या है।

पाँच निषद्या में हस्तिशुण्डिका के स्थान पर उत्कटुका भी कहते हैं।

उत्कटुकाः—आसन पर कूल्हा (पुत) न लगाते हुए पैरों पर बैठना उत्कटुका निषद्या है।

(ठाणांग ५, सूत्र ३६६ टीका) (ठाणांग ५, सूत्र ४००)

३५६-भगवान् महावीर से उपदिष्ट एवं अनुमत पाँच स्थानः-

(१) दण्डायतिक (२) लगण्डशायी
(३) आतापक (४) अप्रावृतक
(५) अकण्डूयक

(१) दण्डायतिकः—दण्ड की तरह लम्बे होकर अर्थात् पैर फैला कर बैठने वाला दण्डायतिक कहलाता है।

(२) लगण्डशायीः—दुःसंस्थित या बांकी लकड़ी को लगण्ड कहते हैं। लगण्ड की तरह कुबड़ा होकर मस्तक और कोहनी को जमीन पर लगाते हुए एवं पीठ से जमीन को स्पर्श न करते हुए सोने वाला साधु लगण्डशायी कहलाता है।

(३) आतापकः—शीत, आतप आदि सहनरूप आतापना लेने वाला साधु आतापक कहा जाता है।

(४) अप्रावृतकः—वस्त्र न पहन कर शीतकाल में ठण्ड और ग्रीष्म में घास का सेवन करने वाला अप्रावृतक कहा जाता है।

(५) अकण्डूयकः—शरीर में खुजली चलने पर भी न खुजलाने वाला साधु अकण्डूयक कहलाता है।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ३६६)

३६०-महानिर्जरा और महापर्यवसान के पाँच बोलः-

(१) आचार्य्य
(२) उपाध्याय (सूत्रदाता)
(३) स्थविर
(४) तपस्वी

(५) ग्लान साधु की ग्लानिरहित बहुमानपूर्वक वैयावृत्त्य करता हुआ श्रमण निर्ग्रन्थ महानिर्जरा वाला होता है और पुनः उत्पन्न न होने से महापर्यवसान अर्थात् आत्यन्तिक अन्त वाला होता है।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ३६७)

३६१-महानिर्जरा और महापर्यवसान के पाँच बोलः-

(१) नवदीक्षित साधु
(२) कुल
(३) गण
(४) संघ

(५) साधर्मिक की ग्लानिरहित बहुमानपूर्वक वैयावृत्त्य करने वाला साधु महानिर्जरा और महापर्यवसान वाला होता है।

(१) थोड़े समय की दीक्षा पर्याय वाले साधु को नवदीक्षित कहते हैं।

(२) एक आचार्य्य की सन्तति को कुल कहते हैं अथवा चान्द्र आदि साधु–समुदायविशेष को कुल कहते हैं।

(३) गणः–कुल के समुदाय को गण कहते हैं अथवा सापेक्ष तीन कुलों के समुदाय को गण कहते हैं।

(४) संघः–गणों के समुदाय को संघ कहते हैं।

(५) साधर्मिकः–लिङ्ग और प्रवचन की अपेक्षा समान धर्म वाला साधु साधर्मिक कहा जाता है।

(ठाणांग ५, सूत्र ३६७) (भगवती सूत्र, शतक ८, उद्देशा ८)

३६२-पाँच परिज्ञाः-

वस्तु स्वरूप का ज्ञान करना और ज्ञानपूर्वक उसे छोड़ना परिज्ञा है। परिज्ञा के पाँच भेद हैं।

(१) उपधि परिज्ञा (२) उपाश्रय परिज्ञा

(३) कषाय परिज्ञा (४) योग परिज्ञा

(५) भक्तपान परिज्ञा।

(ठाणांग ५, उद्देशा २, सूत्र ४२०)

३६३-पाँच व्यवहारः-

मोक्षाभिलाषी आत्माओं की प्रवृत्ति–निवृत्ति को एवं तत्कारणक ज्ञानविशेष को व्यवहार कहते हैं।

व्यवहार के पाँच भेदः–

(१) आगम व्यवहार (२) श्रुत व्यवहार

(३) आज्ञा व्यवहार (४) धारणा व्यवहार

(५) जीत व्यवहार

(१) आगम व्यवहारः–केवल ज्ञान, मनःपर्याय ज्ञान, अवधिज्ञान, चौदहपूर्व, दशपूर्व और नवपूर्व का ज्ञान आगम कहलाता है। आगम ज्ञान से प्रवर्तित प्रवृत्ति–निवृत्तिरूप व्यवहार आगम व्यवहार कहलाता है।

(२) श्रुत व्यवहारः–आचार प्रकल्प आदि ज्ञान श्रुत है। इससे प्रवर्ताया जाने वाला व्यवहार श्रुत व्यवहार कहलाता है। नव, दश,

और चौदहपूर्व का ज्ञान भी श्रुतरूप है परन्तु अतीन्द्रिय अर्थ विषयक विशिष्ट ज्ञान का कारण होने से उक्त ज्ञान अतिशय वाला है और इसीलिये वह आगम रूप माना गया है।

(३) आज्ञा व्यवहारः—दो गीतार्थ साधु एक—दूसरे से अलग दूर देश में रहे हुए हों और शरीर क्षीण हो जाने से वे विहार करने में असमर्थ हों। उन में से किसी एक के प्रायश्चित्त आने पर वह मुनि योग्य गीतार्थ शिष्य के अभाव में मति और धारणा में अकुशल अगीतार्थ शिष्य को आगम की सांकेतिक गूढ़ भाषा में अपने अतिचार दोष कह कर या लिख कर उसे अन्य गीतार्थ मुनि के पास भेजता है और उसके द्वारा आलोचना करता है। गूढ़ भाषा में कही हुई आलोचना सुन कर वे गीतार्थ मुनि द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव संहनन, धैर्य्य, बल आदि का विचार कर स्वयं वहां आते हैं अथवा योग्य गीतार्थ शिष्य को समझा कर भेजते हैं। यदि वैसे शिष्य का भी उनके पास योग न हो तो आलोचना का संदेश लाने वाले के द्वारा ही गूढ़ अर्थ में अतिचार की शुद्धि अर्थात् प्रायश्चित्त देते हैं। यह आज्ञा व्यवहार है।

(४) धारणा व्यवहारः—किसी गीतार्थ संविग्न मुनि ने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा जिस अपराध में जो प्रायश्चित्त दिया है। उसकी धारणा में, वैसे अपराध में, उसी प्रायश्चित्त का प्रयोग करना धारणा व्यवहार है।

वैयावृत्त्य करने आदि से जो साधु गच्छ का उपकारी हो। वह यदि सम्पूर्ण छेद सूत्र सिखाने योग्य न हो तो उसे गुरु महाराज कृपापूर्वक उचित प्रायश्चित्त पदों का कथन करते हैं। उक्त साधु का गुरु महाराज से कहे हुए उन प्रायश्चित्त पदों का धारण करना धारणा व्यवहार है।

(५) जीत व्यवहारः—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पुरुष, प्रतिसेवना का और संहनन धृति आदि की हानि का विचार कर जो प्रायश्चित्त दिया जाता है वह जीत व्यवहार है।

अथवाः—

किसी गच्छ में कारणविशेष से सूत्र से अधिक प्रायश्चित्त की प्रवृत्ति हुई हो और दूसरों ने उसका अनुसरण कर लिया हो तो वह प्रायश्चित्त जीत व्यवहार कहा जाता है।

अथवाः–

अनेक गीतार्थ मुनियों द्वारा की हुई मर्यादा का प्रतिपादन करने वाला ग्रन्थ जीत कहलाता है। उससे प्रवर्तित व्यवहार जीत व्यवहार है।

इन पाँच व्यवहारों में यदि व्यवहर्त्ता के पास आगम हो तो उसे आगम से व्यवहार चलाना चाहिए। आगम में भी केवलज्ञान,मनःपर्याय ज्ञान आदि छः भेद हैं। इनमें पहले केवलज्ञान आदि के होते हुए उन्हीं से व्यवहार चलाया जाना चाहिए। पिछले मनःपर्यायज्ञान आदि से नहीं। आगम के अभाव में श्रुत से, श्रुत के अभाव में आज्ञा से, आज्ञा के अभाव में धारणा से और धारणा के अभाव में जीत व्यवहार से, प्रवृत्ति–निवृत्तिरूप व्यवहार का प्रयोग होना चाहिए। देशकाल के अनुसार ऊपर कहे अनुसार सम्यक्‌रूपेण पक्षपात रहित व्यवहारों का प्रयोग करता हुआ साधु भगवान् की आज्ञा का आराधक होता है।

(ठाणांग ५, उद्देशा २, सूत्र ४२१) (व्यवहार सूत्र)
(भगवती शतक ८, उद्देशा ८)

३६४-पाँच प्रकार के मुण्डः-

मुण्डन शब्द का अर्थ अपनयन अर्थात् हटाना, दूर करना है। यह मुण्डन द्रव्य और भाव से दो प्रकार का है। शिर से बालों को अलग करना द्रव्य मुण्डन है और मन से इन्द्रियों के विषय शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धी राग–द्वेष और कषायों को दूर करना भाव मुण्डन है। इस प्रकार द्रव्य मुण्डन और भाव मुण्डन धर्म से युक्त पुरुष, मुण्ड कहा जाता है।

पाँच मुण्ड–

(१) श्रोत्रेन्द्रिय मुण्ड (२) चक्षुरिन्द्रिय मुण्ड
(३) घ्राणेन्द्रिय मुण्ड (४) रसनेन्द्रिय मुण्ड
(५) स्पर्शनेन्द्रिय मुण्ड

(१) श्रोत्रेन्द्रिय मुण्डः–श्रोत्रेन्द्रिय के विषय रूप मनोज्ञ एवं अमनोज्ञ शब्दों में राग–द्वेष को हटाने वाला पुरुष श्रोत्रेन्द्रिय मुण्ड कहा जाता है।

इसी प्रकार चक्षुरिन्द्रिय मुण्ड आदि का स्वरूप भी समझना चाहिये। ये पाँचों भाव मुण्ड हैं।

(ठाणांग ५, सूत्र ४४३)

३६५-पाँच प्रकार के मुण्डः-

(१) क्रोध मुण्ड (२) मान मुण्ड
(३) माया मुण्ड (४) लोभ मुण्ड
(५) सिर मुण्ड

मन से क्रोध, मान, माया और लोभ को हटाने वाले पुरुष क्रमशः क्रोध मुण्ड, मान मुण्ड, माया मुण्ड और लोभ मुण्ड हैं। सिर से केश अलग करनें वाला पुरुष सिर मुण्ड है।

इन पाँचों में सिर मुण्ड द्रव्य मुण्ड है और शेष चार भाव मुण्ड हैं।

(ठाणांग ५, सूत्र ४४३)

३६६-पाँच निर्ग्रन्थः-

ग्रन्थ दो प्रकार का है—आभ्यन्तर और बाह्य। मिथ्यात्व आदि आभ्यन्तर ग्रन्थ है और धर्मोपकरण के सिवा शेष धन—धान्यादि बाह्य ग्रन्थ है। इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थ से जो मुक्त है वह निर्ग्रन्थ कहा जाता है।

निर्ग्रन्थ के पाँच भेदः—

(१) पुलाक (२) बकुश
(३) कुशील (४) निर्ग्रन्थ
(५) स्नातक

(१) पुलाकः—दाने से रहित धान्य की भूसी को पुलाक कहते हैं। वह निःसार होती है। तप और श्रुत के प्रभाव से प्राप्त, संघादि के प्रयोजन से बल (सेना) वाहन सहित चक्रवर्ती आदि के मान को मर्दन करने वाली लब्धि के प्रयोग और ज्ञानादि के अतिचारों के सेवन द्वारा संयम को पुलाक की तरह निस्सार करने वाला साधु पुलाक कहा जाता है।

पुलाक के दो भेद होते हैं—

(१) लब्धि पुलाक (२) प्रतिसेवा पुलाक

लब्धि का प्रयोग करने वाला साधु लब्धि पुलाक है और ज्ञानादि के अतिचारों का सेवन करने वाला साधु प्रतिसेवा पुलाक है।

(भगवती शतक २५, उद्देशा ६)

(२) बकुशः—बकुश शब्द का अर्थ है शबल अर्थात् चित्र वर्ण।

शरीर और उपकरण की शोभा करने से जिसका चारित्र शुद्धि और दोषों से मिला हुआ अतएव अनेक प्रकार का है वह बकुश कहा जाता है।

बकुश के दो भेद हैं–

(१) शरीर बकुश (२) उपकरण बकुश

शरीर बकुशः–विभूषा के लिये हाथ, पैर, मुँह आदि धोने वाला, आँख, कान, नाक आदि अवयवों से मैल आदि दूर करने वाला, दाँत साफ करने वाला, केश सँवारने वाला, इस प्रकार कायगुप्ति रहित साधु शरीर–बकुश है।

उपकरण बकुशः–विभूषा के लिये अकाल में चोलपट्टा आदि धोने वाला, धूपादि देने वाला, पात्र दण्ड आदि को तैलादि लगाकर चमकाने वाला साधु उपकरण बकुश है।

ये दोनों प्रकार के साधु प्रभूत वस्त्र–पात्रादि रूप ऋद्धि और यश के कामी होते हैं। ये सातागारव वाले होते हैं और इसलिये रात–दिन के कर्तव्य अनुष्ठानों में पूरे सावधान नहीं रहते। इनका परिवार भी संयम से पृथक् तैलादि से शरीर की मालिश करने वाला, कैंची से केश काटने वाला होता है। इस प्रकार इनका चारित्र सर्व या देशरूप से दीक्षा पर्याय के छेदयोग्य अतिचारों से मलीन रहता है।

(३) कुशीलः– उत्तर गुणों में दोष लगाने से तथा संज्वलन कषाय के उदय से दूषित चारित्र वाला साधु कुशील कहा जाता है। कुशील के दो भेद हैं–

(१) प्रतिसेवना कुशील

(२) कषाय कुशील

प्रतिसेवना कुशीलः–चारित्र के प्रति अभिमुख होते हुए भी अजितेन्द्रिय एवं किसी तरह पिण्ड विशुद्धि, समिति भावना, तप, प्रतिमा आदि उत्तर गुणों की विराधना करने से सर्वज्ञ की आज्ञा का उल्लघंन करने वाला प्रतिसेवना कुशील है।

कषाय कुशीलः–संज्वलन कषाय के उदय से सकषाय चारित्र वाला साधु कषाय कुशील कहा जाता हैं।

(४) निर्ग्रन्थः–ग्रन्थ का अर्थ मोह है। मोह से रहित साधु निर्ग्रन्थ कहलाता है। उपशान्त मोह और क्षीण मोह के भेद से

निर्ग्रन्थ के दो भेद हैं।

(५) स्नातकः—शुक्लध्यान द्वारा सम्पूर्ण घाती कर्मों के समूह को क्षय करके जो शुद्ध हुए हैं वे स्नातक कहलाते हैं। सयोगी और अयोगी के भेद से स्नातक भी दो प्रकार के होते हैं।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४४५) (भगवती शतक २५, उद्देशा ६)

३६७-पुलाक (प्रति सेवा पुलाक) के पाँच भेदः-

(१) ज्ञान पुलाक (२) दर्शन पुलाक

(३) चारित्र पुलाक (४) लिङ्ग पुलाक

(५) यथा सूक्ष्म पुलाक

(१) ज्ञान पुलाकः—स्खलित, मिलित आदि ज्ञान के अतिचारों का सेवन कर संयम को असार करने वाला साधु ज्ञान पुलाक कहलाता है।

(२) दर्शन पुलाकः—कुतीर्थ परिचय आदि समकित के अतिचारों का सेवन कर संयम को असार करने वाला साधु दर्शन पुलाक है।

(३) चारित्र पुलाकः—मूल गुण और उत्तर गुणों में दोष लगा कर चारित्र की विराधना करने वाला साधु चारित्र पुलाक है।

(४) लिङ्ग पुलाकः—शास्त्रों में उपदिष्ट साधु—लिङ्ग से अधिक धारण करने वाला अथवा निष्कारण अन्य लिङ्ग को धारण करने वाला साधु लिङ्ग पुलाक है।

(५) यथा सूक्ष्म पुलाकः—कुछ प्रमाद होने से मन से अकल्पनीय ग्रहण करने के विचार वाला साधु यथा सूक्ष्म पुलाक है।

अथवा उपरोक्त चारों भेदों में ही जो थोड़ी—थोड़ी विराधना करता है वह यथा सूक्ष्म पुलाक कहलाता है।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४४५)

(भगवती शतक २५, उद्देशा ६)

३६८-बकुश के पाँच भेदः-

(१) आभोग बकुश (२) अनाभोग बकुश

(३) संवृत्त बकुश (४) असंवृत्त बकुश

(५) यथा सूक्ष्म बकुश

(१) आभोग बकुशः—शरीर और उपकरण की विभूषा करना साधु के लिए निषिद्ध है। यह जानते हुए भी शरीर और उपकरण की विभूषा कर चारित्र में दोष लगाने वाला साधु आभोग बकुश है।

(२) अनाभोग बकुशः—अनजान में अथवा सहसा शरीर और उपकरण की विभूषा कर चारित्र को दूषित करने वाला साधु अनाभोग बकुश है।

(३) संवृत्त बकुशः—छिप कर शरीर और उपकरण की विभूषा कर दोष सेवन करने वाला साधु संवृत्त बकुश है।

(४) असंवृत्त बकुशः—प्रकट रीति से शरीर और उपकरण की विभूषारूप दोष सेवन करने वाला साधु असंवृत्त बकुश है।

(५) यथा सूक्ष्म बकुशः—मूल गुण और उत्तर गुण के सम्बन्ध में प्रकट या अप्रकट रूप से कुछ प्रमाद सेवन करने वाला, आँख का मैल आदि दूर करने वाला साधु यथा सूक्ष्म बकुश कहा जाता है।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४४५)

३६६-कुशील के पाँच भेदः-

प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील के पाँच–पाँच भेद हैं–

(१) ज्ञान कुशील (२) दर्शन कुशील
(३) चारित्रकुशील (४) लिङ्गकुशील
(५) यथा सूक्ष्म कुशील

ज्ञान, दर्शन, चारित्र और लिङ्ग से आजीविका कर इनमें दोष लगाने वाले क्रमशः प्रतिसेवना की अपेक्षा ज्ञान कुशील, दर्शन कुशील, चारित्र कुशील और लिंग कुशील हैं।

यथा सूक्ष्म कुशीलः– यह तपस्वी है। इस प्रकार प्रशंसा से हर्षित होने वाला प्रतिसेवना की अपेक्षा यथा सूक्ष्म कुशील है।

कषाय कुशील के भी ये ही पाँच भेद हैं। इनका स्वरूप इस प्रकार हैः–

(१) ज्ञान कुशीलः—संज्वलन क्रोधादिपूर्वक विद्यादि ज्ञान का प्रयोग करने वाला साधु ज्ञान कुशील है।

(२) दर्शन कुशीलः—संज्वलन क्रोधादिपूर्वक दर्शन (दर्शनग्रन्थ) का प्रयोग करने वाला साधु दर्शन कुशील है।

(३) चारित्र कुशीलः—संज्वलन कषाय के आवेश में किसी को शाप देने वाला साधु चारित्र कुशील है।

(४) लिंग कुशीलः—संज्वलन कषायवश अन्य लिंग धारण करने वाला साधु लिंग कुशील है।

(५) यथा सूक्ष्म कुशीलः—मन से संज्वलन कषाय करने वाला

साधु यथा सूक्ष्म कुशील है।

अथवा:–

संज्वलन कषायसहित होकर ज्ञान, दर्शन, चारित्र और लिंग की विराधना करने वाले क्रमशः ज्ञान कुशील, दर्शन कुशील, चारित्र कुशील और लिंग कुशील हैं एवं मन से संज्वलन कषाय करने वाला यथा सूक्ष्म कषाय कुशील है।

लिंग कुशील के स्थान में कहीं–कहीं तप कुशील है।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४४५)

३७०-निर्ग्रन्थ के पाँच भेदः-

(१) प्रथम समय निर्ग्रन्थ (२) अप्रथम समय निर्ग्रन्थ
(३) चरम समय निर्ग्रन्थ (४) अचरम समय निर्ग्रन्थ
(५) यथासूक्ष्म निर्ग्रन्थ

(१) प्रथम समय निर्ग्रन्थः–अन्तर्मुहूर्त प्रमाण निर्ग्रन्थ काल की समय राशि में से प्रथम समय में वर्तमान निर्ग्रन्थ प्रथम समय निर्ग्रन्थ है।

(२) अप्रथम समय निर्ग्रन्थः–प्रथम समय के सिवा शेष समयों में वर्तमान निर्ग्रन्थ अप्रथम समय निर्ग्रन्थ है।

ये दोनों भेद पूर्वानुपूर्वी की अपेक्षा है।

(३) चरम समय निर्ग्रन्थः–अन्तिम समय में वर्तमान निर्ग्रन्थ चरम समय निर्ग्रन्थ है।

(४) अचरम समय निर्ग्रन्थः–अन्तिम समय के सिवा शेष समयों में वर्तमान निर्ग्रन्थ अचरम समय निर्ग्रन्थ है।

ये दोनों भेद पश्चानुपूर्वी की अपेक्षा है।

(५) यथासूक्ष्म निर्ग्रन्थः–प्रथम समय आदि की अपेक्षा बिना सामान्य रूप से सभी समयों में वर्तमान निर्ग्रन्थ यथासूक्ष्म निर्ग्रन्थ कहलाता है।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४४५)

३७१-स्नातक के पाँच भेदः-

(१) अच्छवि
(२) अशबल
(३) अकर्मांश
(४) संशुद्ध ज्ञान दर्शनधारी अरिहन्त जिन केवली

(५) अपरिश्रावी

(१) अच्छविः—स्नातक काय योग का निरोध करने से छवि अर्थात् शरीररहित अथवा व्यथा (पीड़ा) नहीं देने वाला होता है।

(२) अशबलः—स्नातक निरतिचार शुद्ध चारित्र को पालता है। इसलिये वह अशबल होता है।

(३) अकर्मांशः—घातिक कर्मों का क्षय कर डालने से स्नातक अकर्मांश होता है।

(४) संशुद्ध ज्ञान दर्शनधारी अरिहन्त जिन केवलीः—दूसरे ज्ञान एवं दर्शन से असम्बद्ध अतएव शुद्ध निष्कलंक ज्ञान और दर्शन धारक होने से स्नातक संशुद्ध ज्ञान दर्शनधारी होता है। वह पूजा योग्य होने से अरिहन्त, कषायों का विजेता होने से जिन, एवं परिपूर्ण ज्ञान, दर्शन, चारित्र का स्वामी होने से केवली है।

(५) अपरिश्रावीः—सम्पूर्ण काय योग का निरोध कर लेने पर स्नातक निष्क्रिय हो जाता है और कर्म प्रवाह रुक जाता है। इसलिये वह अपरिश्रावी होता है।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४४५)

(भगवती शतक २५, उद्देशा ६)

३७२-पाँच प्रकार के श्रमणः-

पाँच प्रकार के साधु श्रमण नाम से कहे जाते हैं—

(१) निर्ग्रन्थ (२) शाक्य

(३) तापस (४) गैरुक

(५) आजीविक

(१) निर्ग्रन्थः—जिन—प्रवचन में उपदिष्ट पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि साधु क्रिया का पालन करने वाले जैन मुनि निर्ग्रन्थ कहलाते हैं।

(२) शाक्यः—बुद्ध के अनुयायी साधु शाक्य कहलाते हैं।

(३) तापसः—जटाधारी, जंगलों में रहने वाले संन्यासी तापस कहलाते हैं।

(४) गैरुकः—गेरुए रंग के वस्त्र पहनने वाले त्रिदण्डी साधु गैरुक कहलाते हैं।

(५) आजीविकः—गोशालक मत के अनुयायी साधु आजीविक कहलाते हैं।

(प्रवचन सारोद्धार, प्रथम भाग, पृष्ठ २१२)

३७३-वनीपक की व्याख्या और भेदः-

दूसरों के आगे अपनी दुर्दशा दिखाकर अनुकूल भाषण करने से जो द्रव्य मिलता है उसे वनी कहते हैं। वनी को भोगने वाला साधु वनीपक कहलाता है।

अथवाः—

प्रायः दाता के माने हुए श्रमणादि का अपने को भक्त बता कर जो आहार मांगता है वह वनीपक कहलाता है।

वनीपक के पाँच भेद—

(१) अतिथि वनीपक (२) कृपण वनीपक

(३) ब्राह्मण वनीपक (४) श्वा वनीपक

(५) श्रमण वनीपक

(१) अतिथि वनीपकः—भोजन के समय पर उपस्थित होने वाला मेहमान अतिथि कहलाता है। अतिथि—भक्त दाता के आगे अतिथिदान की प्रशंसा करके आहारादि चाहने वाला अतिथि वनीपक है।

(२) कृपण वनीपकः—जो दाता कृपण, दीन, दुःखी पुरुषों का भक्त है अर्थात् ऐसे पुरुषों को दानादि देने में विश्वास करता है, उसके आगे कृपण दान की प्रशंसा करके आहारादि लेने वाला एवं भोगने वाला कृपण वनीपक है।

(३) ब्राह्मण वनीपकः—जो दाता ब्राह्मणों का भक्त है, उसके आगे ब्राह्मण दान की प्रशंसा करके आहारादि लेने वाला एवं भोगने वाला ब्राह्मण वनीपक कहलाता है।

(४) श्वा वनीपकः—कुत्ते, काक आदि को आहारादि देने में पुण्य समझने वाले दाता के आगे इस कार्य की प्रशंसा करके आहारादि लेने वाला एवं भोगने वाला श्वा—वनीपक कहलाता है।

(५) श्रमण वनीपकः—श्रमण के पाँच भेद कहे जा चुके हैं। जो दाता श्रमणों का भक्त है उसके आगे श्रमण—दान की प्रशंसा करके आहारादि प्राप्त करने वाला श्रमण वनीपक है।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४५४)

३७४-वस्त्र के पाँच भेदः-

निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थी को पाँच प्रकार के वस्त्र ग्रहण करना

और सेवन करना कल्पता है। वस्त्र के पाँच प्रकार ये हैं:–

(१) जाङ्गमिक (२) भाङ्गिक
(३) सानक (४) पोतक
(५) तिरीड़पट्ट

(१) जाङ्गमिक:–त्रस जीवों के रोमादि से बने हुए वस्त्र जाङ्गमिक कहलाते हैं। जैसे:–कम्बल वगैरह।

(२) भाङ्गिक:–अलसी का बना हुआ वस्त्र भाङ्गिक कहलाता है।

(३) सानक:–सन का बना हुआ वस्त्र सानक कहलाता है।

(४) पोतक:–कपास का बना हुआ वस्त्र पोतक कहलाता है।

(५) तिरीड़पट्ट:–तिरीड़ वृक्ष की छाल का बना हुआ कपड़ा तिरीड़पट्ट कहलाता है।

इन पाँच प्रकार के वस्त्रों में से उत्सर्ग रूप से तो कपास और ऊन के बने हुए दो प्रकार के अल्प मूल्य के वस्त्र ही साधु के ग्रहण करने योग्य हैं।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४४६)

३७५-ज्ञान के पाँच भेद:-

(१) मतिज्ञान (२) श्रुतज्ञान
(३) अवधिज्ञान (४) मनःपर्ययज्ञान
(५) केवलज्ञान

(१) मतिज्ञान (आभिनिबोधिक ज्ञान):–इन्द्रिय और मन की सहायता से योग्य देश में रही हुई वस्तु को जानने वाला ज्ञान मतिज्ञान (आभिनिबोधिक ज्ञान) कहलाता है।

(२) श्रुतज्ञान:–वाच्य–वाचक भाव सम्बन्ध द्वारा शब्द से सम्बद्ध अर्थ को ग्रहण कराने वाला इन्द्रिय मन कारणक ज्ञान श्रुतज्ञान है। जैसे–इस प्रकार कम्बुग्रीवादि आकार वाली वस्तु जलधारणादि क्रिया में समर्थ है और घट शब्द से कही जाती है। इत्यादि रूप से शब्दार्थ की पर्यालोचना के बाद होने वाले त्रैकालिक सामान्य परिणाम को प्रधानता देने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान है।

अथवा:–

मतिज्ञान के अनन्तर होने वाला और शब्द तथा अर्थ की

पर्यालोचना जिसमें हो, ऐसा ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। जैसे कि घट शब्द के सुनने पर अथवा आँख से घड़े के देखने पर उसके बनाने वाले का, उसके रंग का और इसी प्रकार तत्सम्बन्धी भिन्न-भिन्न विषयों का विचार करना श्रुतज्ञान है।

(३) अवधिज्ञानः-इन्द्रिय तथा मन की सहायता बिना, मर्यादा को लिये हुए रूपी द्रव्य का ज्ञान करना अवधिज्ञान कहलाता है।

(४) मनःपर्ययज्ञानः- इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना मर्यादा को लिये हुए संज्ञी जीवों के मनोगत भावों का जानना मनः पर्ययज्ञान है।

(५) केवलज्ञानः- मति आदि ज्ञान की अपेक्षा बिना, त्रिकाल एवं त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् हस्तामलकवत् जानना केवलज्ञान है।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४६३) (कर्म ग्रन्थ, प्रथम भाग)
(नंदी सूत्र टीका)

३७६-केवली के पाँच अनुत्तरः-

केवलज्ञानी सर्वज्ञ भगवान् में पाँच गुण अनुत्तर अर्थात् सर्वश्रेष्ठ होते हैं।

(१) अनुत्तर ज्ञान (२) अनुत्तर दर्शन
(३) अनुत्तर चारित्र (४) अनुत्तर तप
(५) अनुत्तर वीर्य्य

केवली भगवान् के ज्ञानावरणीय एवं दर्शनावरणीय कर्म के क्षय हो जाने से केवलज्ञान एवं केवलदर्शन रूप अनुत्तर ज्ञान, दर्शन होते हैं। मोहनीय कर्म के क्षय होने से अनुत्तर चारित्र होता है। तप चारित्र का भेद है। इसलिये अनुत्तर चारित्र होने से उनके अनुत्तर तप भी होता है। शैलेशी अवस्था में होने वाला शुक्लध्यान ही केवली के अनुत्तर तप है। वीर्यान्तराय कर्म के क्षय होने से केवली के अनुत्तर वीर्य्य होता है।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ४१०)

३७७-अवधिज्ञान या अवधिज्ञानी के चलित होने के पाँच बोलः-

पाँच बोलों से अवधिज्ञान द्वारा पदार्थों को देखते ही प्रथम समय में वह चलित हो जाता है। अथवा अवधिज्ञान द्वारा पदार्थों का ज्ञान होने पर प्रारम्भ में ही अवधिज्ञानी 'यह क्या?' इस तरह

मोहनीय कर्म का क्षय न होने से विस्मयादि से दंग रह जाता है।

(१) अवधिज्ञानी थोड़ी पृथ्वी देख कर 'यह क्या?' इस प्रकार आश्चर्य से क्षुब्ध हो जाता है क्योंकि इस ज्ञान के पहले वह विशाल पृथ्वी की सम्भावना करता था।

(२) अत्यन्त प्रचुर कुंथुओं की राशि रूप पृथ्वी देख कर विस्मय और दयावश अवधिज्ञानी चकित रह जाता है।

(३) बाहर के द्वीपों में होने वाले एक हजार योजन परिमाण के महासर्प को देखकर विस्मय और भयवश अवधिज्ञानी घबरा उठता है।

(४) देवता को महाऋद्धि, द्युति, प्रभाव, बल और सौख्य सहित देखकर अवधिज्ञानी आश्चर्यान्वित हो जाता है।

(५) अवधिज्ञानी पुरों (नगरों) में पुराने विस्तीर्ण, बहुमूल्य रत्नादि से भरे हुए खजाने देखता है। उनके स्वामी नष्ट हो गये हैं। स्वामी की सन्तान का भी पता नहीं है, न उनके कुल, गृह आदि ही हैं। खजानों के मार्ग भी नहीं है और 'यहाँ खजाना है' इस प्रकार खजाने का निर्देश करने वाले चिह्न भी नहीं रहे हैं। इसी प्रकार ग्राम, आकर, नगर, खेड़, कर्बट, द्रोणमुख, पाटन, आश्रम, संवाह, सन्निवेश, त्रिकोण मार्ग, तीन-चार और अनेक पथ जहाँ मिलते हैं ऐसे मार्ग, राजमार्ग, गलियें, नगर के गटर (गन्दी नालियां), श्मशान, सूने घर, पर्वत की गुफा, शान्ति गृह, उपस्थान गृह, भवन और घर इत्यादि स्थानों में पड़े हुए बहुमूल्य रत्नादि के निधान अवधिज्ञानी देखता है। अदृष्ट पूर्व इन निधानों को देखकर अवधिज्ञानी विस्मय एवं लोभवश चंचल हो उठता है।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ३६४)

३७८-ज्ञानावरणीय की व्याख्या और उसके पाँच भेदः-

ज्ञान के आवरण करने वाले कर्म को ज्ञानावरणीय कहते हैं। जिस प्रकार आँख पर कपड़े की पट्टी लपेटने से वस्तुओं के देखने में रुकावट हो जाती है। उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के प्रभाव से आत्मा को पदार्थों का ज्ञान करने में रुकावट पड़ जाती है। परन्तु यह कर्म आत्मा को सर्वथा ज्ञानशून्य अर्थात् जड़ नहीं कर देता। जैसे-घने बादलों से सूर्य के ढक जाने पर भी सूर्य का, दिन रात बताने वाला, प्रकाश तो रहता ही है। उसी प्रकार ज्ञानावरणीय

कर्म से ज्ञान के ढक जाने पर भी जीव में इतना ज्ञानांश तो रहता ही है कि वह जड़ पदार्थ से पृथक् समझा जा सके।

ज्ञानावरणीय कर्म के पाँच भेद—

(१) मति ज्ञानावरणीय (२) श्रुत ज्ञानावरणीय
(३) अवधि ज्ञानावरणीय (४) मनःपर्यय ज्ञानावरणीय
(५) केवल ज्ञानावरणीय

(१) मति ज्ञानावरणीयः—मतिज्ञान के एक अपेक्षा से तीन सौ चालीस भेद होते हैं। इन सब ज्ञान के भेदों का आवरण करने वाले कर्मों को मति ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

(२) श्रुत ज्ञानावरणीयः—चौदह अथवा बीस भेद वाले श्रुतज्ञान का आवरण करने वाले कर्मों को श्रुत ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

(३) अवधि ज्ञानावरणीयः—भव प्रत्यय और गुण प्रत्यय तथा अनुगामी, अननुगामी आदि भेद वाले अवधिज्ञान के आवारक कर्मों को अवधि ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

(४) मनःपर्यय ज्ञानावरणीयः—ऋजुमति और विपुलमति भेद वाले मनःपर्यय ज्ञान का आच्छादन करने वाले कर्मों को मनःपर्यय ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

(५) केवल ज्ञानावरणीयः—केवलज्ञान का आवरण करने वाले कर्मों को केवल ज्ञानावरणीय कर्म कहते हैं।

इन पाँच ज्ञानावरणीय कर्मों में केवल ज्ञानावरणीय सर्वघाती है और शेष चार कर्म देशघाती हैं।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४६४) (कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग)

३७६-परोक्ष प्रमाण के पाँच भेदः-

(१) स्मृति (२) प्रत्यभिज्ञान
(३) तर्क (४) अनुमान
(५) आगम

(१) स्मृतिः—पहले जाने हुए पदार्थ को याद करना स्मृति है।

(२) प्रत्यभिज्ञानः—स्मृति और प्रत्यक्ष के विषयभूत पदार्थ में जोड़ रूप ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं। जैसेः—यह वही मनुष्य है, जिसे कल देखा था।

(३) तर्कः—अविनाभाव सम्बन्ध रूप व्याप्ति के ज्ञान को तर्क कहते हैं। साधन (हेतु) के होने पर साध्य का होना और साध्य के

न होने पर साधन का भी न होना अविनाभाव सम्बन्ध है। जैसेः—जहाँ—जहाँ धूम होता है वहाँ—वहाँ अग्नि होती है और जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम भी नहीं होता।

(४) अनुमानः—साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं। जैसेः—धूम को देख कर अग्नि का ज्ञान।

जिसे हम सिद्ध करना चाहते हैं वह साध्य है और जिस के द्वारा साध्य सिद्ध किया जाता है वह साधन है। साधन, साध्य के साथ अविनाभाव सम्बन्ध से रहता है। उसके होने पर साध्य अवश्य होता है और साध्य के अभाव में वह नहीं रहता। जैसेः—ऊपर के दृष्टान्त में धूम के सद्भाव में अग्नि का सद्भाव और अग्नि के अभाव में धूम का अभाव होता है। यहां धूम, अग्नि का साधन है।

अनुमान के दो भेदः—

१—स्वार्थानुमान

२—परार्थानुमान

स्वयं साधन द्वारा साध्य का ज्ञान करना स्वार्थानुमान है। दूसरे को साधन से साध्य का ज्ञान कराने के लिए कहे जाने वाला प्रतिज्ञा, हेतु आदि वचन परार्थानुमान है।

(५) आगमः—आप्त (हितोपदेष्टा सर्वज्ञ भगवान्) के वचन से उत्पन्न हुए पदार्थ—ज्ञान को आगम कहते हैं। उपचार से आप्त का वचन भी आगम कहा जाता है।

जो अभिधेय वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानता है और जैसा जानता है उसी प्रकार कहता है, वह आप्त है अथवा रागादि दोषों के क्षय होने को आप्ति कहते हैं। आप्ति से युक्त पुरुष आप्त कहलाता है।

(रत्नाकरावतारिका, परिच्छेद ३ व ४)

३८०-परार्थानुमान के पाँच अङ्गः-

(१) प्रतिज्ञा (२) हेतु

(३) उदाहरण (४) उपनय

(५) निगमन

(१) प्रतिज्ञाः—पक्ष और साध्य के कहने को प्रतिज्ञा कहते हैं। जहाँ हम साध्य को सिद्ध करना चाहते हैं वह पक्ष है यानि साध्य के रहने के स्थान को पक्ष कहते हैं। जैसेः—इस पर्वत में अग्नि है।

यह प्रतिज्ञा वचन है। यहाँ अग्नि साध्य है क्योंकि इसे सिद्ध करना है और पर्वत पक्ष है क्योंकि साध्य अग्नि को हम पर्वत में सिद्ध करना चाहते हैं।

(२) हेतुः—साधन के कहने को हेतु कहते हैं। जैसे—'क्योंकि यह धूम वाला है।' यहाँ धूम, साध्य अग्नि को सिद्ध करने वाला होने से साधन है और साधन को कहने वाला यह वचन हेतु है।

(३) उदाहरणः—व्याप्तिपूर्वक दृष्टान्त का कहना उदाहरण है। जैसे—जहाँ-जहाँ धूम होता है वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे—रसोई घर। जहाँ अग्नि नहीं होती वहाँ धूम भी नहीं होता, जैसेः—तालाब।

जहाँ साध्य और साधन की उपस्थिति और अनुपस्थिति दिखाई जाती है वह दृष्टान्त है। जैसेः—रसोईघर और तालाब।

दृष्टान्त के अन्वय और व्यतिरेक की अपेक्षा से दो भेद हैं। जहाँ साधन की उपस्थिति में साध्य की उपस्थिति दिखाई जाय वह अन्वय दृष्टान्त है। जैसेः—रसोईघर। जहाँ साध्य की अनुपस्थिति में साधन की अनुपस्थिति दिखाई जाय वह व्यतिरेक दृष्टान्त है। जैसेः—तालाब।

(४) उपनयः—पक्ष में हेतु का उपसंहार करना उपनय है। जैसेः—यह पर्वत भी धूम वाला है।

(५) निगमनः—नतीजा निकाल कर पक्ष में साध्य को दुहराना निगमन है। जैसेः—'इसलिये इस पर्वत में भी अग्नि है।' इस प्रकार के वाक्य का प्रयोग निगमन कहलाता है।

(रत्नाकरावतारिका, परिच्छेद ३)

३८१-स्वाध्याय की व्याख्या और भेदः-

शोभन रीति से मर्यादापूर्वक अस्वाध्याय काल का परिहार करते हुए शास्त्र का अध्ययन करना स्वाध्याय है। स्वाध्याय के पाँच भेदः—

(१) वाचना (२) पृच्छना
(३) परिवर्त्तना (४) अनुप्रेक्षा
(५) धर्मकथा

(१) वाचनाः—शिष्य को सूत्र अर्थ का पढ़ाना वाचना है।

(२) पृच्छनाः- वाचना ग्रहण करके संशय होने पर पुनः पूछना

पृच्छना है या पहले सीखे हुए सूत्रादि ज्ञान में शंका होने पर प्रश्न करना पृच्छना है।

(३) परिवर्त्तनाः–पढ़े हुए भूल न जाँय इसलिये उन्हें फेरना परिवर्त्तना है।

(४) अनुप्रेक्षाः–सीखे हुए सूत्र के अर्थ का विस्मरण न हो जाय इसलिये उसका बार–बार मनन करना अनुप्रेक्षा है।

(५) धर्मकथाः–उपरोक्त चारों प्रकार से शास्त्र का अभ्यास करने पर भव्य जीवों को शास्त्रों का व्याख्यान सुनाना धर्मकथा है।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४६५)

३८२-सूत्र की वाचना देने के पाँच बोल यानि गुरु महाराज पाँच बोलों से शिष्य को सूत्र सिखावेः-

(१) शिष्यों को शास्त्र–ज्ञान का ग्रहण हो और इनके श्रुत का संग्रह हो, इस प्रयोजन से शिष्यों को वाचना देवे।

(२) उपग्रह के लिये शिष्यों को वाचना देवे। इस प्रकार शास्त्र सिखाये हुए शिष्य आहार, पानी, वस्त्रादि शुद्ध गवेषणा द्वारा प्राप्त कर सकेंगे और संयम में सहायक होंगे।

(३) सूत्रों की वाचना देने से मेरे कर्मों की निर्जरा होगी यह विचार कर वाचना देवे।

(४) यह सोच कर वाचना देवे कि वाचना देने से मेरा शास्त्र ज्ञान स्पष्ट हो जायगा।

(५) शास्त्र का व्यवच्छेद न हो और शास्त्र की परम्परा चलती रहे, इस प्रयोजन से वाचना देवे।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४६८)

३८३-सूत्र सीखने के पाँच स्थानः-

१. तत्त्वों के ज्ञान के लिये सूत्र सीखे।

२. तत्त्वों पर श्रद्धा करने के लिये सूत्र सीखे।

३. चारित्र के लिये सूत्र सीखे।

४. मिथ्याभिनिवेश छोड़ने के लिये अथवा दूसरे से छुड़वाने के लिये सूत्र सीखे।

५. सूत्र सीखने से यथावस्थित द्रव्य एवं पर्यायों का ज्ञान होगा इस विचार से सूत्र सीखे।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४६८)

३८४-निरयावलिका के पाँच वर्गः-

(१) निरयावलिका (२) कप्पवडंसिया
(३) पुष्फिया (४) पुष्फ चूलिया
(५) वण्हिदशा

(१) निरयावलिकाः–प्रथम निरयावलिका वर्ग के दस अध्याय हैं।

(१) काल (२) सुकाल
(३) महाकाल (४) कृष्ण
(५) सुकृष्ण (६) महाकृष्ण
(७) वीर कृष्ण (८) राम कृष्ण
(६) सेन कृष्ण (१०) महासेन कृष्ण

उपर्युक्त दस ही श्रेणिक राजा के पुत्र हैं। इनकी माताएं काली, सुकाली आदि कुमारों के सदृश नाम वाली ही हैं जिनका वर्णन अन्तकृद्दशा सूत्र में है। श्रेणिक राजा ने कूणिककुमार के सगे भाई वेहल्लकुमार को एक सेचानक गन्ध–हस्ती और एक अठारह लड़ा हार दिया था। श्रेणिक राजा की मृत्यु होने पर कूणिक राजा हुआ। उसने रानी पद्मावती के आग्रहवश वेहल्लकुमार से वह सेचानक गन्धहस्ती और अठारह लड़ा हार मांगा। इस पर वेहल्लकुमार ने अपने नाना चेड़ा राजा की शरण ली। तत्पश्चात् कूणिक राजा ने इनके लिये काल सुकाल आदि दस भाइयों के साथ महाराजा चेड़ा पर चढ़ाई की। नव मल्लि नव लिच्छवी राजाओं ने चेड़ा राजा का साथ दिया। दोनों के बीच रथमूसल संग्राम हुआ। ये दस ही भाई इस युद्ध में काम आये और मर कर चौथी नरक में उत्पन्न हुए। वहां से आयु पूरी होने पर ये महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे और सिद्ध होंगे।

(२) कप्पवडंसियाः–कप्पवडंसिया नाम द्वितीय वर्ग के दस अध्ययन हैं।

(१) पद्म (२) महापद्म
(३) भद्र (४) सुभद्र
(५) पद्मभद्र (६) पद्मसेन
(७) पद्मगुल्म (८) नलिनीगुल्म
(६) आनन्द (१०) नन्दन

ये दसों निरयावलिका वर्ग के दस कुमारों के पुत्र है।

इनकी माताएं इन्हीं के नाम वाली हैं। इन्होंने भगवान् महावीर के पास दीक्षा ली। प्रथम दो कुमारों ने पाँच वर्ष दीक्षा पर्याय पाली। तीसरे, चौथे और पाँचवें कुमार ने चार वर्ष और छठे, सातवें, आठवें कुमार ने तीन वर्ष तक दीक्षा पर्याय पाली। अन्तिम दो कुमारों की दो–दो वर्ष की दीक्षा पर्याय है। पहले आठ कुमार क्रमशः पहले से आठवें देवलोक में उत्पन्न हुए। नववां कुमार दसवें देवलोक में और दसवां कुमार बारहवें देवलोक में उत्पन्न हुआ। ये सभी देवलोक से चव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म ग्रहण करेंगे और वहां से सिद्धगति (मोक्ष) को प्राप्त करेंगे।

(३) पुप्फियाः–तृतीय वर्ग पुप्फिया के दस अध्ययन हैं।

(१) चन्द्र	(२) सूर्य
(३) शुक्र	(४) बहुपुत्रिका
(५) पूर्णभद्र	(६) मणिभद्र
(७) दत्त	(८) शिव
(९) बल	(१०) अनादृत

चन्द्र, सूर्य और शुक्र ज्योतिषी देव हैं। बहुपुत्रिका सौधर्म्म देवलोक की देवी है। पूर्णभद्र, मणिभद्र, दत्त, शिव, बल और अनादृत ये छहों सौधर्म्म देवलोक के देव हैं।

भगवान् महावीर राजगृह नगर के गुणशील चैत्य में विराजते थे। वहाँ ये सभी भगवान् महावीर के दर्शन करने के लिये आये और नाटक आदि दिखला कर भगवान् को वन्दना नमस्कार कर वापिस यथास्थान चले गये। गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान् महावीर स्वामी ने इनके पूर्व भव बताये और कहा कि ऐसी करणी (तप आदि क्रिया) करके इन्होंने यह ऋद्धि पाई है। भगवान् ने यह भी बताया कि इस भव से चव कर ये चन्द्र, सूर्य और शुक्र महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध होंगे। बहुपुत्रिका देवी देवलोक से चव कर सोमा ब्राह्मणी का भव करेगी। वहाँ उसके बहुत बाल–बच्चे होंगे। बाल–बच्चों से घबरा कर सोमा ब्राह्मणी सुव्रता आर्य्या के पास दीक्षा लेगी और सौधर्म्म देवलोक में सामानिक सोमदेव रूप में उत्पन्न होगी। वहाँ से चव कर वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगी और सिद्ध होगी। पूर्णभद्र, मणिभद्र आदि छहों देवता भी देवलोक से चव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे और वहाँ से मुक्ति

को प्राप्त होंगे।

इस वर्ग में शुक्र और बहुपुत्रिका देवी के अध्ययन बड़े हैं। शुक्र पूर्व भव में सोमिल ब्राह्मण था। सोमिल के भव की कथा से तत्कालीन ब्राह्मण संन्यासियों के अनेक प्रकार और उनकी चर्य्या आदि का पता लगता है। इस कथा में ब्राह्मणों के क्रिया–काण्ड और अनुष्ठानों से जैन व्रत नियमों की प्रधानता बताई गई है। बहुपुत्रिका के पूर्व भव सुभद्रा की कथा से यह ज्ञात होता है कि बिना बाल–बच्चों वाली स्त्रियाँ बच्चों के लिये कितनी तरसती हैं और अपने को हतभाग्या समझती हैं। बहुपुत्रिका के आगामी सोमा ब्राह्मणी के भव की कथा से यह मालूम होता है कि अधिक बाल–बच्चों वाली स्त्रियाँ बाल–बच्चों से कितनी घबरा उठती हैं आदि–आदि।

(४) पुप्फ चूलिया:–चतुर्थ वर्ग पुप्फ चूलिया के दस अध्ययन हैं।

(१) श्री	(२) ह्री
(३) धृति	(४) कीर्त्ति
(५) बुद्धि	(६) लक्ष्मी
(७) इलादेवी	(८) सुरादेवी
(९) रसदेवी	(१०) गन्धदेवी

ये दस ही प्रथम सौधर्म की देवियाँ हैं। इनके विमानों के वे ही नाम हैं जो कि देवियों के हैं। इस वर्ग में श्रीदेवी की कथा विस्तार से दी गई है।

श्रीदेवी राजगृह नगर के गुणशील चैत्य में विराजमान भगवान् महावीर स्वामी के दर्शनार्थ आई। उसने बत्तीस प्रकार के नाटक बताये और भगवान् को वन्दना नमस्कार कर वापिस अपने स्थान पर चली गई। गौतम स्वामी के पूछने पर भगवान् ने श्रीदेवी का पूर्वभव बताया। पूर्वभव में यह राजगृह नगर के सुदर्शन गाथा पति की पुत्री थी। इसका नाम भूता था। उसने भगवान् पार्श्वनाथ का उपदेश सुना। और संसार से विरक्त हो गई। उसने दीक्षा ली और पुष्पचूला आर्य्या की शिष्या हुई। किसी समय उसे सर्वत्र अशुचि ही अशुचि दिखाई देने लगी। फिर वह शौच धर्म्म वाली हो गई और शरीर की शुश्रूषा करने लगी। वह हाथ, पैर आदि शरीर

के अवयवों को, सोने–बैठने आदि के स्थानों को बराबर धोने लगी और खूब साफ रखने लगी। पुष्पचूला आर्य्या के मना करने पर भी वह उनसे अलग रहने लगी। इस तरह बहुत वर्ष तक दीक्षा पर्याय पाल कर अन्त समय में उसने आलोचना, प्रतिक्रमण किये बिना ही संथारा किया और काल धर्म्म को प्राप्त हुई। भगवान् ने फरमाया यह करणी करके श्रीदेवी ने यह ऋद्धि पाई है और यहाँ से चव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्धगति को प्राप्त होगी।

शेष नव अध्ययन भी इसी तरह के हैं। इनके पूर्वभव के नगर, चैत्य, माता–पिता और खुद के नाम संग्रहणी सूत्र के अनुसार ही हैं। सभी ने भगवान् पार्श्वनाथ के पास दीक्षा ली और पुष्पचूला आर्या की शिष्या हुईं। सभी श्रीदेवी की तरह शौच और शुश्रूषा धर्म वाली हो गईं। यहाँ से चव कर ये सभी श्रीदेवी की तरह ही महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगी और सिद्ध पद को प्राप्त करेंगी।

(५) वण्हिदसाः–पञ्चम वर्ग वण्हिदसा के बारह अध्ययन हैंः–

(१) निसढ़	(२) माअणि
(३) वह	(४) वहे
(५) पगया	(६) जुत्ती
(७) दसरह	(८) दढ़रह
(९) महाधणू	(१०) सत्तधणू
(११) दस धणू	(१२) सय धणू

इनमें पहले अध्ययन की कथा विस्तारपूर्वक दी गई है। शेष ग्यारह अध्ययन के लिये संग्रहणी की सूचना दी है।

निसढ़कुमार द्वारिका नगरी के बलदेव राजा की रेवती रानी के पुत्र थे। भगवान् अरिष्टनेमि के द्वारिका नगरी के नन्दन वन में पधारने पर निसढ़कुमार ने भगवान् के दर्शन किये और उपदेश श्रवण किया। उपदेश सुनकर कुमार ने श्रावक के बारह व्रत अङ्गीकार किये। प्रधान शिष्य वरदत्त अणगार के पूछने पर भगवान् पार्श्वनाथ ने निसढ़कुमार के पूर्वभव की कथा कही। पूर्वभव में निसढ़कुमार भरतक्षेत्र के रोहीडक नामक नगर में महाबल राजा के यहाँ पद्मावती रानी की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुए। इनका नाम वीरङ्गद था। इन्होंने सिद्धार्थ आचार्य्य के पास दीक्षा ली। ४५ वर्ष की दीक्षा–पर्याय पाल कर वीरङ्गदकुमार ने संथारा किया और

ब्रह्म देवलोक में देवता हुए। वहाँ से चव कर ये निसढ़कुमार हुए हैं।

बाद में निसढ़कुमार ने भगवान् अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ली। नौ वर्ष तक दीक्षा पर्याय पाल कर वे संथारा करके काल धर्म को प्राप्त हुए और सर्वार्थसिद्ध विमान में देवता हुए।

वरदत्त अणगार के पूछने पर भगवान् अरिष्टनेमि ने बताया कि ये सर्वार्थसिद्ध विमान से चव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे। वहाँ दीक्षा लेकर बहुत वर्ष तक चारित्र पाल कर अन्त में एक मास की संलेखना करेंगे और मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

(निरयावलिका)

३८५-दग्धाक्षर पाँचः-

काव्य में अक्षरों के शुभाशुभपने पर ध्यान दिया जाता है। अशुभ अक्षरों में भी पाँच अक्षर बहुत दूषित समझे जाते हैं जो दग्धाक्षर कहलाते हैं। पद्य के आदि में ये अक्षर न आने चाहिये। दग्धाक्षर ये हैं:-

झ, ह, र, भ, ष।

यदि छन्द का पहला शब्द देवता या मङ्गलवाची हो तो अशुभ अक्षरों का दोष नहीं रहता। अक्षर के दीर्घ कर देने से भी दग्धाक्षर का दोष जाता रहता है।

(सरल पिङ्गल)

३८६-पाँच बोल छद्मस्थ साक्षात् नहीं जानताः-

(१) धर्मास्तिकाय (२) अधर्मास्तिकाय

(३) आकाशास्तिकाय (४) शरीररहित जीव

(५) परमाणु पुद्गल

धर्मास्तिकाय आदि अमूर्त्त हैं इसलिये अवधिज्ञानी उन्हें नहीं जानता। परन्तु परमाणु पुद्गल मूर्त्त (रूपी) है और उसे अवधिज्ञानी जानता है। इसलिये यहाँ छद्मस्थ से अवधिज्ञान आदि के अतिशय रहित छद्मस्थ ही का आशय है।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४५०)

३८७-जीव के पाँच भावः-

विशिष्ट हेतुओं से अथवा स्वभाव से जीवों का भिन्न-भिन्न रूप से होना भाव है।

अथवाः—

उपशमादि पर्यायों से जो होते हैं वे भाव कहलाते हैं। भाव के पाँच भेदः—

(१) औपशमिक (२) क्षायिक
(३) क्षायोपशमिक (४) औदयिक
(५) पारिणामिक

(१) औपशमिकः—जो उपशम से होता है वह औपशमिक भाव कहलाता है। प्रदेश और विपाक दोनों प्रकार से कर्मों का उदय रुक जाना उपशम है। इस प्रकार का उपशम सर्वोपशम कहलाता है और वह सर्वोपशम मोहनीय कर्म का ही होता है, शेष कर्मों का नहीं।

औपशमिक भाव के दो भेद हैंः—

१. सम्यक्त्व २. चारित्र

ये भाव दर्शन और चारित्र मोहनीय के उपशम से होने वाले हैं।

(२) क्षायिक भावः—जो कर्म के सर्वथा क्षय होने पर प्रकट होता है वह क्षायिक भाव कहलाता है।

क्षायिक भाव के नौ भेदः—

(१) केवलज्ञान (२) केवलदर्शन
(३) दानलब्धि (४) लाभलब्धि
(५) भोगलब्धि (६) उपभोगलब्धि
(७) वीर्य्यलब्धि (८) सम्यक्त्व
(९) चारित्र

चार सर्वघाती कर्मों के क्षय होने पर ये नव भाव प्रकट होते हैं। ये सादि अनन्त हैं।

(३) क्षायोपशमिकः—उदय में आये हुए कर्म का क्षय और अनुदीर्ण अंश का विपाक की अपेक्षा उपशम होना क्षयोपशम कहलाता है। क्षयोपशम में प्रदेश की अपेक्षा कर्म का उदय रहता है। इसके अठारह भेद हैंः—

चार ज्ञान, तीन अज्ञान, तीन दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य्य की पाँच लब्धियां, सम्यक्त्व और चारित्र। चार सर्वघाती कर्मों के क्षयोपशम से ये भाव प्रगट होते हैं। शेष कर्मों का

क्षयोपशम नहीं होता।

(४) औदयिक भावः—यथायोग्य समय पर उदयप्राप्त आठ कर्मों का अपने—अपने स्वरूप से फल भोगना उदय है। उदय से होने वाला भाव औदयिक कहलाता है। औदयिक भाव के इक्कीस भेद हैं:—

चार गति, चार कषाय, तीन लिङ्ग, छः लेश्या, अज्ञान, मिथ्यात्व, असिद्धत्व, असंयम।

(५) पारिणामिक भावः—कर्मों के उदय, उपशम आदि से निरपेक्ष जो भाव जीव को केवल स्वभाव से ही होता है वह पारिणामिक भाव है।

अथवाः—

स्वभाव से ही स्वरूप में परिणत होते रहना पारिणामिक भाव है।

अथवाः—

अवस्थित वस्तु का पूर्व अवस्था का त्याग किये बिना उत्तरावस्था में चले जाना परिणाम कहलाता है। उससे होने वाला भाव पारिणामिक भाव है।

पारिणामिक भाव के तीन भेद हैं:—

(१) जीवत्व (२) भव्यत्व

(३) अभव्यत्व

ये भाव अनादि अनन्त होते हैं।

जीव द्रव्य के उपरोक्त पाँच भाव हैं। अजीव द्रव्यों में धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल, इन चारों के पारिणामिक भाव ही होते हैं। पुद्गल द्रव्य में परमाणु पुद्गल और द्व्यणुकादि सादि स्कन्ध पारिणामिक भाव वाले ही हैं। किन्तु औदारिक आदि शरीररूप स्कन्धों में पारिणामिक और औदयिक दो भाव होते हैं। कर्म पुद्गल के तो औपशमिक आदि पाँचों भाव होते हैं।

(कर्मग्रन्थ ४) (अनुयोगद्वार सूत्र, पृष्ठ ११३)

(प्रवचन सारोद्धार, गाथा १२६० से १२६८)

३८८-अन्तराय कर्म के पाँच भेदः-

जो कर्म आत्मा के वीर्य्य, दान, लाभ, भोग और उपभोग रूप शक्तियों का घात करता है वह अन्तराय कहा जाता है। यह कर्म

भण्डारी के समान है। जैसेः—राजा को दान देने की आज्ञा होने पर भी भण्डारी के प्रतिकूल होने से याचक को खाली हाथ लौटना पड़ता है। राजा की इच्छा को भण्डारी सफल नहीं होने देता। इसी प्रकार जीव राजा है, दान देने आदि की उसकी इच्छा है परन्तु भण्डारी के सरीखा यह अन्तराय कर्म जीव की इच्छा को सफल नहीं होने देता।

अन्तराय कर्म के पाँच भेदः—

(१) दानान्तराय (२) लाभान्तराय
(३) भोगान्तराय (४) उपभोगान्तराय
(५) वीर्यान्तराय

(१) दानान्तरायः—दान की सामग्री तैयार है, गुणवान पात्र आया हुआ है, दाता दान का फल भी जानता है। इस पर भी, जिस कर्म के उदय से जीव को दान करने का उत्साह नहीं होता, वह दानान्तराय कर्म है।

(२) लाभान्तरायः—योग्य सामग्री के रहते हुए भी जिस कर्म के उदय से अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं होती, वह लाभान्तराय कर्म है। जैसेः—दाता के उदार होते हुए, दान की सामग्री विद्यमान रहते हुए तथा माँगने की कला में कुशल होते हुए भी कोई याचक दान नहीं पाता, यह लाभान्तराय कर्म का फल ही समझना चाहिए।

(३) भोगान्तरायः—त्याग, प्रत्याख्यान के न होते हुए तथा भोगने की इच्छा रहते हुए भी जिस कर्म के उदय से जीव, विद्यमान स्वाधीन भोग सामग्री का कृपणतावश भोग न कर सके, वह भोगान्तराय कर्म है।

(४) उपभोगान्तरायः—जिस कर्म के उदय से जीव त्याग, प्रत्याख्यान न होते हुए तथा उपभोग की इच्छा होते हुए भी विद्यमान स्वाधीन उपभोग सामग्री का कृपणतावश उपभोग न कर सके, वह उपभोगान्तराय कर्म है।

(५) वीर्यान्तरायः—शरीर नीरोग हो, तरुणावस्था हो, बलवान हो फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव प्राणशक्तिरहित होता है तथा सत्त्वहीन की तरह प्रवृत्ति करता है, वह वीर्यान्तराय कर्म है।

वीर्यान्तराय कर्म के तीन भेदः—

(१) बाल वीर्यान्तराय (२) पण्डित वीर्यान्तराय

(३) बाल–पण्डित वीर्यान्तराय

बाल–वीर्यान्तरायः–समर्थ होते हुए एवं चाहते हुए भी, जिसके उदय से जीव सांसारिक कार्य न कर सके, वह बाल वीर्यान्तराय है।

पण्डित वीर्यान्तरायः–सम्यग्दृष्टि साधु मोक्ष की चाह रखता हुआ भी, जिस कर्म के उदय से जीव मोक्षप्राप्तियोग्य क्रियाएं न कर सके, वह पण्डित वीर्यान्तराय है।

बाल–पण्डित–वीर्यान्तरायः–देश विरति रूप चारित्र को चाहता हुआ भी, जिस कर्म के उदय से जीव श्रावक की क्रियाओं का पालन न कर सके, वह बाल–पण्डित वीर्यान्तराय है।

(कर्मग्रन्थ, भाग १) (पन्नवणा, पद २३)

३८६-शरीर की व्याख्या और उसके भेदः-

जो उत्पत्ति समय से लेकर प्रतिक्षण जीर्ण–शीर्ण होता रहता है तथा शरीर नाम कर्म के उदय से उत्पन्न होता है, वह शरीर कहलाता है।

शरीर के पाँच भेदः–

(१) औदारिक शरीर (२) वैक्रिय शरीर

(३) आहारक शरीर (४) तैजस शरीर

(५) कार्माण शरीर

(१) औदारिक शरीरः–उदार अर्थात् प्रधान अथवा स्थूल पुद्गलों से बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है। तीर्थंकर, गणधरों का शरीर प्रधान पुद्गलों से बनता है और सर्वसाधारण का शरीर स्थूल असार पुद्गलों से बना हुआ होता है।

अथवाः–

अन्य शरीरों की अपेक्षा अवस्थित रूप से विशाल अर्थात् बड़े परिमाण वाला होने से यह औदारिक शृरीर कहा जाता है। वनस्पति काय की अपेक्षा औदारिक शरीर की एक सहस्र योजन की अवस्थित अवगाहना है। अन्य सभी शरीरों की अवस्थित अवगाहना इससे कम है। वैक्रिय शरीर की उत्तर वैक्रिय की अपेक्षा अनवस्थित अवगाहना लाख योजन की है। परन्तु भव धारणीय वैक्रिय शरीर की अवगाहना तो पाँच सौ धनुष से ज्यादा नहीं है।

अथवाः–

अन्य शरीरों की अपेक्षा अल्प प्रदेश वाला तथा परिमाण में वड़ा

होने से यह औदारिक शरीर कहलाता है।

अथवाः—

मांस, रुधिर, अस्थि आदि से बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है। औदारिक शरीर मनुष्य और तिर्यञ्च के होता है।

(२) वैक्रिय शरीरः—जिस शरीर से विविध अथवा विशिष्ट प्रकार की क्रियाएं होती हैं, वह वैक्रिय शरीर कहलाता है। जैसे—एक रूप होकर अनेक रूप धारण करना, अनेक रूप होकर एक रूप धारण करना, छोटे शरीर से बड़ा शरीर बनाना और बड़े से छोटा बनाना, पृथ्वी और आकाश पर चलनेयोग्य शरीर धारण करना, दृश्य–अदृश्य रूप बनाना आदि।

वैक्रिय शरीर दो प्रकार का हैः—

१—औपपातिक वैक्रिय शरीर

२—लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर

जन्म से ही जो वैक्रिय शरीर मिलता है, वह औपपातिक वैक्रिय शरीर है। देवता और नारकी के नैरिये जन्म से ही वैक्रिय शरीरधारी होते हैं।

लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीरः—तप आदि द्वारा प्राप्त लब्धिविशेष से प्राप्त होने वाला वैक्रिय शरीर लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर है। मनुष्य और तिर्यञ्च में लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर होता है।

(३) आहारक शरीरः—प्राणी दया, तीर्थंकर भगवान् की ऋद्धि का दर्शन तथा संशय निवारण आदि प्रयोजनों से चौदह पूर्वधारी मुनिराज, अन्य क्षेत्र (महाविदेह क्षेत्र) में विराजमान तीर्थंकर भगवान् के समीप भेजने के लिये, लब्धिविशेष से अतिविशुद्ध स्फटिक के सदृश एक हाथ का जो पुतला निकालते हैं, वह आहारक शरीर कहलाता है। उक्त प्रयोजनों के सिद्ध हो जाने पर वे मुनिराज उस शरीर को छोड़ देते हैं।

(४) तैजस शरीरः—तेजः पुद्गलों से बना हुआ शरीर तैजस शरीर कहलाता है। प्राणियों के शरीर में विद्यमान उष्णता से इस शरीर का अस्तित्व सिद्ध होता है। यह शरीर आहार का पाचन करता है। तपोविशेष से प्राप्त तैजसलब्धि का कारण भी यही शरीर है।

(५) कार्माण शरीरः—कर्मों से बना हुआ शरीर कार्माण कहलाता

है अथवा जीव के प्रदेशों के साथ लगे हुए आठ प्रकार के कर्म पुद्गलों को कार्माण शरीर कहते हैं। यह शरीर ही सब शरीरों का बीज है।

पाँचों शरीरों के इस क्रम का कारण यह है कि आगे-आगे के शरीर पिछले की अपेक्षा प्रदेशबहुल (अधिक प्रदेश वाले) हैं एवं परिमाण में सूक्ष्मतर हैं। तैजस और कार्माण शरीर सभी संसारी जीवों के होते हैं। इन दोनों शरीरों के साथ ही जीव मरण देश को छोड़कर उत्पत्ति स्थान को जाता है।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ३९५) (पन्नवणा, पद २१)
(कर्मग्रन्थ पहला)

३९०-बन्धन नाम कर्म के पाँच भेदः-

जिस प्रकार लाख, गोंद आदि चिकने पदार्थों से दो चीजें आपस में जोड़ दी जाती हैं, उसी प्रकार जिस नाम कर्म से प्रथम ग्रहण किये हुए शरीर पुद्गलों के साथ, वर्तमान में ग्रहण किये जाने वाले शरीर पुद्गल परस्पर बन्ध को प्राप्त होते हैं, वह बन्धन नाम कर्म कहा जाता है।

बन्धन नाम कर्म के पाँच भेदः-

(१) औदारिक शरीर बन्धन नाम कर्म

(२) वैक्रिय शरीर बन्धन नाम कर्म

(३) आहारक शरीर बन्धन नाम कर्म

(४) तैजस शरीर बन्धन नाम कर्म

(५) कार्माण शरीर बन्धन नाम कर्म

(१) औदारिक शरीर बन्धन नामकर्मः-जिस कर्म के उदय से पूर्व गृहीत एवं गृह्यमाण (वर्तमान में ग्रहण किये जाने वाले) औदारिक पुद्गलों का परस्पर व तैजस कार्माण शरीर पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होता है, वह औदारिक शरीर बन्धन नामकर्म है।

(२) वैक्रिय शरीर बन्धन नामकर्मः-जिस कर्म के उदय से पूर्व गृहीत एवं गृह्यमाण वैक्रिय पुद्गलों का परस्पर व तैजस कार्माण शरीर के पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होता है, वह वैक्रिय शरीर बन्धन नामकर्म है।

(३) आहारक शरीर बन्धन नामकर्मः-जिस कर्म के उदय से पूर्व गृहीत एवं गृह्यमाण आहारक पुद्गलों का परस्पर एवं तैजस

कार्मांण शरीर के पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होता है, वह आहारक शरीर बन्धन नामकर्म है।

(४) तैजस शरीर बन्धन नामकर्मः--जिस कर्म के उदय से पूर्व गृहीत एवं गृह्यमाण तैजस पुद्गलों का परस्पर एवं कार्मांण शरीर–पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होता है, वह तैजस शरीर बन्धन नामकर्म है।

(५) कार्मांण शरीर बन्धन नामकर्मः–जिस कर्म के उदय से पूर्व गृहीत एवं गृह्यमाण कर्म पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध होता है, वह कार्मांण शरीर बन्धन नामकर्म है।

औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरों का उत्पत्ति के समय सर्व बन्ध और बाद में देश बन्ध होता है। तैजस और कार्मांण शरीर की नवीन उत्पत्ति न होने से उनमें सदा देश बन्ध ही होता है।

(कर्मग्रन्थ, भाग पहला और छठा)

(प्रवचन सारोद्धार, गाथा १२५१ से ७५)

३६१-संघात नाम कर्म के पाँच भेदः-

पूर्वगृहीत औदारिक शरीर आदि पुद्गलों का गृह्यमाण औदारिक आदि पुद्गलों के साथ सम्बन्ध होना बन्ध कहलाता है। परन्तु यह सम्बन्ध तभी हो सकता है जब कि वे पुद्गल एकत्रित होकर सन्निहित हों। संघात नाम कर्म का यही कार्य है कि वह गृहीत और गृह्यमाण शरीर पुद्गलों को परस्पर सन्निहित कर व्यवस्था से स्थापित कर देता है। इसके बाद बन्धन नाम कर्म से वे सम्बद्ध हो जाते हैं। जैसे–दांतली से इधर–उधर बिखरी हुई घास इकट्ठी की जाकर व्यवस्थित की जाती है तभी बाद में वह गट्ठे के रूप में बाँधी जाती है। जिस कर्म के उदय से गृह्यमाण नवीन शरीर–पुद्गल पूर्वगृहीत शरीर–पुद्गलों के समीप व्यवस्थापूर्वक स्थापित किये जाते हैं, वह संघात नाम कर्म है।

संघात नाम कर्म के पाँच भेदः–

(१) औदारिक शरीर संघात नाम कर्म

(२) वैक्रिय शरीर संघात नाम कर्म

(३) आहारक शरीर संघात नाम कर्म

(४) तैजस शरीर संघात नाम कर्म

(५) कार्माण शरीर संघात नाम कर्म

औदारिक शरीर संघात नाम कर्मः—जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर रूप से परिणत गृहीत एवं गृह्यमाण पुद्‌गलों का परस्पर सान्निध्य हो अर्थात् एकत्रित होकर वे एक—दूसरे के पास व्यवस्थापूर्वक जम जाँय, वह औदारिक शरीर संघात नाम कर्म है। इसी प्रकार शेष चार संघात का स्वरूप भी समझना चाहिये।

(कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग)

(प्रवचन सारोद्धार, गाथा १२५१ से ७५ तक)

३६२-पाँच इन्द्रियाँः-

आत्मा, सर्व वस्तुओं का ज्ञान करने तथा भोग करने रूप ऐश्वर्य से सम्पन्न होने से इन्द्र कहलाता है। आत्मा के चिह्न को इन्द्रिय कहते हैं।

अथवाः—

इन्द्र अर्थात् आत्मा द्वारा दृष्ट, रचित, सेवित और दी हुई होने से श्रोत्र, चक्षु आदि इन्द्रियाँ कहलाती हैं।

अथवाः—

त्वचा, नेत्र आदि जिन साधनों से सर्दी, गर्मी, काला, पीला आदि विषयों का ज्ञान होता है तथा जो अङ्गोपाङ्ग और निर्माण नाम कर्म के उदय से प्राप्त होती है, वह इन्द्रिय कहलाती हैं।

इन्द्रिय के पाँच भेदः—

(१) श्रोत्रेन्द्रिय (२) चक्षुरिन्द्रिय
(३) घ्राणेन्द्रिय (४) रसनेन्द्रिय
(५) स्पर्शनेन्द्रिय

(१) श्रोत्रेन्द्रियः—जिसके द्वारा जीव, अजीव और मिश्र शब्द का ज्ञान होता है, उसे श्रोत्रेन्द्रिय कहते हैं।

(२) चक्षुरिन्द्रियः—जिसके द्वारा आत्मा पाँच वर्णों का ज्ञान करती है, वह चक्षुरिन्द्रय कहलाती है।

(३) घ्राणेन्द्रियः—जिसके द्वारा आत्मा सुगन्ध और दुर्गन्ध को जानती है, वह घ्राणेन्द्रिय कहलाती है।

(४) रसनेन्द्रियः—जिसके द्वारा पाँच प्रकार के रसों का ज्ञान होता है, वह रसनेन्द्रिय कहलाती है।

(५) स्पर्शनेन्द्रियः—जिसके द्वारा आठ प्रकार के स्पर्शों का ज्ञान

होता है, वह स्पर्शनेन्द्रिय कहलाती है।

(पन्नवणा, पद १५) (ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४४३)
(जैन सिद्धान्त प्रवेशिका)

३६३-पाँच इन्द्रियों के संस्थानः-

इन्द्रियों की विशेष प्रकार की बनावट को संस्थान कहते हैं। इन्द्रियों का संस्थान दो प्रकार का है। बाह्य और आभ्यन्तर। इन्द्रियों का बाह्य संस्थान भिन्न–भिन्न जीवों के भिन्न–भिन्न होता है। सभी के एक–सा नहीं होता। किन्तु आभ्यन्तर संस्थान सभी जीवों का एक–सा होता है। इसलिये यहाँ इन्द्रियों का आभ्यन्तर संस्थान दिया जाता है।

श्रोत्रेन्द्रिय का संस्थान कदम्ब के फूल जैसा है।

चक्षुरिन्द्रिय का संस्थान मसूर की दाल जैसा है।

घ्राणेन्द्रिय का आकार अतिमुक्त पुष्प की चन्द्रिका जैसा है।

रसनेन्द्रिय का आकार खुरपे जैसा है।

स्पर्शनेन्द्रिय का आकार अनेक प्रकार का है।

(पन्नवणा, पद १५) (ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४४३ टीका)

३६४-पाँच इन्द्रियों का विषय-परिमाणः-

श्रोत्रेन्द्रिय जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग से उत्कृष्ट बारह योजन से आये हुए, शब्दान्तर और वायु आदि से अप्रतिहत शक्ति वाले, शब्द पुद्गलों को विषय करती है।

श्रोत्रेन्द्रिय कान में प्रविष्ट शब्दों को स्पर्श करती हुई ही जानती है।

चक्षुरिन्द्रिय जघन्य अंगुल के संख्यातवें भाग उत्कृष्ट एक लाख योजन से कुछ अधिक दूरी पर रहे हुए अव्यवहित रूप को देखती है। यह अप्राप्यकारी है। इसलिये रूप का स्पर्श करके उसका ज्ञान नहीं करती।

घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय–ये तीनों इन्द्रियाँ जघन्य अंगुल के असंख्यातवें भाग उत्कृष्ट नव योजन से प्राप्त अव्यवहित विषयों को स्पर्श करती हुई जानती है।

इन्द्रियों का जो विषय–परिमाण है वह आत्मांगुल से जानना चाहिए।

(पन्नवणा, पद १५)

३६५-पाँच काम-गुण:-

(१) शब्द (२) रूप
(३) गन्ध (४) रस
(५) स्पर्श

ये पाँचों क्रमशः पाँच इन्द्रियों के विषय हैं। ये पाँच काम अर्थात् अभिलाषा उत्पन्न करने वाले गुण हैं इसलिए काम गुण कहे जाते हैं।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ३६०)

३६६-पाँच अनुत्तर विमान:-

(१) विजय (२) वैजयन्त
(३) जयन्त (४) अपराजित
(५) सर्वार्थसिद्ध

ये विमान अनुत्तर अर्थात् सर्वोत्तम होते हैं तथा इन विमानों में रहने वाले देवों के शब्द यावत् स्पर्श सर्वश्रेष्ठ होते हैं। इसलिये ये अनुत्तर विमान कहलाते हैं। एक बेला (दो उपवास) तप से श्रेष्ठ साधु जितने कर्म क्षीण करता है उतने कर्म जिन मुनियों के बाकी रह जाते हैं वे अनुत्तर विमान में उत्पन्न होते हैं। सर्वार्थसिद्ध विमानवासी देवों के जीव तो सात लव की स्थिति के कम रहने से वहां जाकर उत्पन्न होते हैं।

(पन्नवणा, पद १)

(भगवती शतक १४, उद्देशा ७)

३६७-इन्द्र स्थान की पाँच सभाएं:-

चमर आदि इन्द्रों के रहने के स्थान, भवन, नगर या विमान इन्द्र स्थान कहलाते हैं। इन्द्र स्थान में पाँच सभाएं होती हैं—

(१) सुधर्मा सभा (२) उपपात सभा
(३) अभिषेक सभा (४) अलंकारिका सभा
(५) व्यवसाय सभा

(१) सुधर्मा सभा:—जहाँ देवताओं की शय्या होती है, वह सुधर्मा सभा है।

(२) उपपात सभा:—जहाँ जाकर जीव देवता रूप से उत्पन्न होता है, वह उपपात सभा है।

(३) अभिषेक सभा:—जहाँ इन्द्र का राज्याभिषेक होता है, वह

अभिषेक सभा है।

(४) अलंकारिका सभाः–जिस में देवता अलंकार पहनते हैं, वह अलंकारिका सभा है।

(५) व्यवसाय सभाः– जिसमें पुस्तकें पढ़ कर तत्त्वों का निश्चय किया जाता है, वह व्यवसाय सभा है।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४७२)

३६८-देवों की पाँच परिचारणाः-

वेदजनित बाधा होने पर उसे शान्त करना परिचारणा कहलाती है।

परिचारणा के पाँच भेद हैंः–

(१) काय परिचारणा (२) स्पर्श परिचारणा

(३) रूप परिचारणा (४) शब्द परिचारणा

(५) मन परिचारणा

भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिषी और सौधर्म, ईशान देवलोक के देवता काय परिचारणा वाले हैं अर्थात् शरीर द्वारा स्त्री–पुरुषों की तरह मैथुन सेवन करते हैं और इससे वेदजनित बाधा को शान्त करते हैं।

तीसरे सनत्कुमार और चौथे माहेन्द्र देवलोक के देवता स्पर्श परिचारणा वाले हैं अर्थात् देवियों के अङ्गोपाङ्ग का स्पर्श करने से ही उनकी वेदजनित बाधा शान्त हो जाती हैं।

पाँचवें ब्रह्मलोक और छठे लान्तक देवलोक में देवतारूप परिचारणा वाले हैं। वे देवियों के सिर्फ रूप को देखकर ही तृप्त हो जाते हैं।

सातवें महाशुक्र और आठवें सहस्रार देवलोक में देवता शब्द परिचारणा वाले हैं। वे देवियों के आभूषण आदि की ध्वनि को सुन कर ही वेदजनित बाधा से निवृत्त हो जाते हैं।

शेष चार आणत, प्राणत, आरण और अच्युत देवलोक के देवता मन परिचारणा वाले होते हैं अर्थात् संकल्पमात्र से ही वे तृप्त हो जाते हैं।

ग्रैवेयक और अनुत्तर विमानवासी देवता परिचारणारहित होते हैं। उन्हें मोह का उदय कम रहता है। इसलिये वे प्रशम सुख में ही तल्लीन रहते हैं।

काय परिचारणा वाले देवों से स्पर्श परिचारणा वाले देव अनन्त गुण सुख का अनुभव करते हैं। इसी प्रकार उत्तरोत्तर रूप, शब्द, मन की परिचारणा वाले देव पूर्व–पूर्व से अनन्त गुण सुख का अनुभव करते हैं। परिचारणारहित देवता और भी अनन्त गुण सुख का अनुभव करते हैं।

(पन्नवणा, पद ३४) (ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ४०२)

३६६-ज्योतिषी देव के पाँच भेद:-

(१) चन्द्र (२) सूर्य
(३) ग्रह (४) नक्षत्र
(५) तारा

मनुष्य क्षेत्रवर्ती अर्थात् मानुष्योत्तर पर्वतपर्यन्त अढ़ाई द्वीप में रहे हुए ज्योतिषी देव सदा मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए चलते रहते हैं। मानुष्योत्तर पर्वत के आगे रहने वाले सभी ज्योतिषी देव स्थिर रहते हैं।

जम्बूद्वीप में दो चन्द्र, दो सूर्य, छप्पन नक्षत्र, एक सौ छिहत्तर ग्रह और एक लाख तेतीस हजार नौ सौ पचास कोड़ा कोड़ी तारे हैं। लवणोदधि समुद्र में चार, धातकी खण्ड में बारह, कालोदधि में बयालीस और अर्द्धपुष्कर द्वीप में बहत्तर चन्द्र हैं। इन क्षेत्रों में सूर्य की संख्या भी चन्द्र के समान ही है। इस प्रकार अढ़ाई द्वीप में १३२ चन्द्र और १३२ सूर्य हैं।

एक चन्द्र का परिवार २८ नक्षत्र, ८८ ग्रह और ६६९७५ कोड़ा कोड़ी तारे हैं। इस प्रकार अढ़ाई द्वीप में इनसे १३२ गुणे ग्रह नक्षत्र और तारे हैं।

चन्द्र से सूर्य, सूर्य से ग्रह, ग्रह से नक्षत्र और नक्षत्र से तारे शीघ्र गति वाले हैं।

मध्यलोक में मेरु पर्वत के सम भूमिभाग से ७९० योजन से ९०० योजन तक यानि ११० योजन में ज्योतिषी देवों के विमान हैं।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ४०१)
(जीवाभिगम, प्रतिपत्ति ३)

४००-पाँच संवत्सर:-

एक वर्ष को संवत्सर कहते हैं। संवत्सर पाँच हैं:–

(१) नक्षत्र संवत्सर (२) युग संवत्सर

(३) प्रमाण संवत्सर (४) लक्षण संवत्सर

(५) शनैश्चर संवत्सर

(१) नक्षत्र संवत्सरः—चन्द्रमा का अट्ठाईस नक्षत्रों में रहने का काल नक्षत्र मास कहलाता है। बारह नक्षत्र मास का संवत्सर, नक्षत्र संवत्सर कहलाता है।

(२) युग संवत्सरः—चन्द्र आदि पाँच संवत्सर का एक युग होता है। युग के एक देश रूप संवत्सर को युग संवत्सर कहते हैं।

युग संवत्सर पाँच प्रकार का होता हैः—

१—चन्द्र

२—चन्द्र

३—अभिवर्धित

४—चन्द्र

५—अभिवर्धित

(३) प्रमाण संवत्सरः—नक्षत्र आदि संवत्सर ही जब दिनों के परिमाण की प्रधानता से वर्णन किये जाते हैं तो वे ही प्रमाण संवत्सर कहलाते हैं।

प्रमाण संवत्सर के पाँच भेदः—

१—नक्षत्र २—चन्द्र ३—ऋतु ४—आदित्य

५—अभिवर्धित।

१—नक्षत्र प्रमाण संवत्सरः—नक्षत्र मास २७$\frac{२१}{६७}$ दिन का होता है। ऐसे बारह मास अर्थात् ३२७$\frac{५१}{६७}$ दिनों का एक नक्षत्र प्रमाण संवत्सर होता है।

२—चन्द्र प्रमाण संवत्सरः—कृष्ण प्रतिपदा से आरम्भ करके पूर्णमासी को समाप्त होने वाला २९$\frac{३२}{६२}$ दिन का मास चन्द्र मास कहलाता है। बारह चन्द्र मास अर्थात् ३५४$\frac{१२}{६२}$ दिनों का एक चन्द्र प्रमाण संवत्सर होता है।

३—ऋतु प्रमाण संवत्सरः—६० दिन की एक ऋतु प्रसिद्ध है। ऋतु के आधे हिस्से को ऋतु मास कहते हैं। सावन मास और कर्म मास ऋतु मास के ही पर्यायवाची हैं। ऋतु मास तीस दिन का होता है। बारह ऋतु मास अर्थात् ३६० दिनों का एक ऋतु

प्रमाण संवत्सर होता है।

४—आदित्य प्रमाण संवत्सरः—आदित्य (सूर्य) १८३ दिन दक्षिणायन और १८३ दिन उत्तरायण में रहता है। दक्षिणायन और उत्तरायण के ३६६ दिनों का वर्ष आदित्य संवत्सर कहलाता है।

अथवाः—

सूर्य के २८ नक्षत्र एवं बारह राशि के भोग का काल आदित्य संवत्सर कहलाता है। सूर्य ३६६ दिनों में उक्त नक्षत्र एवं राशियों का भोग करता है। आदित्य मास की औसत ३० $\frac{१}{२}$ दिन की है।

५—अभिवर्धित संवत्सरः—तेरह चन्द्र मास का संवत्सर, अभिवर्धित संवत्सर कहलाता है। चन्द्र संवत्सर में एक मास अधिक पड़ने से यह संवत्सर अभिवर्धित संवत्सर कहलाता है।

अथवाः—

३१ $\frac{१२१}{१२४}$ दिनों का एक अभिवर्धित मास होता है। बारह अभिवर्धित मास का एक अभिवर्धित संवत्सर होता है।

(४) लक्षण संवत्सरः—ये ही उपर्युक्त नक्षत्र, चन्द्र, ऋतु, आदित्य और अभिवर्धित संवत्सर लक्षणप्रधान होने पर लक्षण संवत्सर कहलाते हैं। उनके लक्षण निम्न प्रकार हैं।

नक्षत्र संवत्सरः—कुछ नक्षत्र स्वभाव से ही निश्चित तिथियों में हुआ करते हैं। जैसेः—कार्त्तिक पूर्णमासी में कृत्तिका और मार्गशीर्ष में मृगशिरा एवं पौषी पूर्णिमा में पुष्य आदि। जब ये नक्षत्र ठीक अपनी तिथियों में हों और ऋतु भी यथासमय प्रारम्भ हो, शीत और उष्ण की अधिकता न हो एवं पानी अधिक हो—इन लक्षणों वाला संवत्सर नक्षत्र संवत्सर कहलाता है।

चन्द्र संवत्सरः—जिस संवत्सर में पूर्णिमा की पूरी रात चन्द्र से प्रकाशमान रहे। नक्षत्र विषमचारी हों तथा जिसमें शीत, उष्ण और पानी की अधिकता हो—इन लक्षणों वाले संवत्सर को चन्द्र संवत्सर कहते हैं।

ऋतु संवत्सरः—जिस संवत्सर में असमय में वृक्ष अंकुरित हों, बिना ऋतु के वृक्षों में पुष्प और फल आवें तो वर्षा ठीक समय

पर न हो–इन लक्षणों वाले संवत्सर को ऋतु संवत्सर कहते हैं।

आदित्य संवत्सरः–जिस संवत्सर में सूर्य, पुष्प और फलों को पृथ्वी पानी के माधुर्य स्निग्धतादि रसों को देता है और इस लिये थोड़ी वर्षा होने पर भी खूब धान्य पैदा हो जाता है–इन लक्षणों वाला संवत्सर आदित्य संवत्सर कहलाता है।

अभिवर्धित संवत्सरः–जिस संवत्सर में क्षण, लव (४९उच्छ्वास प्रमाण) दिवस और ऋतुएं सूर्य के तेज से तप्त होकर व्यतीत होती हैं। यहाँ पर सूर्य के ताप से पृथ्वी आदि के तपने पर भी क्षण, लव, दिवस आदि में ताप का उपचार किया गया है तथा जिसमें वायु से उड़ी हुई धूलि से स्थल भर जाते हैं–इन लक्षणों से युक्त संवत्सर को अभिवर्धित संवत्सर कहते हैं।

(५) शनैश्चर संवत्सरः–जितने काल में शनैश्चर एक नक्षत्र को भोगता है, वह शनैश्चर संवत्सर है, नक्षत्र २८ हैं। इसलिये शनैश्चर संवत्सर भी नक्षत्रों के नाम से २८ प्रकार का है।

अथवाः–

अट्ठाईस नक्षत्रों के तीस वर्ष के परिमाण भोग–काल को नक्षत्र संवत्सर कहते हैं।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४६०)

(प्रवचन सारोद्धार, द्वार १४२, गाथा ६०१)

४०१-पाँच अशुभ भावनाः-

(१) कन्दर्प भावना
(२) किल्विषी भावना
(३) आभियोगी भावना
(४) आसुरी भावना
(५) सम्मोही भावना

(प्रवचन सारोद्धार, द्वार ७३) (उत्तराध्ययन, अध्ययन ३६)

४०२-कन्दर्प भावना के पाँच प्रकारः-

(१) कन्दर्प
(२) कौत्कुच्य
(३) दुःशीलता
(४) हास्योत्पादन
(५) परविस्मयोत्पादन

(१) कन्दर्पः–अट्टहास करना, हँसी–मजाक करना, स्वच्छन्द होकर गुरु आदि से ढिठाईपूर्वक कठोर या वक्र वचन कहना, काम कथा करना, काम का उपदेश देना, काम की प्रशंसा करना आदि

कन्दर्प हैं।

(२) कौत्कुच्यः—भांड की तरह चेष्टा करना कौत्कुच्य है। काया और वचन के भेद से कौत्कुच्य दो प्रकार का हैः—

काय कौत्कुच्य—स्वयं न हँसते हुए भौं, नेत्र, मुख, दांत, हाथ, पैर आदि से ऐसी चेष्टा करना, जिससे दूसरे हँसने लगें, यह काय कौत्कुच्य है।

वाक् कौत्कुच्यः—दूसरे प्राणियों की बोली की नकल करना, मुख से बाजा बजाना, तथा हास्यजनक वचन कहना वाक् कौत्कुच्य है।

(३) दुःशीलताः—दुष्ट स्वभाव का होना दुःशीलता है। संभ्रम और आवेशवश बिना विचारे जल्दी—जल्दी बोलना, मदमाते बैल की तरह जल्दी—जल्दी चलना, सभी कार्य बिना विचारे हड़बड़ी से करना इत्यादि हरकतों का दुःशीलता में समावेश होता है।

(४) हास्योत्पादनः—दूसरों के विरूप वेष और भाषा विषयक छिद्रों की गवेषणा करना और भाण्ड की तरह उसी प्रकार के विचित्र वेष बनाकर और वचन कह कर दर्शक और श्रोताओं को हँसाना तथा स्वयं हँसना हास्योत्पादन है।

(५) परविस्मयोत्पादनः—इन्द्रजाल वगैरह कुतूहल, पहेली तथा कुहेटिक, आभाणक (नाटक का एक प्रकार) आदि से दूसरों को विस्मित करना परविस्मयोत्पादन है।

झूठ—मूंठ ही आश्चर्य में डालने वाले मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र आदि का ज्ञान कुहेटिका विद्या कहलाती है।

४०३-किल्विषी भावना के पाँच प्रकारः-

(१) श्रुतज्ञान (२) केवली

(३) धर्माचार्य्य (४) संघ

(५) साधु

उपर्युक्त पाँचों का अवर्णवाद बोलना, उनमें अविद्यमान दोष बतलाना आदि ये किल्विषी भावना के पाँच प्रकार हैं।

इसी के साथ मायावी होना भी किल्विषी भावना में गिनाया गया है। कहीं—कहीं 'संघ और साधु' के बदले सर्व साधु का अवर्णवाद करना कह कर पाँचवाँ प्रकार मायावी होना बतलाया गया है।

मायावीः–लोगों को रिझाने के लिये कपट करने वाला, महापुरुषों के प्रति स्वभाव से कठोर, बात–बात में नाराज और खुश होने वाला, गृहस्थों की चापलूसी करने वाला, अपनी शक्ति का गोपन करने वाला, दूसरों के विद्यमान गुणों को ढांकने वाला पुरुष मायावी कहलाता है। वह चोर की तरह सदा सर्वकार्यों में शंकाशील रहता है और कपटाचारी होता है।

४०४-आभियोगी भावना के पाँच प्रकारः-

(१) कौतुक (२) भूतिकर्म
(३) प्रश्न (४) प्रश्नाप्रश्न
(५) निमित्त

(१) कौतुकः–बालक आदि की रक्षा के निमित्त स्नान कराना, हाथ घुमाना, मन्त्र करना, थुत्कारना, धूप देना आदि जो किया जाता है वह कौतुक है।

(२) भूतिकर्मः–वसति, शरीर और भाण्ड (पात्र) की रक्षा के लिये राख, मिट्टी या सूत से उन्हें परिवेष्टित करना भूतिकर्म है।

(३) प्रश्नः–दूसरे से लाभ, अलाभ आदि पूछना प्रश्न है। अथवा अंगूठी, खड्ग, दर्पण, पानी आदि में स्वयं देखना प्रश्न है।

(४) प्रश्नाप्रश्नः–स्वप्न में आराधी हुई विद्या में अथवा घटिकादि में आई हुई देवी से कही हुई बात दूसरों से कहना प्रश्नाप्रश्न है।

(५) निमित्तः–अतीत, अनागत एवं वर्तमान का ज्ञान विशेष निमित्त है।

इन कौतुकादि को अपने गौरव आदि के लिये करने वाला साधु आभियोगी भावना वाला है। परन्तु गौरवरहित अतिशय ज्ञानी साधु निस्पृह भाव से तीर्थोन्नति आदि के निमित्त अपवाद रूप में इनका प्रयोग करे तो वह आराधक है और तीर्थ की उन्नति करने से उच्च गोत्र बांधता है।

४०५-आसुरी भावना के पाँच भेदः-

(१) सदा विग्रहशीलता (२) संसक्त तप
(३) निमित्तकथन (४) निष्कृपता
(५) निरनुकम्पता

(१) सदा विग्रहशीलताः—हमेशा लड़ाई—झगड़ा करते रहना, करने के बाद पश्चाताप न करना, दूसरे के खमाने पर भी प्रसन्न न होना और सदा विरोधभाव रखना, सदा विग्रहशीलता है।

(२) संसक्त तपः—आहार, उपकरण, शय्या आदि में आसक्त साधु का आहार आदि के लिये अनशनादि तप करना संसक्त तप है।

(३) निमित्तकथनः—अभिमानादिवश लाभ—अलाभ, सुख—दुःख, जीवन—मरण विषयक तीन काल सम्बन्धी निमित्त कहना निमित्त—कथन है।

(४) निष्कृपताः—स्थावरादि सत्त्वों को अजीव मानने से तद्विषयक दयाभाव की उपेक्षा करके या दूसरे कार्य में उपयोग रख कर आसन, शयन, गमन आदि क्रिया करना तथा किसी के कहने पर अनुताप भी न करना निष्कृपता है।

(५) निरनुकम्पताः—कृपापात्र दुःखी प्राणी को देख कर भी क्रूर परिणामजन्य कठोरता धारण करना और सामने वाले के दुःख का अनुभव न करना निरनुकम्पता है।

४०६-सम्मोही भावना के पाँच प्रकारः-

(१) उन्मार्ग देशना (२) मार्ग दूषण
(३) मार्ग विप्रतिपत्ति (४) मोह
(५) मोहजनन

(१) उन्मार्ग देशनाः—ज्ञानादि धर्ममार्ग पर दोष न लगाते हुए स्व—पर के अहित के लिये सूत्र विपरीत मार्ग कहना उन्मार्ग देशना है।

(२) मार्ग दूषणः—पारमार्थिक ज्ञान, दर्शन और चारित्र रूप सत्य—धर्ममार्ग और उसके पालने वाले साधुओं में स्वकल्पित दूषण बतलाना मार्ग दूषण है।

(३) मार्ग विप्रतिपत्तिः—ज्ञानादि रूप धर्ममार्ग पर दूषण लगा कर देश से सूत्रविरूद्ध मार्ग को अंगीकार करना मार्ग विप्रतिपत्ति है।

(४) मोहः—मन्दबुद्धि पुरुष का अतिगहन ज्ञानादि विचारों में मोह प्राप्त करना तथा अन्य तीर्थियों की विविध ऋद्धि देख कर ललचा जाना मोह है।

(५) मोहजनन:—सद्भाव अथवा कपट से अन्य दर्शनों में दूसरों को मोह प्राप्त कराना मोहजनन है। ऐसा करने वाले प्राणी को बोध बीजरूपी समकित की प्राप्ति नहीं होती।

ये पच्चीस भावनाएं चारित्र में विघ्नरूप हैं। इनके निरोध से सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होती है।

(बोल नम्बर ४०१ से ४०६ तक के लिये प्रमाण)

(प्रवचन सारोद्धार, द्वार ७३)

(उत्तराध्ययन, अध्ययन ३६, गाथा २६१ से २६४)

४०७-सांसारिक निधि के पाँच भेद:-

विशिष्ट रत्न सुवर्णादि द्रव्य जिसमें रखे जाँय ऐसे पात्रादि को निधि कहते हैं। निधि की तरह जो आनन्द और सुख के साधन रूप हों उन्हें भी निधि ही समझना चाहिए।

निधि पाँच हैं:--

(१) पुत्र निधि
(२) मित्र निधि
(३) शिल्प निधि
(४) धन निधि
(५) धान्य निधि

(१) पुत्र निधि:—पुत्र स्वभाव से ही माता—पिता के आनन्द और सुख का कारण है तथा द्रव्य का उपार्जन करने से निर्वाह का भी हेतु है। अतः वह निधिरूप है।

(२) मित्र निधि:—मित्र, अर्थ और काम का साधक होने से आनन्द का हेतु है। इसलिये वह भी निधिरूप कहा गया है।

(३) शिल्प निधि:—शिल्प का अर्थ है चित्रादि ज्ञान। यहाँ शिल्प का आशय सब विद्याओं से है। वे पुरुषार्थ चतुष्टय की साधक होने से आनन्द और सुखरूप हैं। इसलिये शिल्प—विद्या निधि कही गई है।

(४) धन निधि और (५) धान्य निधि वास्तविक निधिरूप हैं ही।

निधि के ये पाँचों प्रकार द्रव्य निधिरूप हैं और कुशल अनुष्ठान का सेवन भावनिधि है।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४४८)

४०८-पाँच धाय (धात्री):-

बच्चों का पालन--पोषण करने के लिये रखी जाने वाली स्त्री

धाय या धात्री कहलाती हैं।

धाय के पॉच भेदः–

(१) क्षीर धाय (२) मज्जन धाय
(३) मण्डन धाय (४) क्रीड़न धाय
(५) अंक धाय

(१) क्षीर धायः–बच्चों को स्तन–पान कराने वाली धाय क्षीर धाय कहलाती है।

(२) मज्जन धायः–बच्चों को स्नान कराने वाली धाय मज्जन धाय कहलाती है।

(३) मण्डन धायः–बच्चों को अलंकारादि पहनाने वाली धाय मण्डन धाय कहलाती है।

(४) क्रीड़न धायः–बच्चों को खिलाने वाली धाय क्रीड़न धाय कहलाती है।

(५) अंक धायः–बच्चों को गोद में बिठाने या सुलाने वाली धाय अंक धाय कहलाती है।

(आचारांग श्रुतस्कंध २, भावना अध्ययन १५)

(भगवती शतक ११, उद्देशा ११)

४०६-तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय के पाँच भेदः-

(१) जलचर (२) स्थलचर
(३) खेचर (४) उरपरिसर्प
(५) भुजपरिसर्प

(१) जलचरः–पानी में चलने वाले जीव जलचर कहलाते हैं। जैसेः–मच्छ वगैरह। मच्छ, कच्छप, मगर, ग्राह और सुंसुमार–ये जलचर के पाँच भेद हैं।

(२) स्थलचरः–पृथ्वी पर चलने वाले जीव स्थलचर कहलाते हैं। जैसेः–गाय, घोड़ा आदि।

(३) खेचरः–आकाश में उड़ने वाले जीव खेचर कहलाते हैं। जैसेः–चील, कबूतर वगैरह।

(४) उरपरिसर्पः–उर अर्थात् छाती से चलने वाले जीव उरपरिसर्प कहलाते हैं। जैसेः–साँप वगैरह।

(५) भुजपरिसर्पः–भुजाओं से चलने वाले जीव भुजपरिसर्प कहलाते हैं। जैसेः–नोलिया, चूहा वगैरह।

पन्नवणा सूत्र एवं उत्तराध्ययन सूत्र में तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय के जलचर, स्थलचर और खेचर ये तीन भेद बतलाये गये हैं और स्थलचर के भेदों में उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प गिनाये हुए हैं।

(पन्नवणा पद १) (उत्तराध्ययन, अध्ययन ३६)

४१०-मच्छ के पाँच प्रकारः-

(१) अनुस्रोतचारी (२) प्रतिस्रोतचारी
(३) अन्तचारी (४) मध्यचारी
(५) सर्वचारी

(१) पानी के प्रवाह के अनुकूल चलने वाला मच्छ अनुस्रोतचारी है।

(२) पानी के प्रवाह के प्रतिकूल चलने वाला मच्छ प्रतिस्रोत–चारी है।

(३) पानी के पार्श्व अथवा पसवाड़े चलने वाला मच्छ अन्तचारी है।

(४) पानी के बीच में चलने वाला मच्छ मध्यचारी है।

(५) पानी में सब प्रकार से चलने वाला मच्छ सर्वचारी है।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४५४)

४११-मच्छ की उपमा से भिक्षा लेने वाले भिक्षुक के पाँच प्रकार हैं:-

(१) अनुस्रोतचारी (२) प्रतिस्रोतचारी
(३) अन्तचारी (४) मध्यचारी
(५) सर्वस्रोतचारी

(१) अभिग्रह विशेष से उपाश्रय के समीप से प्रारम्भ करके क्रम से भिक्षा लेने वाला साधु अनुस्रोतचारी भिक्षु है।

(२) अभिग्रह विशेष से उपाश्रय से बहुत दूर जाकर लौटते हुए भिक्षा लेने वाला साधु प्रतिस्रोतचारी है।

(३) क्षेत्र के पार्श्व में अर्थात् अन्त में भिक्षा लेने वाला साधु अन्तचारी है।

(४) क्षेत्र के बीच–बीच के घरों से भिक्षा लेने वाला साधु मध्यचारी है।

(५) सर्व प्रकार से भिक्षा लेने वाला साधु सर्वस्रोतचारी है।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४५४)

४१२-पाँच स्थावर कायः-

पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और वनस्पति के जीव स्थावर नाम कर्म का उदय होने से स्थावर कहलाते हैं। उनकी काय अर्थात् राशि को स्थावर काय कहते हैं।

स्थावर काय पांच हैं:-

(१) इन्द्र स्थावर काय (२) ब्रह्म स्थावर काय
(३) शिल्प स्थावर काय (४) सम्मति स्थावर काय
(५) प्राजापत्य स्थावर काय

(१) इन्द्र स्थावर कायः-पृथ्वी काय का स्वामी इन्द्र है। इस लिए इसे इन्द्र स्थावर काय कहते हैं।

(२) ब्रह्म स्थावर कायः-अप्काय का स्वामी ब्रह्म है। इसलिये इसे ब्रह्म स्थावर काय कहते हैं।

(३) शिल्प स्थावर कायः-तेजस्काय का स्वामी शिल्प है। इस लिये यह शिल्प स्थावर काय कहलाती है।

(४) सम्मति स्थावर कायः-वायु का स्वामी सम्मति है। इसलिये यह सम्मति स्थावर काय कहलाती है।

(५) प्राजापत्य स्थावर कायः-वनस्पति काय का स्वामी प्रजापति है। इसलिये इसे प्राजापत्य स्थावर काय कहते हैं।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ३९३)

४१३-पाँच प्रकार की अचित्त वायुः-

(१) आक्रान्त (२) ध्मात
(३) पीड़ित (४) शरीरानुगत
(५) सम्मूर्छिम

(१) आक्रान्तः-पैर आदि से जमीन वगैरह के दबने पर जो वायु उठती है वह आक्रान्त वायु है।

(२) ध्मातः-धमणी आदि के धमने से पैदा हुई वायु ध्मात वायु है।

(३) पीड़ितः-गीले वस्त्र के निचोड़ने से निकलने वाली वायु पीड़ित वायु है।

(४) शरीरानुगतः-डकार आदि लेते हुए निकलने वाली वायु शरीरानुगत वायु है।

(५) सम्मूर्छिमः-पंखे आदि से पैदा होने वाली वायु सम्मूर्छिम

वायु है।

ये पाँचों प्रकार की अचित्त वायु पहले अचेतन होती है और बाद में सचेतन भी हो जाती है।

(ठाणाग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४४४)

४१४-पाँच वर्णः-

(१) काला (२) नीला
(३) लाल (४) पीला
(५) सफेद

ये ही पाँच मूल वर्ण हैं। इनके सिवाय लोकप्रसिद्ध अन्य वर्ण इन्हीं के संयोग से पैदा होते हैं।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ३६०)

४१५-पाँच रसः-

(१) तीखा (२) कडुवा
(३) कषैला (४) खट्टा
(५) मीठा

इनके अतिरिक्त दूसरे रस इन्हीं के संयोग से पैदा होते हैं। इसलिये यहाँ पाँच मूल रस ही गिनाये गये हैं।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ३६०)

४१६-पाँच प्रतिघातः-

प्रतिबन्ध या रुकावट को प्रतिघात कहते हैं।

(१) गति प्रतिघात (२) स्थिति प्रतिघात
(३) बन्धन प्रतिघात (४) भोग प्रतिघात
(५) बल, वीर्य पुरुषाकार पराक्रम प्रतिघात

(१) गति प्रतिघातः—शुभ देवगति आदि पाने की योग्यता होते हुए भी विरूप (विपरीत) कर्म करने से उसकी प्राप्ति न होना गति प्रतिघात है। जैसे—दीक्षा पालने से कुण्डरीक को शुभ गति पाना था लेकिन नरक गति की प्राप्ति हुई और इस प्रकार उसके देवगति का प्रतिघात हो गया।

(२) स्थिति प्रतिघातः—शुभ स्थिति बान्ध कर अध्यवसाय विशेष से उसका प्रतिघात कर देना अर्थात् लम्बी स्थिति को छोटी स्थिति में परिणत कर देना स्थिति प्रतिघात है।

(३) बन्धन प्रतिघातः—बन्धन नामकर्म का भेद है। इसके

औदारिक बन्धन आदि पाँच भेद हैं। प्रशस्त बन्धन की प्राप्ति की योग्यता होने पर भी प्रतिकूल कर्म करके उसकी घात कर देना और अप्रशस्त बन्धन पाना बन्धन प्रतिघात है। बन्धन प्रतिघात से इसके सहचारी प्रशस्त शरीर, अंगोपांग, संहनन, संस्थान आदि का प्रतिघात भी समझ लेना चाहिये।

(४) भोग प्रतिघातः—प्रशस्त गति, स्थिति, बन्धन आदि का प्रतिघात होने पर उनसे सम्बद्ध भोगों की प्राप्ति में रुकावट होना भोग प्रतिघात है। क्योंकि कारण के न होने पर कार्य्य कैसे हो सकता है?

(५) बल वीर्य्य पुरुषाकार पराक्रम प्रतिघातः—गति, स्थिति आदि के प्रतिघात होने पर भोग की तरह प्रशस्त बल वीर्य्य पुरुषाकार पराक्रम की प्राप्ति में रुकावट पड़ जाती है। यही बल वीर्य्य पुरुषाकार पराक्रम प्रतिघात है।

शारीरिक शक्ति को बल कहते हैं। जीव की शक्ति को वीर्य्य कहते हैं। पुरुष कर्त्तव्य या पुरुषाभिमान को पुरुषकार (पुरुषाकार) कहते हैं। बल और वीर्य्य का प्रयोग करना पराक्रम है।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ४०६)

४१७-पाँच अनन्तकः-

(१) नाम अनन्तक (२) स्थापना अनन्तक
(३) द्रव्य अनन्तक (४) गणना अनन्तक
(५) प्रदेश अनन्तक

(१) नाम अनन्तकः—सचित्त, अचित्त, आदि वस्तु का 'अनन्तक' इस प्रकार जो नाम दिया जाता है वह नाम अनन्तक है।

(२) स्थापना अनन्तकः—किसी वस्तु में अनन्तक की स्थापना करना स्थापना अनन्तक है।

(३) द्रव्य अनन्तकः—गिनती योग्य जीव या पुद्गल द्रव्यों का अनन्तक द्रव्य अनन्तक है।

(४) गणना अनन्तकः—गणना की अपेक्षा जो अनन्तक संख्या है वह गणना अनन्तक है।

(५) प्रदेश अनन्तकः—आकाश प्रदेशों की जो अनन्तता है। वह प्रदेश अनन्तक है।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४६२)

४१८-पाँच अनन्तकः-

(१) एकतः अनन्तक (२) द्विधा अनन्तक

(३) देश विस्तार अनन्तक (४) सर्व विस्तार अनन्तक

(५) शाश्वत अनन्तक

(१) एकतः अनन्तकः—एक अंश से अर्थात् लम्बाई की अपेक्षा जो अनन्तक है वह एकतः अनन्तक है। जैसेः— एक श्रेणी वाला क्षेत्र।

(२) द्विधा अनन्तकः—दो प्रकार से अर्थात् लम्बाई और चौड़ाई की अपेक्षा जो अनन्तक है। वह द्विधा अनन्तक कहलाता है। जैसेः—प्रतर क्षेत्र।

(३) देश विस्तार अनन्तकः—रुचक प्रदेशों की अपेक्षा पूर्व पश्चिम आदि दिशारूप जो क्षेत्र का एक देश है और उसका जो विस्तार है उसके प्रदेशों की अपेक्षा जो अनन्तता है, वह देश विस्तार अनन्तक है।

(४) सर्व विस्तार अनन्तकः—सारे आकाश क्षेत्र का जो विस्तार है उसके प्रदेशों की अनन्तता सर्व विस्तार अनन्तक है।

(५) शाश्वत अनन्तकः— अनादि अनन्त स्थिति वाले जीवादि द्रव्य शाश्वत अनन्तक कहलाते हैं।

(ठाणांग ५, उद्देशा ३, सूत्र ४६२)

४१६-पाँच निद्राः-

दर्शनावरणीय कर्म के नव भेद हैंः—

चार दर्शन और पाँच निद्रा।

दर्शन के चार भेदः—

(१) चक्षु दर्शन (२) अचक्षु दर्शन

(३) अवधि दर्शन (४) केवल दर्शन

नोटः—चक्षु दर्शन आदि का स्वरूप, बोल नम्बर १६६ वें में दिया जा चुका है।

निद्रा के पाँच भेद ये हैंः—

(१) निद्रा (२) निद्रा—निद्रा

(३) प्रचला (४) प्रचला—प्रचला

(५) स्त्यानगृद्धि।

(१) निद्राः–जिस निद्रा में सोने वाला सुखपूर्वक धीमी--धीमी आवाज से जग जाता है वह निद्रा है।

(२) निद्रा–निद्राः–जिस निद्रा में सोने वाला जीव बड़ी मुश्किल से जोर–जोर से चिल्लाने व हाथ से हिलाने पर जगता है। वह निद्रा–निद्रा है।

(३) प्रचलाः–खड़े हुए या बैठे हुए व्यक्ति को जो नींद आती है वह प्रचला है।

(४) प्रचला–प्रचलाः–चलते–चलते जो नींद आती है वह प्रचला–प्रचला है।

(५) स्त्यानगृद्धिः–जिस निद्रा में जीव दिन अथवा रात में सोचा हुआ काम निद्रितावस्था में कर डालता है वह स्त्यानगृद्धि है।

वज्र ऋषभ नाराच संहनन वाले जीव को जब स्त्यानगृद्धि निद्रा आती है तब उसमें वासुदेव का आधा बल आ जाता है। ऐसी निद्रा में मरने वाला जीव, यदि आयु न बाँध चुका हो तो, नरक गति में जाता है।

(कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग) (पन्नवणा, पद २३)

४२०-निद्रा से जागने के पाँच कारणः-

(१) शब्द (२) स्पर्श

(३) क्षुधा (४) निद्रा क्षय

(५) स्वप्न दर्शन।

इन पाँच कारणों से सोये हुए जीव की निद्रा भंग हो जाती है और वह शीघ्र जग जाता है।

(ठाणांग ५, उद्देशा २, सूत्र ४३६)

४२१-स्वप्न दर्शन के पाँच भेदः-

(१) याथातथ्य स्वप्न दर्शन (२) प्रतान स्वप्न दर्शन

(३) चिन्ता स्वप्न दर्शन (४) विपरीत स्वप्न दर्शन

(५) अव्यक्त स्वप्न दर्शन

(१) याथातथ्य स्वप्न दर्शनः–स्वप्न में जिस वस्तु स्वरूप का दर्शन हुआ है, जगने पर उसी को देखना या उसके अनुरूप शुभाशुभ फल की प्राप्ति होना याथातथ्य स्वप्न दर्शन है।

(२) प्रतान स्वप्न दर्शनः–प्रतान का अर्थ है विस्तार। विस्तार वाला स्वप्न देखना प्रतान स्वप्न दर्शन है। वह यथार्थ और अयथार्थ

भी हो सकता है।

(३) चिन्ता स्वप्न दर्शनः—जागृत अवस्था में जिस वस्तु की चिन्ता रही हो उसी का स्वप्न में देखना चिन्ता स्वप्न दर्शन है।

(४) विपरीत स्वप्न दर्शनः—स्वप्न में जो वस्तु देखी है, जगने पर उससे विपरीत वस्तु की प्राप्ति होना विपरीत स्वप्न दर्शन है।

(५) अव्यक्त स्वप्न दर्शनः—स्वप्न विषयक वस्तु का अस्पष्ट ज्ञान होना अव्यक्त स्वप्न दर्शन है।

(भगवती शतक १६, उद्देशा ६)

४२२-पाँच देवः-

जो क्रीड़ादि धर्म वाले हैं अथवा जिनकी आराध्य रूप से स्तुति की जाती है वे देव कहलाते हैं।

देव पाँच हैं:—

(१) भव्य द्रव्य देव (२) नर देव
(३) धर्म देव (४) देवाधिदेव
(५) भाव देव

(१) भव्य द्रव्य देवः—आगामी भव में देव होकर उत्पन्न होने वाले तिर्यञ्च पञ्चेन्द्रिय एवं मनुष्य भव्य द्रव्य देव कहलाते हैं।

(२) नर देवः—समस्त रत्नों में प्रधान चक्र रत्न तथा नवनिधि के स्वामी, समृद्ध कोश वाले, बत्तीस हजार नरेशों से अनुगत, पूर्व—पश्चिम एवं दक्षिण में समुद्र तथा उत्तर में हिमवान पर्वत पर्यन्त छः खंड पृथ्वी के स्वामी मनुष्येन्द्र चक्रवर्ती नर देव कहलाते हैं।

(३) धर्म देवः—श्रुत चारित्र रूप प्रधान धर्म के आराधक, ईर्या आदि समिति समन्वित यावत् गुप्त ब्रह्मचारी अनगार धर्म देव कहलाते हैं।

(४) देवाधि देवः—देवों से भी बढ़कर अतिशय वाले, अतएव उन से भी आराध्य, केवलज्ञान एवं केवलदर्शन के धारक अरिहन्त भगवान् देवाधिदेव कहलाते हैं।

(५) भाव देवः—देवगति, नाम, गोत्र, आयु आदि कर्म के उदय से देव भव को धारण किए हुए भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष और वैमानिक देव भाव देव कहलाते हैं।

(ठाणांग ५, उद्देशा १, सूत्र ४०१) (भगवती शतक १२, उद्देशा ६)

४२३-शिक्षाप्राप्ति में बाधक पाँच कारणः-

(१) अभिमान (२) क्रोध
(३) प्रमाद (४) रोग
(५) आलस्य

ये पाँच बातें जिस प्राणी में हों वह शिक्षा प्राप्त नहीं कर सकता। शिक्षा प्राप्त करने के इच्छुक प्राणी को उपर्युक्त पांच बातों का त्याग कर शिक्षाप्राप्ति में उद्यम करना चाहिए। शिक्षा ही इहलौकिक और पारलौकिक सर्व सुखों का कारण है।

(उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन ११, गाथा ३)



अन्तिम मंगलाचरण

शिवमस्तु सर्वजगतः, परहितनिरताः भवन्तु भूतगणाः।
दोषाः प्रयान्तु नाशं, सर्वत्र सुखी भवतु लोकः।।

भावार्थः—अखिल विश्व का कल्याण हो, जगत के प्राणी परोपकार में लीन रहें, दोष नष्ट हों और सब जगह लोग सदा सुखी रहें।

प्रमाण के लिए उद्धृत ग्रन्थों की सूची

ग्रन्थ-नाम	कर्त्ता	प्रकाशक एवं प्राप्ति-स्थान
अनुयोग द्वार सूत्र	मलधारी हेमचन्द्र सूरि	आगमोदय समिति, सूरत
आगमसार	देवचन्दजी	आगमोदय समिति, सूरत
आचाराङ्ग सूत्र	टीकाकार—शीलाङ्काचार्य	आगमोदय समिति, सूरत
आतुरप्रत्याख्यान पइण्णा	टीकाकार—शीलाङ्काचार्य	आगमोदय समिति, सूरत
आवश्यक	मलयगिरि	आगमोदय समिति, सूरत
उत्तराध्ययन सूत्र	टीकाकार—श्री शान्त्याचार्य	आगमोदय समिति, सूरत
उपासक दशाङ्ग सूत्र	टीकाकार—अभयदेव सूरि	आगमोदय समिति, सूरत
औपपातिक सूत्र	टीकाकार—अभयदेव सूरि	आगमोदय समिति, सूरत
कर्त्तव्य कौमुदी दूसरा भाग	श. रत्नचन्द्रजी म.	भैरोंदानजी जेठमलजी सेठिया, बीकानेर
कर्मग्रन्थ भाग १—२	व्याख्याकार—पं. सुखलालजी	आत्मानन्द जैन पुस्तक प्रचारक मंडल, आगरा
कर्मप्रकृति (कम्मपयडि)	शिवशर्माचार्य	जैन धर्मप्रसारक सभा, भावनगर
कारण संवाद	श. रत्नचन्द्रजी म.	हीरालाल सुगनचन्द जैन, अजमेर
चतुर्भावना पाठमाला	श. रत्नचन्द्रजी म.	रतनलाल अर्हद्दास जैन, सोनीपत
जीवाजीवाभिगम सूत्र	टीका—मलयगिरि	आगमोदय समिति
ज्ञाताधर्मकथाङ्ग सूत्र	टीका—अभयदेव सूरि	आगमोदय समिति

ग्रन्थ-नाम	कर्त्ता	प्रकाशक एवं प्राप्ति-स्थान
ज्ञानार्णव	शुभचन्द्राचार्य	परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई
तत्वार्थाधिगम भाष्य	श्री उमास्वाति	मोतीलाल लाधाजी, पूना
तन्दुल वयाली पइण्णा		
दशवैकालिक निर्युक्ति	भद्रबाहुस्वामी	आगमोदय समिति
दशाश्रुतस्कन्ध	अनुवादक उपा. श्री आत्मारामजी म.	जैन शास्त्रमाला, लाहोर
द्रव्यलोक प्रकाश	विनय विजयजी महाराज	हीरालाल हंसराज, जामनगर
द्रव्यानुयोग तर्कणा	मुनि भोजसागरजी	परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई
धर्मरत्न प्रकरण	श्री शान्ति सूरि	आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर
धर्मसंग्रह	उपाध्याय मानविजयजी	आगमोदय समिति
नन्दी सूत्र	देववाचक क्षमाश्रमण	आगमोदय समिति
निशीथ चूर्णि		
न्यायकोष	महामहोपाध्याय भीमाचार्य	गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो, बम्बई
न्यायदीपिका	श्री धर्मभूषण यति	जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई
न्यायप्रदीप	दरबारीलालजी न्यायतीर्थ	जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई
पिण्डनिर्युक्ति	भद्रबाहुस्वामी	आगमोदय समिति
पंचनिर्ग्रन्थीप्रकरण		

ग्रन्थ-नाम	कर्त्ता	प्रकाशक एवं प्राप्ति-स्थान
पंचाशक	श्री हरिभद्रसूरि	जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर
प्रज्ञापना सूत्र	मलयगिरि टीका	आगमोदय समिति
प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार	वाहिदेव सूरि	हर्षचन्द्र भूराभाई, बनारस
प्रवचनसारोद्धार	श्री नेमिचन्द्रसूरि	आगमोदय समिति
प्रश्न व्याकरण सूत्र	अभयदेव सूरि	आगमोदय समिति
भगवती सूत्र	अभयदेव सूरि	आगमोदय समिति
भावना शतक	शतावधानी रत्नचन्द्रजी म.	वन्द्रावनदास दयाल, बम्बई
योग शास्त्र	हेमचन्द्राचार्य	जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर
रत्नाकरावतारिका	रत्नप्रभसूरि	हर्षचन्द्र भूराभाई, बनारस
रायप्रश्नीय सूत्र	मलयगिरि टीका	आगमोदय समिति
विपाक सूत्र	अभयदेव सूरि	आगमोदय समिति
विशेषावश्यक भाष्य	जिनभद्र गणि क्षमा श्रमण	हर्षचन्द्र भूराभाई, बनारस
बृहत्कल्प सूत्र		
व्यवहार सूत्र	अनुवादक—अमोलख ऋषिजी म.	राजाबहादुर लाला सुखदेवसहाय ज्वालाप्रसाद, हैदराबाद
श्रावक प्रज्ञप्ति	वाचक मुख्य उमास्वाति	ज्ञान प्रसारक मण्डल, बम्बई

ग्रन्थ-नाम	कर्त्ता	प्रकाशक एवं प्राप्ति-स्थान
सम्मति तर्क	सिद्धसेन दिवाकर	गुजरात पुरातत्त्व मंदिर, अहमदाबाद
समवायाङ्ग सूत्र	अभयदेव सूरि	आगमोदय समिति
सरलपिङ्गल	पुत्तनलाल विद्यार्थी	हिन्दी सा. सम्मेलन, प्रयाग
सूत्रकृताङ्ग सूत्र	श्री शीलाङ्काचार्य	आगमोदय समिति
स्थानाङ्ग (ठाणांग) सूत्र	अभयदेव सूरि	आगमोदय समिति
स्याद्वादमञ्जरी	मल्लिषेण सूरि	मोतीलाल लाधाजी, पूना

पाठकों के लिए

(विशेष संदर्भ नोट करने हेतु)

पाठकों के लिए

(विशेष संदर्भ नोट करने हेतु)

श्री सेठिया जैन ग्रन्थमाला के प्रकाशनों की सूची

सम्यक्त्व के 67 बोल	1.20
भगवती सूत्र के थोकड़ों का भाग 1	7.00
भगवती सूत्र के थोकड़ों का भाग 2	10.00
भगवती सूत्र के थोकड़ों का भाग 3--4	18.75
भगवती सूत्र के थोकड़ों का भाग 5-6	19.00
भगवती सूत्र के थोकड़ों का भाग 7	8.00
भगवती सूत्र के थोकड़ों का भाग 8-9	16.50
पच्चीस बोल का थोकड़ा	2.00
कर्म प्रकृति	1.20
सामायिक सूत्र मूल	1.90
सामायिक सूत्र सार्थ	1.85
प्रतिक्रमण सूत्र सार्थ	7.00
आनुपूर्वी	1.20
आर्हत प्रवचन	8.30
श्रावक के 12 व्रत विस्तार (रियायती मूल्य)	3.00
नव तत्त्व (विस्तार सहित) (रियायती मूल्य)	5.00
भक्तामर स्तोत्र (अर्द्ध मूल्य)	2.00
(संस्कृत हिन्दी व अंग्रेजी तीनों भाषाओं में)	
मंगल साधना (स्वाध्यायियों के लिए) (अर्द्धमूल्य)	4.00
पांच समिति तीन गुप्ति का थोकड़ा	
एवं पच्चीस क्रियाएं (अर्द्धमूल्य)	2.00
श्री वृहदालोयणा	3.30
सामायिक प्रतिक्रमण सूत्र मूल	3.25
पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग 1	11.90
पन्नवणा सूत्र के थोकड़े भाग 2	10.65
पन्नवणा सूत्र के थोकडे भाग 3	10.65
श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग 1	60.00
श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग 2	60.00
श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग 3	75.00
श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग 4	75.00
पच्चीस बोल (अर्थ सहित)	12.00
शिक्षा सार संग्रह	5.00

शीघ्र प्रकाशित होने वाले ग्रंथ

श्री जैन सिद्धान्त बोल संग्रह भाग 5